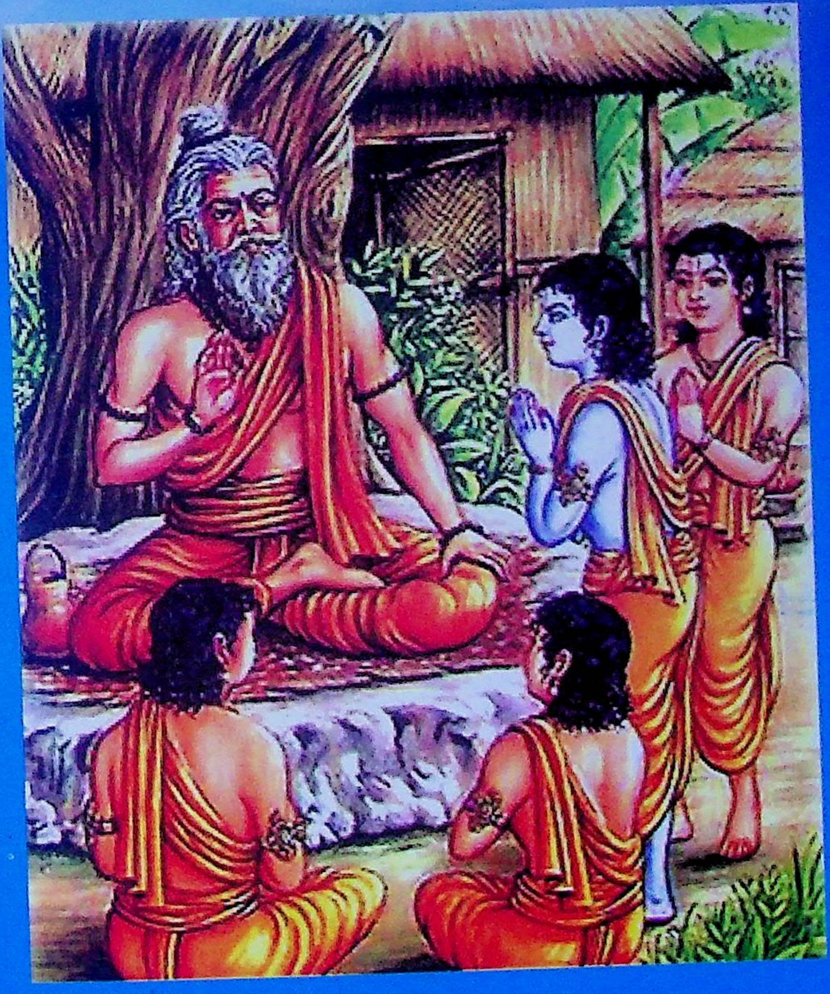
मौलिक शिक्षा सिद्धान्त



डॉ० पीयूष बाला

।। श्री।।

संस्कृत शोध संस्थान, ग्रन्थमाला 03

मौलिक शिक्षा सिद्धान्त

डॉ. पीयूष बाला

संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू

मौलिक शिक्षा सिद्धान्त

प्रकाणक: संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू
मुद्रक : शिवा प्रिंटर्स, पलोड़ा, जम्मू
संस्करण: प्रथम, विक्रम सम्वत् २०६६, सन् २०१०
प्रतियाँ : ५००

ISBN : 978-81-928321-0-4

मूल्य : 285/-

संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू
जम्मू-काश्मीर संस्कृत परिषद्, जम्मू
द्वारा संचालित
मुख्य कार्यालय: ४२/ ११ बरनाई रोड बनतलाव, जम्मू-१८११२३
सम्पर्क सूत्र : ०६४१६१४७०७३, ०६४६६५०३८७६
E-mail : ssshodh@gmail.com, jksanskritparishad@gmail.com

।। श्री।।

संस्कृत शोध संस्थान, ग्रन्थमाला ०३

मौलिक शिक्षा सिद्धान्त

लेखिका

डॉ. पीयूष बाला

संस्कृत शोध संस्थान, जम्मू

जम्मू-काश्मीर संस्कृत परिषद्, जम्मू

द्वारा संचालित

मुख्य कार्यालयः ४२/ ११ बरनाई रोड बनतलाव, जम्मू-१८११२३

सम्पर्क सूत्र : ०६४१६१४७०७३, ०६४६६५०३८७६

E-mail : ssshodh@gmail.com, jksanskritparishad@gmail.com

विषयानुक्रमणिका

संकेत सूची

अ० को	अमरकोश
अ० पु०	अग्निपुराण
अ० शा०	अर्थशास्त्र
अभि० शा०	अभिज्ञानशाकुन्तलम्
अ० स्म०	अत्रि स्मृति
अ० वे०	अथर्ववेद
अथर्व०उ०	अर्थर्वशिरोपनिषद्
अष्टा० स्मृ०	अष्टादश स्मृति
आ० भा० शि० स०	आधुनिक भारतीय शिक्षा और समस्याएं
आ० ध० सू०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आ० वै० इ०	आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास
आरू० उ०	आरूण्योपनिषत्
आ० गृ० सू०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
इण्डि० ऐन्टि०	इण्डियन ऐन्टिक्विटी
ई० उ०	ईशावास्योपनिषत्
उ० रा० च०	उत्तररामचरितम्
उ० सं०	उपनिषदों का संदेश
उप० तत्व०	उपनिषदों का तत्त्वज्ञान
ऋ० वे०	ऋग्वेद
ऋ० प्रा०	ऋग्वेद प्रतिशाख्य
ऐ० उ०	ऐतरेयोपनिषद्
ऐ० आ०	ऐतरेय आण्यक
ऐ० ए० ऐं० इं०	ऐजूकेशन एन ऐंसियन्ट इंडिया
कठो० उ०	कठोपनिषद्
क० शि०	कल्याण शिक्षाङ्क
का० स्मृ०	कात्यायन स्मृति
का० सू०	कामसूत्र
कु० स०	कुमारसम्भवम्
कुंडि० उ०	कुण्डिकोपनिषद्

संकेत सूची

के॰ उ॰	केनापनिषत्
केनो॰ जी॰ द॰	केनोपनिषद् में जीवन दर्शन
कौ॰ स्मृ॰	कौडिण्य स्मृति
गर्भो॰ उ॰	गर्भोपनिषद्
गा॰ उ॰	गायत्री उपनिषद्
गु॰ शि॰ सं॰	गुरु शिष्य सम्बन्ध
ग्रें॰ वु॰ आ॰ इ॰	ग्रेट वुमेन ऑफ इण्डिया
गो॰ ब्रा॰	गोपथ ब्राह्मण
गो॰ गृ॰ सू॰	गोभिल गृह्यसूत्र
गौ॰ ध॰ सू॰	गौतम धर्मसूत्राणि
छा॰ उ॰	छान्दोग्योपनिषत्
जा॰ सं॰	जातक संहिता
जा॰ उ॰	जावालोपनिषत्
तै॰ आ॰	तैतिरीय आरण्यक
तै॰ उ॰	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै॰ सं॰	तैत्तिरीय संहिता
दश॰ च॰	दशकुमारचरित
दक्ष॰ उप॰	दक्षद्वयोपनिषत्
ना॰ उ॰	नारदपरिव्राजकोपनिषद्
नि॰	निरूक्त
नी॰ श॰	नीतिशतक
नृ॰ उ॰	नृसिंहोत्तरतापनीपनिषद्
दश॰ च॰	दशकुमारचरितम्
प॰ स्मृ॰	पराशर स्मृति
परा॰ स्मृ॰ दे॰ स्मृ॰ तु॰ अ॰	पराश स्मृति एंव देवल स्मृति का तुलानात्मक अध्यंयन
पर॰ उप॰	परब्रह्मोपनिषद्
पा॰ अ॰	पाणिनी अष्टाध्यायी
पा॰ गृ॰ सू॰	पाणिनी गृह्मसूत्र
प्रा॰ भा॰ सा॰ आ॰ सं॰	प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं

प्रा० भा० शि० प०	प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति।
प्रा० भा० इति० सं०	प्राचीन भारत इतिहास और संस्कृति
प्र० स्मृ० अध्य०	प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन
प्र० उ०	प्रश्नोपनिषद्
पंच०	पंचतन्त्र०
बा० गृ० सू०	बाह्य गृह्सूत्र
बौ० स्मृ०	बौधायन स्मृति
बौ० गृ० सू०	बौधायन गृह्यसूत्र
बौ० ध० सू०	बौधायन धर्मसूत्र
ब्र० पु०	ब्रह्मपुराण
ब्रह्म० उ०	ब्रह्मविद्योपनिषत्
बृ० सं०	बृहद् संस्कार
भ० गी०	भगवद्गीता
भा० प्रा० शि० प०	भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति
भा० शि० स०	भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं
भा० शि० वि० आ०	भारतीय शिक्षा के विभिन्न आयाम
भा० शि० वि० सा० स०	भारतीय शिक्षा का विकास एवं सामयिक समस्याएं
भा० शि० स० स०	भारतीय शिक्षा की सम -सामयिक समस्याएं
भा० सं० न०	भारतीय संस्कृति में नारी
भि० उ०	भिक्षुकोपनिषद्
व्या० स्मृ०	व्यास स्मृति
वर्त० शि०	वर्तमान शिक्षा
व० स्मृ०	वशिष्ट स्मृति
विक्रमो०	विक्रमोर्वशीय
वि० प्र० सं० स्वा० शि०	विद्यालय प्रशासन संगठन एवं स्वास्थ्य शिक्षा
वि० स्मृ०	विष्णु स्मृति
महा० च०	महावीर चरितम्
म० पु०	म० पु०

संकेत सूची

म० ब्रा० उ०	मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्
महा०	महाभारत (आदिपर्व)
म० स्मृ०	मनुस्मृति
मालती०	मालती माधव
मा० पु०	मार्कण्डेय पुराण
मालविका०	मालविकाग्निमित्रम्
माण्डू० उ०	माण्डूक्योपनिषद्
मुण्डको० उ०	मुण्डकोपनिषद्
मुद्० उ०	मुद्गलोपनिषद्
मुद्रा०	मुद्राराक्षस
याज्ञ० उ०	याज्ञवल्क्योपनिषत्
याज्ञ० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
योग० उ०	योगतत्वोपनिषत्
रघु०	रघुवंशम्
लघु० आ० स्मृ०	लघु आश्वलायन स्मृति
श्वेता० उ०	श्वेताश्वेतरोपनिषत्
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शां० गृ० सू०	शांखयायन गृह्यसूत्र
शाट्० उ०	शाट्यायनीयोपनिषत्
शा० पर्व०	शान्तिपर्व
शुक्र० उ०	शुक्ररहस्योपनिषत्
शि० दा० सा०आ०	शिक्षा के दार्शनिक तथा सामाजिक आधार
शि० सा० सि०	शिक्षा के सामान्य-सिद्धान्त
शि० प्र० स०	शिक्षा में प्रयोग तथा समस्याएं
शि० रूप०	शिक्षा की रूपरेखा
शि० मू० आ०	शिक्षा के मूल आधार
शि० सि०	शिक्षा सिद्धान्त
स्मृ० च०	स्मृति चन्द्रिका
स्मृ० ना०	स्मृतियों में नारी
स्मृ० भा० रा० सं०	स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति

स्व० स० शि० प०	स्वतन्त्र समाज की शिक्षण पद्धति
सत्य० प्र०	सत्यार्थ प्रकाश
स० शि० क०	सफल-शिक्षण कला
सुबा० उ०	सुबालोपनिषत्
सु० र० सं०	सुभाषित रत्न संग्रह
सु० र० भा०	सुभाषित रत्न भारती
सो० आ०	सोशल आर्गनाइजेशन
सं० अं० को०	संस्कृत अंग्रेजी कोष
सं० हि० को०	संस्कृत हिन्दी कोष
सं० र० शि०	संस्कृत रत्नाकर शिक्षांक
सं० सा० सं० इ०	संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
हा० स्मृ०	हारीत स्मृति
हि० उ०	हितोपदेश
क्षुरि० उ०	क्षुरिकोपनिषद्
श्रीमद्०	श्रीमद्भगवद्गीता

भूमिका

'शिक्षा' संस्कृत-भाषा का शब्द 'शिक्ष्' धातु से बना है और इसका व्याकरण सम्मत अर्थ है- विद्या को ग्रहण करना। प्रत्यन्तम स्रोत वेद हैं। शिक्षक अर्थात् गुरु विद्या देता है, शिक्ष्य अर्थात् शिष्य विद्या को ग्रहण करता है। 'शिक्ष्यते विद्योपादीयतेऽनयेति शिक्षा।' अर्थात् प्राणी जिस साधन-प्रणाली से ज्ञान उपार्जित करता है। उसी का नाम शिक्षा है।

शिक्षा प्रकाश को स्रोत मानी जाती है। जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सर्च्चे मार्ग का प्रदर्शन करती है। ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे समस्त तत्वों के मूल को समझने में समर्थ बनाता है और उसे सही कार्य में प्रवृत्त करता है। ऋग्वेद में विद्या को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार माना गया है विद्या के महत्व को स्वीकार करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नैष्ठिक-ब्रह्मचारी आचार्य के समीप रहकर शरीर की साधना करते हुए और विशेष प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों पर विजय पाकर मोक्ष प्राप्त करता है उनके अनुसार विभिन्न विषयों का दैनिक अध्ययन अभीष्ट फलदायी है इसी प्रकार मनु के अनुसार वेद-शास्त्र आदि के तत्वों का ज्ञाता किसी भी आश्रम में क्यों न हो, वह इस लोक में रहते हुए ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है वेदाध्ययन से सभी पापों से छुटकारा मिलता है श्रुति और स्मृति ब्राह्मणों की आंखें है। एक के बिना वह काना तथा दोनों के बिना अन्धा हैं। महाभारत के अनुसार विद्या के समान दूसरा कोई नेत्र नहीं होता। इस प्रकार विद्या असत् से सत्य की ओर तथा तम से प्रकाश की ओर अग्रसर करती है। यहं मनुष्य के अवगुणों और अमानवीय (पाशविक) वृत्तियों को मिटा-कर उसे मानव बनाने का प्रयत्न करती है।

शिक्षा, अभ्यास, विशेष-शक्ति, इच्छा-विशेष तथा सहन-शक्ति की इच्छा (सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय आदि के द्वन्द्वात्मक भावों में सामञ्जस्य स्थापित करके इनको गंभीरतापूर्वक समझाने) आदि के अर्थ में प्रयुक्त होती है। शिक्षा को अनुशासन का दूसरा नाम कह सकते हैं। शिक्षा एक अर्थ में इसी के महत्व को प्रतिपदित करती है। दूसरे अर्थ में यह विद्या के क्षेत्र में पारगामिता प्रदान करती है। पराकाष्ठा के लिए शिक्षा के दोनों ही स्वरूप अपेक्षित हैं। याज्ञवल्क्य एवं मनु आदि इन्हीं दोनों अर्थों को लेकर शैक्षिक कार्यों को विषय में निर्देश प्रदान करते हैं। अलतेकर ने भी प्राचीन काल की शिक्षा को 'व्यापक' एवं 'सुकचित' दो अर्थों में स्वीकार किया है। व्यापक-अर्थ से उनका अभिप्राय शिक्षा से आत्म-संशोधन एवं आत्म-विकास की प्रवृत्ति से है तथा- संकुचित अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय शिक्षक-अवधि में विद्यार्थी के प्रशिक्षण एवं निर्देश से है।

मनु ने मान्यता की दृष्टि से शिक्षा को सर्वोच्च स्थान दिया है। आदर और मान्यता के क्रम में मनु ने धन, सम्बन्धी, आयु, कर्म और विद्या इन पांच को मान्यता दी है। इनमें भी उत्तरोत्तर अधिक मान्य है। धन, सम्बन्धी, आयु और कर्म इन सबसे ऊंचा स्थान विद्या का है। विद्या से मनुष्य की ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होती है और इससे मनुष्य के सारे पाप नष्ट होते हैं, जिस प्रकार अग्नि काष्ठादि को तत्काल जला देती है, उसी प्रकार वेदज्ञ ज्ञानरूपी अग्नि सारे पाप जला देती है। वेदाभ्यास को महापापों के नाश का साधन माना है। मानव जीवनमें विद्या और तप को मोक्षप्राप्ति का उत्तम साधन माना है। मनुष्य तपस्या से पापों को नष्ट करता है। और विद्या से मोक्ष प्राप्त करता है। तप और विद्या को एक दूसरे का पूरक बताया गया है। जिस प्रकार अन्न और मधु मिलाकर पुष्टिदायक होते हैं। इसी प्रकार तप और विद्या मिलकर महान् रसायन बनते हैं। यदि तप और विद्या के साथ जप को भी मिला दिया जाए तो मनुष्य किसी पाप में लिप्त नहीं होगा। वशिष्ठ ने विद्या के आधार पर ही राजा और विद्वान स्नातक की तुलना में विद्वान स्नातक को अधिक श्रेष्ठ माना है। अतएव एक मार्ग में दोनों के मिलने पर राजा विद्वान के लिए मार्ग छोड़ दे। वशिष्ठ ने भी धन, आयु, सम्बन्ध और कर्म की अपेक्षा विद्या को सर्वश्रेष्ठ माना है।

शिक्षा से निकृष्ट भावना दूर होती है। विरोधी दृष्टिकोण को ठीक से समझने के लिए मनुष्य को विवेकशील बनाती है। इससे बुद्धि प्रखर होती है, बोध -क्षमता विकसित होती है और विवेक पुष्ट होता है। फल-स्वरूप मनुष्य त्रुटि करने से बचता है। यज्ञ, तपस्या और शुभकार्यो उपनयन आदि को अवबोधक होने से ही वेद द्विजातियों के लिए उपकारक होता है मनुष्य का शरीर और मन शिक्षा से ही परिष्कृत और पवित्र होता है, इसलिए वह अप्रतिम है इसके अतिरिक्त लौकिक सुखों की प्राप्ति भी विद्या के माध्यम से ही सम्भव मानी गयी है।

शिक्षा का उद्देश्य छात्रों के 'चरित्र का निर्माण'। शिक्षा के द्वारा उनके स्वभाव में परिवर्तन लाकर नैतिक प्रवृत्तियों का विकास होता है। चरित्र के अभाव में बौद्धिक विकास निरर्थक माना जाता है। यदि कोई व्यक्ति वेदों का ज्ञाता होकर चरित्रहीन हो। तो उसको हीन दृष्टि से देखा जाता है। इसके अतिरिक्त वेदों का अल्पज्ञान होते हुए भी सुचरित्रवान् को आदर दिया जाता है। सुकरात ने भी कहा था- "सद्गुण ही ज्ञान है।" रामायण में रावण बलवान योद्धा जाति का ब्राह्मण तथा विद्वान् था जिसको चारों वेद तथा छः शस्त्रा कण्ठस्थ थे। परन्तु चरित्रहीन होने के कारण तुलसीदास ने उसको महामूर्ख की संज्ञा दी-

फूलहि फलहि न बेंत, जदपि सुधा वरसहि जलधि,
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें विरंच सम।

भूमिका

गुरु छात्र को सदाचार का उपदेश देते थे उनको वीरांगनाओं और सद्पुरूषों की कथाएं सुनाकर उनके महान् आदर्शों को उनके समक्ष रखते थे। उस स्थान का वातावरण जहॉ शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष होता था। अन्यान्य प्रकार के विधि-विधानों से मनुष्य का जीवन संयमित और सुव्यवस्थित होता था इससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता था। स्नातक को समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था। उपनयन संस्कार उसमें आत्मविश्वास की भावना पैदा करता था। इस समय बताया जाता था कि दैविकशक्तियां भी कार्य की सफलता में सहयोग देंगी, यदि अपने कर्त्तव्य का पालन किया जाय। सम्भवतः यही कारण था कि ध नी एवं निर्धन सभी विद्यार्थी समान रूप से भिक्षा मांगते थे इससे पारस्परिक भेद नहीं उत्पन्न होने पाता था और उनमें विनय का भाव उत्पन्न होता था।

विवेक और न्याय का विकास विद्यार्थियों में धर्म, दर्शन, तर्क, काव्य और साहित्य के विषयों के अध्ययन से होता है। ये विषय वाद-विवादों से भरे पड़ें हैं और विद्यार्थियों को दोनों पक्षों को समझना पड़ता है। शास्त्रार्थ में अपना मत निर्धारित करने वाले के लिए उसका प्रतिपादन करना पडता है तथा अन्य मत का खंडन भी करना होता है। इस ग्रन्थ की व्यवस्था चार अध्यायों में की गई है।

प्रथम अध्याय में भारतीय शिक्षा की परम्पराए- स्मृतियों के संदर्भ में, उपनिषदों के संदर्भ में एवं भारतीय शिक्षा की वर्तमान स्थिति का वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में शिक्षण प्रक्रिया- स्मृति एवं उपनिषद् कालीन शिक्षा में अध्ययन के विषय, वेदाध्ययन, उपनयन यज्ञोपवीत, वस्त्र-दण्ड-मेखला, भिक्षा तथा वर्तमानकालीन शिक्षा में सैद्धान्तिक शिक्षा प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा, व्यवहारिक शिक्षा, धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा इत्यादि का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्याय में शिक्षण पद्धति- स्मृति एवं उपनिषद् कालीन शिक्षण पद्धति शिक्षक, शिष्य, छात्र-अनुशासन, शिक्षक, शिष्य सम्बन्ध, शिक्षण संस्थाएं एवं अर्थव्यवस्था शिक्षण विषयक कतिपय सिद्धांत एवं धारणाएं इत्यादि का वर्णन किया गया है तथा वर्तमानकालीन शिक्षा में छात्र-अनुशासन, शिक्षक-शिष्य सम्बन्ध, शिक्षण एवं अर्थव्यवस्था तथा प्रौढ़ शिक्षा का वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में नारी शिक्षा- स्मृति एवं उपनिषद् कालीन नारी शिक्षा एवं वर्तमान कालीन नारी शिक्षा का वर्णन किया गया है।

भवदीय

डॉ० पीयूष बाला

पथम अध्याय

भारतीय शिक्षा की परम्पराएं

क) स्मृतियों के संदर्भ में-

मनु आदि ने स्मृतियों को बहुत महत्त्व दिया है। भारतीय संस्कृति में जिस प्रकार वेद संस्कृति के आधार ग्रन्थ हैं उसी प्रकार स्मृतियां भी संस्कृति के आधार एवं प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। श्रुति वेद हैं और स्मृतियॉ धर्मशास्त्र हैं। इन दोनों से ही धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। सभी विषयों में इनकी प्रामाणिकता अकाट्य एवं असंदिग्ध है।[1] स्मृति की व्युत्पत्ति(स्मृ+क्तिन्) शब्द से हुई है। जिसका तात्पर्य स्मरण एवं प्रत्यस्मरण आदि से है। स्मृति स्मरण का विषय है और यह परम्परागत रूप से चला आ रहा धार्मिक साहित्य है। तैत्तिरीय आरण्यक में भी 'स्मृति' शब्द आया है।[2] सामान्य अर्थ में स्मृति एवं धर्मशास्त्र में कोई भेद नहीं है।[3] स्मृति का यह भी भाव है कि प्राचीन ऋषियों ने जिन प्राचीन परम्पराओं आदि को आत्मसाक्षात्कार के द्वारा स्मरण किया, उन्हें स्मृति नाम दिया। स्मृति एक प्रकार से प्राचीन परम्पराओं एवं आचारशास्त्र का मूर्ति रूप हैं।[4]

वेदों के पश्चात् स्मृतियों को ही धर्म का आधार माना गया है।[5] वेदों और स्मृतियों में कहे गए धर्म का पालन करने वाले को इस संसार में यश मिलता है और परलोक में अनुपम सुख।[6]

स्मृतियों की संख्या- स्मृतियों में आचार शिक्षा, व्यवहार, नीति, कर्मविज्ञान और सांस्कृतिक जीवन के सभी तत्त्वों का विस्तृत विवेचन हुआ है। स्मृति ग्रन्थों के बिना कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, ग्राह्य-अग्राह्य, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, आचार-अनाचार, आदि का ठीक ज्ञान नहीं हो सकता है। स्मृतियां एक प्रकार से श्रुतियों का विशदीकरण हैं।[7]

स्मृतियों की संख्या-स्मृतियों की संख्या कालक्रम से बढ़ती गयी है।

---

1. क) श्रुतिस्तु वेदो विज्ञयों, धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
   ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये, ताभ्यां धर्मो हि निर्वभौ।। - म० स्मृ०(II,10)
   ख) स्मृ० भा० स० सं० पृ० 8-9
2. सं० हि० को० - आप्टे पृ० 1153
3. तै० आ० (I.2)
4. स्मृ० ना० -डा० भारती आर्य 1.2
5. म० स्मृ० (II, 6,12)
6. वही (II,9)
7. स्मृ० ना० -डा० भारती आर्य पृ० 3

सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य ने बीस स्मृतिकारों और स्मृतियों का उल्लेख किया है। उनके नाम हैं- मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवलक्य औशनस, अंगिरस, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वसिष्ठ।[1]

स्मृतियों का काल निर्धारण सरल नहीं हैं कुछ स्मृतियां अत्यन्त प्राचीन और कुछ अर्वाचीन। इनमें से कुछ पूर्णतया गद्य हैं, और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित हैं।[2]

प्राचीन समय में शिक्षा प्रकाश का स्रोत माना जाता था, जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के सच्चे मार्ग का प्रदर्शन करता है। एक विचारक के अनुसार "ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है। जो उसे समस्त तत्वों के मूल को समझने में समर्थ बनाता है तथा उसे सही कार्यों में प्रवृत्त करता हैं।"[3] विद्या के समान कोई दूसरा नेत्र नहीं होता,[4] विद्या हमें परलोक में मोक्ष दिलाती है तथा इस संसारमें समृद्धि और प्रगति। इससे जो ज्योति प्राप्त होती है, वह संशयों का उच्छेदन करती है। कठिनाईयों को दूर करती है। और जीवन के वास्तविक महत्व को समझने योग्य बनाती है। जिसे यह उपलब्ध नहीं है वह अंधा है।[5] इससे जो सही दृष्टिकोण मिलता है, उससे बुद्धि, बल और कार्यक्षमता बढ़ती है, माता के समान यह हमारा पालन पोषण, पिताके समान पथ-प्रदर्शन तथा पत्नी के तुल्य आनन्द और सुख देती है।[6] यह हमारे यश को बढ़ाती है, बाधाओं को दूर करती है तथा हमें पवित्र और सुसंस्कृत बनाती है, यात्रा या विदेश में एकांत में यह सहचरी का कार्य करती है। यह एक प्रकार से कल्पना के रूप में है जो सब बाछांओं को पूरी करती है। यह हमारे इहलोक और परलोक में लौकिक तथा आध्यात्मिक हितों को प्राप्त करने में सहयोग प्रदान करती है।[7]

---

1. याज्ञ० स्मृ० (I, 4-5)
2. स्मृ० ना० डॉ भारती आर्य पृ० 5-6
3. ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्ततत्त्वार्थ विलोकिदक्षम्।
   तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेपि।। - सुभा० र० सं० पृ० 194
4. नास्ति विद्या समं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः - महा० XII,339/6
5. अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
   सर्वस्य लोचनं शास्त्र यस्त्र नास्त्यन्ध एव सः। - सुभा० र० भ० पृ० 30-32
6. मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
   लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।।
   - वही पृ० 31
7. श्रियः प्रदुग्धे विपदं रूणद्धि यशांसि सूते मलिनं प्रमाष्टि
   संस्कारशौचेन नरं पुनीते शुद्धा हि बुद्धिः किल कल्पधेनु।।- वही पृ० 31

शिक्षा, अभ्यास, विशेष-शक्ति, इच्छा-विशेष तथा सहन-शक्ति की इच्छा (सुख-दु:ख, प्रिय-अप्रिय आदि के द्वन्द्वात्मक भावों में सामञ्जस्य स्थापित करके इनको गंभीरतापूर्वक समझाने) आदि के अर्थ में प्रयुक्त होती है। शिक्षा को अनुशासन का दूसरा नाम कह सकते हैं। शिक्षा एक अर्थ में इसी के महत्व को प्रतिपदित करती है। दूसरे अर्थ में यह विद्या के क्षेत्र में पारगामिता प्रदान करती है। पराकाष्ठा के लिए शिक्षा के दोनों ही स्वरूप अपेक्षित हैं। याज्ञवल्क्य एवं मनु आदि इन्हीं दोनों अर्थों को लेकर शैक्षिक कार्यों को विषय में निर्देश प्रदान करते हैं।[1] अलतेकर ने भी प्राचीन काल की शिक्षा को 'व्यापक' एवं 'सुकचित' दो अर्थो में स्वीकार किया है।[2] व्यापक-अर्थ से उनका अभिप्राय शिक्षा से आत्म-संशोधन एवं आत्म-विकास की प्रवृत्ति से है तथा- संकुचित अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय शिक्षक-अवधि में विद्यार्थी के प्रशिक्षण एवं निर्देश से है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि स्नातक को प्रतिवर्ष विद्यालय में दो मास रहकर, अपनी शिक्षा की पुनरावृत्ति करनी चाहिए जिससे अर्जित-ज्ञान विलुप्त न हो।[3] याज्ञवल्क्य ने अर्जित-ज्ञान का विस्मरण पाप माना है।[4]

प्राचीन भारतीय विचारक शिक्षा का अर्थ केवल पुस्कीय ज्ञान नहीं मानते। पुस्तकीय ज्ञान के साथ-साथ शिक्षा व्यक्ति में अन्तर्दृष्टि, अन्तर्ज्योति, अन्तर्ज्ञान और संस्कार उत्पन्न करती है। फलत: व्यक्ति जीवनयापन में आत्म-निर्भर होकर सामज का एक अच्छा नागरिक बनता हैं।[5]

मनु ने मान्यता की दृष्टि से शिक्षा को सर्वोच्च स्थान दिया है। आदर और मान्यता के क्रम में मनु ने धन, सम्बन्धी, आयु, कर्म और विद्या इन पांच को मान्यता दी है। इनमें भी उत्तरोत्तर अधिक मान्य है। धन, सम्बन्धी, आयु और कर्म इन सबसे ऊंचा स्थान विद्या का है।[6] विद्या से मनुष्य की ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होती है और इससे मनुष्य के सारे पाप नष्ट होते हैं, जिस प्रकार अग्नि काष्ठादि को तत्काल जला देती है, उसी प्रकार वेदज्ञ ज्ञानरूपी अग्नि सारे पाप जला देती

---

1. प्र० स्मृ० अध्य० - लक्ष्मीदत्त ठाकुर पृ० 126
2. प्रा० भा० शि० प० - अ० स० अल्तेकर पृ० 2-3
3. आप० ध० सू० (X/1/2/213)
4. याज्ञ० स्मृ० (111, 228)
5. प्रा० भा० सा० आ० सं० - कैलाश चन्द्र जैन पृ० 158
6. वित्तं बन्धुर्वय: कर्म, विद्या भवति पञ्चमी।
   एतानि मान्यस्थानानि, गरीयो यद् यदुत्तरम्।। म० स्मृ०(II, 136)

है।[1] वेदाभ्यास को महापापों के नाश का साधन माना है।[2] मानव जीवनमें विद्या और तप को मोक्षप्राप्ति का उत्तम साधन माना है। मनुष्य तपस्या से पापों को नष्ट करता है। और विद्या से मोक्ष प्राप्त करता है।[3] तप और विद्या को एक दूसरे का पूरक बताया गया है। जिस प्रकार अन्न और मधु मिलाकर पुष्टिदायक होते हैं। इसी प्रकार तप और विद्या मिलकर महान् रसायन बनते हैं।[4] यदि तप और विद्या के साथ जप को भी मिला दिया जाए तो मनुष्य किसी पाप में लिप्त नहीं होगा।[5] वशिष्ठ ने विद्या के आधार पर ही राजा और विद्वान स्नातक की तुलना में विद्वान स्नातक को अधिक श्रेष्ठ माना है। अतएव एक मार्ग में दोनों के मिलने पर राजा विद्वान के लिए मार्ग छोड़ दे।[6] वशिष्ठ ने भी धन, आयु, सम्बन्ध और कर्म की अपेक्षा विद्या को सर्वश्रेष्ठ माना है।[7]

प्राचीन काल में शिक्षा प्रकाश को स्रोत मानी जाती थी, जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सच्चें मार्ग का प्रदर्शन करती है। ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे समस्त तत्वों के मूल को समझने में समर्थ बनाता है और उसे सही कार्य में प्रवृत्त करता है।[8] ऋग्वेद में विद्या को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार माना गया है[9] विद्या के महत्व को स्वीकार करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नैष्ठिक-ब्रह्मचारी आचार्य के समीप रहकर शरीर की साधना करते हुए और विशेष प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों पर विजय पाकर मोक्ष प्राप्त करता है[10] उनके अनुसार विभिन्न विषयों का दैनिक अध्ययन अभीष्ट फलदायी है[11] इसी प्रकार मनु के अनुसार वेद-शास्त्र आदि के तत्वों का ज्ञाता किसी भी आश्रम में क्यों न हो, वह इस लोक में रहते हुए ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[12] वेदाध्ययन से सभी पापों से छुटकारा

1. यथैधस्तेजसा वह्निः, प्राप्तं निर्दहति क्षणात्।
तथा ज्ञानाग्निना पापं, सर्व दहति वेदवित्।। म० स्मृ० (XI, 247)
2. वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या, महायज्ञक्रिया क्षमा।
नाशयन्त्याशु पापानि, महापातकजान्यपि।। वही (XI, 246)
3. तपो विद्या च विप्रस्य, निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति, विद्ययाऽमृतमश्नुते।। वही (XII, 104)
4. यथान्नं मधुसंयुक्तं, मधु वान्येन संयुतम्।
एवं तपश्च विद्या च, संयुक्तं भेषजं महत्।। अ० स्मृ० (II, 15)
5. विद्यातपोभ्यां संयुक्तं, ब्राह्मणं जपतत्परम।
कुत्सितैरपि वर्तन्तमेनो न प्रतिपद्यते।। वही (II, 16)
6 राजस्नातकयोः समागमे राज्ञा स्नातकाय देय :।। वशि० स्मृ०(XIII, 26)
7. विद्याविजयजः संबन्धः कर्म च मान्यम्।। वही (XIII, 24)
8. सुभा० र० सं० पृ० 194
9. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेषु असमाबभूवुः ऋ० (X/71/7)
10. याज्ञ० स्मृ० (I, 49-50)
11 वही - (I, 45-46)
12. म० स्मृ० (XII, 102)

मिलता है[1] श्रुति और स्मृति ब्राह्मणों की आंखें है। एक के बिना वह काना तथा दोनों के बिना अन्धा हैं।[2] महाभारत के अनुसार विद्या के समान दूसरा कोई नेत्र नहीं होता।[3] इस प्रकार विद्या असत् से सत्य की ओर तथा तम से प्रकाश की ओर अग्रसर करती है। यह मनुष्य के अवगुणों और अमानवीय (पाशविक) वृत्तियों को मिटा-कर उसे मानव बनाने का प्रयत्न करती है।

शिक्षा के उद्देश्यः प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था धार्मिक- भावना का जागरण। 'धर्म' शब्द से सब गुणों के सार का संकलन अवगुण्ठित है। संस्कार, व्रत, दैनिक संध्या-पूजन तथा धार्मिक उत्सव विद्यार्थियों में धार्मिक-भाव पैदा करते थे। व्रत के परिपालन से संयमित मनुष्य को निश्चत ही अपने उस गूढ़ स्वरूप का ज्ञान होता है, जो उसके आत्मविश्वास का कारण होता है।[4] स्नान, अद्वैत मंत्र द्वारा मार्जन, प्राणायाम, सूर्योपस्थान तथा गायत्री का जप करना ब्रह्मचारी का कर्तव्य था।[5] शौच, पवित्रता, आचार, स्नान-क्रिया आदि अग्निकार्य और सन्ध्योपासन ब्रह्माचारी का धर्म था।[6]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है। कि विद्यार्थियों के जीवन में भक्ति और धर्म की भावना का विकास करना शिक्षा का पहला एवं मुख्य उद्देश्य था। प्रत्येक विद्यार्थी को समाज का एक योग्य तथा धर्मनिष्ठ सदस्य बनाना अनिवार्य था। भारतीय परम्परा में समस्त मानवीय गुण धार्मिक सन्दर्भ मे देखे गये हैं। यह परम्परा इस प्रकार इनके वैयक्तिक-विकास के माध्यम से समाज को आदर्श बनाने के प्रयत्न में थी।

शिक्षा के उद्देश्य तथा आदर्श

धर्मनिष्ठा तथा ईश्वर भक्ति- वैदिक काल में समाज धर्म पर टिका था अतः बालक में ईश्वर-भक्ति तथा धार्मिकता की भावना का विकास करना शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य था। विद्यार्थी के जीवन में विभिन्न धार्मिक क्रियाओं को स्थान दिया जाता था, जैसे-व्रत, यज्ञ, उपासना, सन्ध्या, धार्मिक उत्सवों को मानना, नित्य प्रार्थना इत्यादि। पुरोहित ही प्रायः शिक्षक होते थे। विद्यार्थियों को धर्मनिष्ठा से इसलिए प्रेरित नहीं किया जाता था कि वह अपना घर छोड़कर कंदराओं

---

1. म० स्मृ० (XII, 10)
2. अ० स्मृ० (III, 349)
   हारी० स्मृ० (I, 24)
3. नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः -महा० (XII/339/6)
4. रश्मिमाला (X, 2)
5. याज्ञ० (I, 22)
6. म० स्मृ० (II, 69)

उत्तम गृहस्थ बने।[1]

शिक्षा से निकृष्ट भावना दूर होती है। विरोधी दुष्टिकोण को ठीक से समझने के लिए मनुष्य को विवेकशील बनाती है।[2] इससे बुद्धि प्रखर होती है, बोध-क्षमता विकसित होती है और विवेक पुष्ट होता है। फल-स्वरूप मनुष्य त्रुटि करने से बचता है।[3] यज्ञ, तपस्या और शुभकार्यो उपनयन आदि को अवबोधक होने से ही वेद द्विजातियों के लिए उपकारक होता है[4] मनुष्य का शरीर और मन शिक्षा से ही परिष्कृत और पवित्र होता है, इसलिए वह अप्रतिम है[5] इसके अतिरिक्त लौकिक सुखों की प्राप्ति भी विद्या के माध्यम से ही सम्भव मानी गयी है[6]

ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी से जितेन्द्रियता अपेक्षित थी। ब्रह्मचारी प्राणायाम, सूर्यापस्थान एवं गायत्री का जप प्रतिदिन करता था।[7] इनसे उसका मस्तिष्क एवं शरीर स्वस्थ रहता था। प्राचीन भारतीय विचारक विद्यार्थियों को स्वस्थ बनाने पर इसलिए बल देते थे क्योंकि इससे न केवल सांसारिक अपितु धार्मिक-कार्यो में भी सफलता मिलती है।[8] गुरु-उपनयन के अन्तर वेद तथा शौच के नियम की शिक्षा से विद्यार्थियों का चारित्रिक-उत्थान करता था।[9] चरित्र एवं आचरण का महत्व इतना अधिक था कि वेद का मर्मज्ञ भी सच्चरित्रता के अभाव में हीन था। इसके विपरीत केवल गायत्री-मंत्र का ज्ञाता सच्चरित्रता के कारण पूज्य था।[10] चरित्रवान को ही विद्वान माना जाता था।[11] अलतेकर इस प्रवृत्ति की तुलना लोक के विचार से करते हैं, जो इस मत का पोषक है कि केवल वैदिक विकास इतने महत्व का नहीं है जितना चारित्रिक-विकास है[12]

2. चरित्र निर्माण– शिक्षा का उद्देश्य छात्रों के चरित्र का निर्माण था। शिक्षा के द्वारा उनके स्वभाव में परिवर्तन लाकर नैतिक प्रवृत्तियों का विकास किया जाता था। चरित्र के अभाव में बौद्धिक विकास निरर्थक माना जाता था। यदि कोई व्यक्ति वेदों का ज्ञाता होकर चरित्रहीन होता था। तो उसको हीन दृष्टि से देखा जाता था।

---

1. आ० भा० शि० स० - डॉ बी०बी० अग्रवाल पृ० 3
2. नीतिश० पृ० 2
3. सु० भा० र० भ० पृ० 31
4. याज्ञ० स्मृ० (1, 40)
5. ब्रह्माण्ड पु० (I/4/15)
6. वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या जीवलोकस्य सुखानी। हि० प० पृ० 16
7. याज्ञ० स्मृ० (1, 22)
8. कु० स० (V, 30)
9. याज्ञ० स्मृ० (1, 5)
10. म० स्मृ० (II, 118)
11. महा० (X/321/78)
12. एजू० इ० ऐं० इं०, - अ० स० अलतेकर पृ० 10

इसके अतिरिक्त वेदों का अल्पज्ञान होते हुए भी सुचरित्रवान को आदर दिया जाता था। सुकरात ने भी कहा था- "सद्गुण ही ज्ञान है।" रामायण में रावण बलवान योद्धा जाति का ब्राह्मण तथा विद्वान था जिसको चारों वेद तथा छः शस्त्रा कण्ठस्थ थे। परन्तु चरित्रहीन होने के कारण तुलसीदास ने उसको महामूर्ख की संज्ञा दी-

फूलहिं फलहिं न बेंत, जदपि सुधा वरसहि जलधि,
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें विरंच सम।

गुरु छात्र को सदाचार का उपदेश देते थे उनको वीरांगनाओं और सद्पुरूषों की कथाएं सुनाकर उनके महान् आदर्शों को उनके समक्ष रखते थे। उस स्थान का वातावरण जहाँ शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष होता था।[1] अन्यान्य प्रकार के विधि-विधानों से मनुष्य का जीवन संयमित और सुव्यवस्थित होता था।[2] इससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता था। स्नातक को समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था। उपनयन संस्कार उसमें आत्मविश्वास की भावना पैदा करता था। इस समय बताया जाता था कि दैविकशक्तियां भी कार्य की सफलता में सहयोग देंगी, यदि अपने कर्त्तव्य का पालन किया जाय। सम्भवतः यही कारण था कि धनी एवं निर्धन सभी विद्यार्थी समान रूप से भिक्षा मांगते थे[3] इससे पारस्परिक भेद नहीं उत्पन्न होने पाता था और उनमें विनय का भाव उत्पन्न होता था।

विवेक और न्याय का विकास विद्यार्थियों में धर्म, दर्शन, तर्क, काव्य और साहित्य के विषयों के अध्ययन से होता था। ये विषय वाद-विवादों से भरे पड़ें हैं और विद्यार्थियों को दोनों पक्षों को समझना पड़ता था। शास्त्रार्थ में अपना मत निर्धारित करने वाले के लिए उसका प्रतिपादन करना पडता था तथा अन्य मत का खंडन भी करना होता था।[4]

व्यक्तित्व का विकास- शिक्षा के द्वारा छात्रों का सर्वांगीण विकास किया जाता था। छात्रों में व्यक्तित्व के आवश्यक गुण, जैसे आत्म-सम्मान की भावना, आत्म-विश्वास, आत्म संयम, आत्म-त्याग, विवेक, न्याय, विचारों की अभिव्यक्ति आदि पर बल दिया जाता था। छात्रों के वस्त्र, खान-पान और व्यवहार में सादगी थी, अतः उनकी आवश्यकतायें सरलता से पूरी हो जाती थीं।

---

1. आ० भा० शि० स० - डॉ० बी० बी० अग्रवाल पृ० 3
2. याज्ञ० स्मृ० (I, 23-33)
3. वही (I, 29-30)
4. प्रा० भा० सा० आ० सं० - कैलाश चन्द्र जैन पृ० 159

समाज उनको सम्मान देता था। इस प्रकार आत्म सम्मान, आत्म-विश्वास, संयम और त्याग सम्बन्धी गुण विकसित होते थे। गोष्ठियों में वाद विवाद का आयोजन होता था जिससे विचारों की अभिव्यक्ति सम्बन्धी क्षमता विकसित होती थी साथ ही शारीरिक विकास के लिए छात्रों को प्राणायाम, सूर्य नमस्कार आदि क्रियाएं कराई जाती थीं। इस प्रकार स्वस्थ शरीर में एक स्वस्थ मन का विकास होता था।[1]

सामाजिक- कर्त्तव्यों का परिपालन करना शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था। स्नातक के रूप में वह अपने ही हित का ध्यान नहीं रखता था, बल्कि वह अन्यान्य बालकों को निःशुल्क शिक्षा भी प्रदान करता था। स्नातक-ब्राह्मण (वेदज्ञ), सांप, क्षत्रिय (या राजा) तथा अपनी आत्मा का अपमान नहीं करता था एवं किसी को दुःख नहीं देता था। सुख-सम्पति की आकांक्षा रखता था। कर्म, मन और वचन से यत्नपूर्वक धर्म का आचरण करता था और धर्म-विहित, लोक-विरूद्ध कर्म और जिस कर्म से स्वर्ग की प्राप्ति न हो उसे नहीं करता था।[2] माता, पिता, अतिथि, भाई, सुहागिन स्त्री, सम्बन्धी, मामा, वृद्ध बालक, रोगी, आचार्य, वैद्य आश्रितजन (पिता एवं माता पक्ष के) बान्धव, ऋत्विज, पुरोहित पुत्र, पत्नी, दास सहोदर, भाइयों आदि के साथ विवाद न करके गृहस्थ सभी लोकों को प्राप्त कर सकता है[3] इस प्रकार की शिक्षा स्नातकों को देकर समाज-कल्याण की भावना को विकसित किया जाता था। उसकी सम्पत्ति का उपभोग केवल परिवार के सदस्य ही नहीं करते थे वरन् अतिथि सत्कार एवं दीनों को इससे सहायता भी दी जाती है।

प्राचीन शिक्षा प्रणाली में स्वार्थी जीवन के लिए कोई स्थान नहीं था। पढ़-लिखकर छात्र का कर्त्तव्य यह था कि वह समाज की सेवा करे और स्वकेन्द्रित जीवन से दूर रहे। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए वह पुत्र के रूप में पति के रूप में, और पिता के रूप में अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करें। अतिथियों और विद्वानों का आदर करे तथा आवश्यकतानुसार उनकी सहायता भी करे। इस प्रकार वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करे[4]

शिक्षा से सांस्कृतिक-जीवन का विकास होता है। शिक्षा के द्वारा ही भूत कालीन संस्कृति वर्तमान में जीवित है तथा पूर्व से चली आती हुई परम्पराएं जीवन्त होती हैं। उदीयमान संतति को संस्कृति का अध्ययन करवा कर आने वाली

---

1. आ० भा० शि० स० - डॉ० बी० बी० अग्रवाल पृ०3
2. याज्ञ० स्मृ० (I,153-156)
3. वही (I,157-158)
4. आ० भा० शि० स० - डॉ० बी० बी० अग्रवाल पृ०4

पीढ़ियों के लिए ज्ञान-प्रसार की भली-भांति व्यवस्था की जाती थी।[1] वैदिक साहित्य की शिक्षा और उसका प्रसार तत्कालीन शिक्षा का प्रधान आधार था। वेदों को कण्ठस्थ करना उन्हें मस्तिष्क में सुरक्षित रखना तद्‌युगीन विद्यार्थियों का प्रधान कर्त्तव्य था। प्रत्येक व्यक्ति अपने पुत्र को अपने व्यवसाय की शिक्षा देता था[2] इस प्रकार अनेक पीढ़ियों का अनुभव नयी संतति को प्रारम्भ में सुलभ हो जाता था। वैदिक साहित्य के संरक्षण का उत्तरदायित्व सम्पूर्ण आर्य जाति पर था। प्रत्येक आर्य को इस पवित्र साहित्य निधि का कोई न कोई अंश अवश्य याद रखना पड़ता था। ब्राह्मण के लिए सम्पूर्ण वेदों को कण्ठस्थ करना तथा भावी संतति को कण्ठस्थ कराना धर्म माना गया था।[3]

सांस्कृतिक जीवन के विकास के लिए त्रिऋण की अनिवार्यता मानी गई है।[4] प्रत्येक व्यक्ति तीनों ऋणों के साथ जन्म ग्रहण करता है। देवऋण, ऋषि-ऋण और पितृऋण से मनुष्य को मुक्त होना अनिवार्य था। यज्ञ द्वारा देव-ऋण से मुक्ति मिलती थी। मनुष्य अध्ययन से ऋषि-ऋण से छुटकारा मिलता था। विवाह एवं संतति उत्पादन से पितृ-ऋण से मुक्ति मिलती थी। इसके अतिक्ति माता, पिता, वृद्धों का आदर स्वाध्याय तथाऋषि-तर्पण भी सांस्कृतिक उत्थान के द्योतक थे।[5] संगति (आसक्ति) का सब प्रकार से त्याग करना चाहिए, किन्तु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषों की संगति करनी चाहिए; क्योंकि सत्पुरुषों की संगति ही उसकी औषधि है। कामना को सर्वथा छोड देना चाहिए, परंतु यदि वह छोडी न जा सके तो मुमुक्षा(मुक्ति की इच्छा) के प्रति कामना करनी चाहिए; क्योंकि मुमुक्षा ही उस कामना को मिटाने की दवा है[6]

जीविकोपार्जन तथा भौतिक समृद्धि की शिक्षा

वैदिक शिक्षा यद्यपि धर्म प्रधान शिक्षा थी फिर भी जीविकोपार्जन की भी शिक्षा दी जाती थी। केवल आध्यात्मिक विकास और ज्ञान प्राप्ति पर बल नहीं

---

1. याज्ञ० स्मृ० (I,34,35)
2. वही (I,41-46)
3. प्रा० भा० शि० प्र० - अ० स० अलतेकर पृ० 13
4. श० ब्रा० (I/5/5)
5. स्मृ० भा० स० सं० - राज देव दूवे पृ० 127
6. संगति सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्युक्तं न शक्यते।
   स सद्भिः सह कर्त्तव्यः सतां संगति हि भेषजम्।।
   कामः सर्वात्मान हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः।
   मुमुक्षां प्रति तत्कार्य सैव तस्यापि भेषजम्।।
   -मा० पु० (37,23-24)

था। यह भी उद्देश्य था कि छात्र पढ-लिख कर समाज का उपयोगी सदस्य बने। यद्यपि पिता अपने पुत्र को अपने व्यवसाय की शिक्षा देता था परन्तु गुरुकुल में विशेषीकरण का प्रशिक्षणअपने वर्ण और रूचि के अनुसार मिलता था। ब्रह्मणों को अध्ययन, अध्यापन और कर्मकाण्ड की शिक्षा दी जाती थी। क्षत्रिय एवं सैनिक राजकाज की शिक्षा प्राप्त करते थे। वैश्यों को व्यापार तथा खेती-बाड़ी की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार जीविकोपार्जन की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार जीविकोपार्जन की शिक्षा द्वारा सामाजिक योग्यता एवं सुख की वृद्धि होती थी और प्रत्येक छात्र किसी एक व्यवसाय में पारंगत होता था।

भारतीय संस्कृति का संरक्षण तथा प्रसार- प्राचीन काल में वेद, पुराण अलिखित थे। उनका संरक्षण शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था। ब्राह्मणों को तो अपना जीवन ही वेदों को कंठस्थ करने में समर्पित करना होता था। वैसे प्रत्येक आर्य पुत्र को वैदिक साहित्य के किसी ने किसी अंश को कंठस्थ करना पड़ता था। इस कार्य से किसी को कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं होता था परन्तु इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को सुरक्षित रखा जाता था।

आत्म-साक्षात्कार- शिक्षा का चरम उद्देश्य इस लोक की तैयारी था, न परलोक की। शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य स्वंय को जानना था जिससे आत्मा की मुक्ति सम्भव हो सके। **'सा विद्या या विमुक्तये'** मनुष्य स्वयं अपने को ही भूला रहता है और जब तक ऐसी स्थिति बनीं रहती है वह नश्वर जीव ही बना रहता है परन्तु अपने को पहचानने पर वह अविनाशी अजर, अमर, आत्मा में लय हो जाता है। अतः वही ज्ञान सत्य है जो मनुष्य को असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरतत्व की ओर ले जाता है।

असतो मा सद्गमय

तमसो मा ज्योतिर्गमय

मृत्योर्मामृतम् गमय।।

"शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा मनुष्य के अंग हैं। प्राचीन भारतीय शिक्षा का उद्देश्य इनका सर्वागीण विकास करना था"[1]

शिक्षा से मस्तिष्क और बुद्धि प्रखर होती है। गुरु शिष्य का उपनयन-संस्कार करके उसे महाव्यहृतियों के साथ वेद और शौच के नियमों की शिक्षा देता था।[2]

---

1. आ० भा० शि० स० -डा० बी० बी० अग्रवाल पृ० 3-4
2. याज्ञ० स्मृ० (I, 15)

ब्रह्मचारी के लिए मधु, मांस, लेप, अंजन, जूठा भोजन, स्त्री, कठोर-वचन, जीव हिंसा, सूर्य दर्शन(उदय और अस्त के समय)। अश्लीलता और असत्य भाषण तथा दौषन्वेषण आदि निषिद्ध थे।[1] ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर कठिन तपस्या से विद्या प्राप्त करता था। जिसके आचरण में विद्या और तपस्या दोनों हो वही श्रेष्ठ माना जाता था।[2] ब्राह्मण जन्म से ब्राह्मण होता है। जब संस्कार सम्पूर्ण होते हैं तब वह द्विज कहा जाता है और विद्या प्राप्त कर लेने पर विप्र कहा कहा जाता है इन तीनों के समन्वय से वह 'श्रोत्रिय' कहा जाता है, जो वेदों और शास्त्रों को पढ़ता है। तथा उनका पालन करता है उसके वचन पवित्र करने वाले होते हैं।[3] शिक्षा ही हमें मनुष्य बनाती है और इसके बिना जीवन व्यर्थ और सारहीन है।[4] इस से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विचारक विद्या या शिक्षा को मनुष्य में मानवीय संस्कारों के विकास के लिए आवश्यक मानते थे

---

1. याज्ञ० स्मृ० (I,33)
2. वही (I, 200)
3. अ० स्मृ० (I, 140-141)
4. सु० भा० र० भा० (XXXI, 18)

ख) उपनिषदों के सदंर्भ म

उपनिषद् साहित्य का परिचय–

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक षदलृ 'सद्' से क्विप् प्रत्यय का योग करने से निषन्न हुई है। षदलृ धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है।[1]

(1) विशरद अर्थात नाश होना (2) गति अर्थात् प्राप्त होना (3) अवसादन अर्थात् शिथिल करना। सद् धातु के साथ आदि में 'उप' और 'नि' उपसर्गों का प्रयोग करके अन्त में क्विप् प्रत्यय का योग किया जाता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं- उप+नि+सद्+ क्विप्-उपनिषद्।

'उपनिषद्' शब्द 'उप' (निकट), 'नि' (नीचे) और 'सद्'(बैठना) से मिलकर बना है, अर्थात् नीचे निकट बैठना। शिष्यगण गुरु से गुप्त विद्या सीखने के लिए उसके निकट बैठते हैं।

उपनिषदों में 'ओम्' का गुह्य महत्त्व बताया गया है, 'तज्जलान' जैसे रहस्यवादी शब्द का, जो केवल इस विद्या में दीक्षित लोगों को ही समझ में आ सकते हैं, स्पष्टीकरण किया गया है तथा गुप्त मन्त्र और गुह्य सिद्धान्त दिए गए हैं, 'उपनिषद्' नाम एक ऐसे रहस्य के लिए पड़ गया जो केवल कुछ परखे हुए लोगों को ही बताया जाता था।[2]

उपनिषदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में एक सर्वसम्मत निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता है। उनमें वर्णित तत्त्व की विचार धाराएं त्रिकालिक हैं। विद्वानों के एक पक्ष ने इस सम्बन्ध में जो मत-मतांतर प्रकट किए हैं, उन्हें विद्वानों का दूसरा पक्ष स्वीकार नहीं भी करता है। इतना अवश्यमेव कहा जा सकता हैं कि कुछ उपनिषद् बुद्धकाल के पूर्व के हैं। इस प्रकार के छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व रचे नए उपनिषदों में छान्दोग्य, बृहदारण्यक, केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकी और कठ का नाम लिया जा सकता है।

---

1. 'षदलृ' 'सद्' विशरणगत्यवसानेषु। उ० त० 1
2. य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
   प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति।। कठो० (I,3,17)
   'वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
   नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः।। श्वेता० उ० (VI,22)
   तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्
   ये पूर्वदेवा ऋष्टयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृत।
   वै बभूवुः।। वही (V, 6)
   गुह्यलमम् मैत्री (VI, 29)
   'अभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेद इति रहस्यम्। नृ० उ० (8)
   'धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्' अ० को० पृ०3

उपनिषदों के ऐतिहासिक साहित्य का कुछ परिचय पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' में मिलता है। पाणिनी के एक सूत्र में उपनिषद् शब्द का प्रयोग भी अष्टाध्यायी में देखने को मिलता है।[1]

उपनिषद् साहित्य के सम्बन्ध में स्वर्गीय लोकमान्य तिलक का विचार है कि वैदिक काल की पूर्व मर्यादा ईसा पूर्व 4500 वर्ष से कम नहीं ली जा सकती है। क्योंकि हमने 'ओरायन' ग्रन्थ में वेदों के उदगयन स्थिति दर्शन वाक्यों के आधार पर सिद्ध कर दिया है। लोकमान्यतिलक ने 'मैत्रय्योपनिषद्' में वर्णित उदगयन स्थिति का ज्योतिष गणना के अनुसार अध्ययन पर यह ज्ञान अर्जित किया कि वेदांग ज्योतिष में कही गई उदगयन स्थिति में 'मैत्रय्योपनिषद्' कालीन उदगयन की अपेक्षा लगभग आधे नक्षत्र से पीछे हट गया था, उदगयन को आधे नक्षत्र पीछे हटने में लगभग 480 वर्ष लग जाते हैं, इसलिए गणित के हिसाब से 'मैत्रय्योपनिषद्' की रचना का समय 1880-1680 ई० पू० के बीच बैठता है। इसलिए 4500 ई० पू० में ऋग्वेद 2500 ई० पू० में ब्राह्मण ग्रन्थों और 1600 ई० पू० में उपनिषद्-ग्रन्थों का समय आता है[2]

कतिपय आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों की भांति प्राचीन भारतीय विद्वानों ने भी शिक्षा शब्द का प्रयोग व्यापक और संकुचित दोनों अर्थो में किया। व्यापक अर्थ में अपने को सभ्य और उन्नत बनाना ही शिक्षा है और यह कार्य जीवन पर्यन्त चलता रहता है।[3] एक विचारक का कथन है कि सच्चा गुरु आजीवन विद्यार्थी रहता है।[4] संकुचित अर्थ में इसका तात्पर्य उस शिक्षण से है, जो युवक व्यवसाय में लगने के पहले विद्यार्थी जीवन में प्राप्त करता है।

जिससे वर्णादि का उच्चारण सीखा जाय उसे 'शिक्षा' कहते हैं अथवा जो सीखे जायँ वे वर्ण आदि ही शिक्षा हैं। शिक्षा को ही शीक्षा कहा गया है। शिक्षा के स्थान पर 'शीक्षा' वैदिक प्रक्रिया के अनुसार है[5]

प्राचीन भारतीय साहित्य में शिक्षा को प्रंशसनीय बनाने के सभी तत्त्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से जब हम उनषित्साहित्य का सिंहावलोकन करते हैं, तो पाते हैं कि उसमें विद्यार्थी जीवन से सम्बन्धित संस्कार,

---

1. पा० अष्टा० (IV, 9,3,43)
2. के० जी० द० -शोध प्रबन्ध - डॉ० बीरबल. पृ० 25
3. प्रा० भा० शि० प० - डॉ० अ० स० अल्तेकर पृ० 2
4. (क) प्रा० भा० सा० धा० सं० - डॉ० कैलाशचन्द्र जैन पृ० 157
   (ख) प्रा० भा० शि० प० - डॉ० अ० स० अल्तेकर पृ० 2-3
5. शिक्षा शिक्ष्यऽतेनयेति वर्णाद्युच्चारणलक्षणम्।
   शिक्ष्यन्त इति वा शिक्षा वर्णादयः।
   शिक्षैव शीक्षा। दैर्घ्य छान्दसम्।। -शां० भा० तै० उ० (I,2,1)

गुरु शिष्य का सम्बन्ध, गुरु के गुण-कर्त्तव्य एवं शिक्षा के विषय आदि महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा स्थान-स्थान पर हुई है। शिक्षा की दृष्टि से उपनिषद् शब्द का अर्थ समझना भी महत्त्वपूर्ण है।

"उपनिषाद्यति सर्वानर्थसंसारं विनाशयति संसार कारण भूतामविद्यां च शिथिलयति। ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।"

अर्थात् जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का नाश करती है, संसार की कारण भूत अविद्या को शिथिल करती है तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है। यह रहस्यभूत आत्मतत्त्व का भी बोध कराने वाली विद्या है, इसलिए भी उपनिषद् नाम सार्थक है। वेदों के अन्त में होने के कारण इनको वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषदों की संख्या 100 से अधिक है। इनमें से ईशोपनिषद्, कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् तैत्तिरीयोपनिपषद्, छान्दोग्योनिषद् आदि कुछ ऐसे उपनिषद् हैं जिनमें उपर्युक्त विषय मुख्य रूप से प्रस्तुत किये गए हैं। शिक्षा के द्वारा विद्या प्राप्त करने से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है।[1]

विद्या का प्रमुख स्रोत है वैदिक साहित्य। और जब शिष्य विद्या की शिक्षा गुरु से ग्रहण करता है, तो ऐसी ही शिक्षा से सांसारिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

संसार में अभ्युदय दिलाने वाली विद्या परा है तथा सांसारिक बन्धन से छुटकारा दिलाने वाली विद्या अपरा है।[2]

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार, पिता को अपने ज्येष्ठ पुत्र या विश्वस्त शिष्य को ही ब्रह्मविद्या सिखानी चाहिए- अन्य किसी को नहीं, चाहे वह उसके बदले में उसे सागरों से घिरी और रत्नों से भरी समस्त पृथ्वी ही क्यों न दे रहा हो। बहुत जगह यह कहा गया है। कि गुरु बारंबार प्रार्थना की जाने पर और कड़ी परीक्षा के बाद ही गुह्य ज्ञान का उपदेश देता है।

शंकर 'उपनिषद' शब्द की व्युत्पत्ति 'सद्' धातु से मानते हैं, जिसका अर्थ मुक्त करना, पहुंचना या नष्ट करना होता है। यह एक विशेष्य है, जिसमें 'उप' और 'नि' उपसर्ग और 'क्विप्' प्रत्यय लगे हैं। यदि यह व्युत्पत्ति मान ली जाए तो उपनिषद् का अर्थ होगा ब्रह्मज्ञान, जिसके द्वारा अज्ञान से मुक्ति मिलती है या वह नष्ट हो जाता है, जिन ग्रन्थों में ब्रह्मज्ञान की चर्चा रहती है वे उपनिषद् कहलाते हैं। और इसलिए वेदान्त माने जाते हैं। विभिन्न व्युत्पत्तियों से यही निष्कर्ष निकलता है। कि उपनिषद साहित्य हमें आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और दार्शनिक

---

1. "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।" -ई० उ० 11 श्लोक
2. अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मु० उ० (I, 5)

तर्क-प्राणली दोनों प्रदान करती हैं। इनसे बीज-रूप से एक ऐसी असंदिग्धता निहित हैं जो अवर्णनीय है और केवल एक विशिष्ट-जीवन प्रणाली से ही समझी जा सकती है। केवल निजी प्रयास से ही सत्य तक पहुंचा जा सकता है।[1]

डॉ० जयदेव वेदालंकार ने उपनिषद् की परिभाषा प्रतिपादित की है जिसके द्वारा ब्रह्म का सामीप्य या समीपता निश्चित रूप से प्राप्त हो, उसे उपनिषद् कहा जा सकता है।[2]

शिक्षा के उद्देश्य-

उपनिषदों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्म साक्षात्कार करना है। जब नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण रूप पन्चमवेद, व्याकरण, श्राद्धकल्प, शिक्षाकल्प, गणित, ज्योतिष-शास्त्र आदि सब पढ लिए हैं वे 'मन्त्र-वित्' बन चुके हैं परन्तु 'आत्मवित्' नहीं हैं।[3] इस प्रकारउनका यही तात्पर्य है कि उनके पास पुस्तकीय ज्ञान तो बहुत है किन्तु आत्मज्ञान अर्थात् वैयक्तिक शक्तियों के विकास की विद्या नहीं है। "यह आत्मा ब्रह्म है" इसमें आत्मा और ब्रह्म का ऐक्य दिखाया गया है-अयमात्मा ब्रह्म -आत्मा ही परमात्मा है। सच्चा ज्ञान आने पर भेद बुद्धि समाप्त हो जाती है।[4] ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति- ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है[5] "प्रज्ञानं ब्रह्म" "ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है।" ब्रह्म का स्वरूप लक्षण यह है कि उसकी नित्य सत्ता है और वह ज्ञान या चित् के रूप में है[6] "वह तू ही है" तत्-त्वम् असि। यहां तत् (वह) का अर्थ है ब्रह्म, त्वम् जीव के लिए आया है, अर्थात् जीव ही ब्रह्म है। तुम शरीर मात्र नहीं हो, अपितु साक्षात् चैतन्य स्वरूप हो जिसकी नित्य सत्ता है।[7] ब्रह्म की सर्वरूपता के निरूपण के प्रसंग में कहा गया है कि "उत्पति से पहले यह नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म स्वरूप ही था। उसने अपने को ही जाना- अहं ब्रह्मास्मि- 'मैं ब्रह्म हूं"[8] इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया। उसे देवताओं में जिस जिस ने जाना वही तद्रूप हो गया। ऐसे ही ऋषियों और मनुष्यों में से ऋषि वामदेव ने उस तत्त्व को आत्मभाव से देखते हुए ही जाना। यह उपनिषद् आत्मा में सर्वाधिक प्रेम व्यक्त करते हुए आत्मतत्व को

---

1. उ० सं० - डा० राधाकृष्णन् पृ० 12
2. "ब्रह्म सामीप्यं निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यथा सा उपनिषद।" उ० त० पृ० 6
3. सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्। छा० उ० (VIII, 3)
4. बृ० उ० (II, 5, 19)
5. मु० उ० (III, 2, 9)
6. ऐ० उ० (III, 4)
7. छा० उ० (VI, 8,7)
8. बृ० उ० (I/4/10)

देखने के लिए प्रेरित करता है कि आत्म ही दर्शनीय, श्रवण के योग्य, मनन के योग्य और ध्यान करने के योग्य है।[1]

उसको जान लेने पर जीवन की सब समस्याएं हल हो जाती हैं। उस सबसे परे और निकट रहने वाले आत्मा का अनुभव कर लेने पर हृदय की गांठ खुल जाती है। समस्त संशय कट जाते हैं, सब फल देने वाले कर्म क्षीण हो जाते हैं, शाश्वत सुख-शान्ति की प्राप्ति उनको ही होती है, जो आत्मा को जान लेते हैं।[2] जिससे इन सब वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, जिसके द्वारा ये स्थिर रहती हैं जिसमें ये अन्त में विलीन हो जाती हैं, उसको ही जानों, वह ब्रह्म है।[3]

यह ब्रह्म ही उपनिषदों में उपास्य देव स्वीकार किया गया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या अथवा ब्रह्मज्ञान तथा आध्यात्मिक विद्या या अध्यात्म ज्ञान का वर्णन करना ही उपनिषदों का प्रधान विषय है।

षदलृ 'सद्' धातु के तीन अर्थों में से केवल गति का अर्थज्ञान, गतिशीलता तथा प्राप्ति करना ही प्रतिपादित किया है। शेष दो अर्थो की संगति इस प्रकार है- विशरण का अर्थ है-नाश होना। ब्रह्म की समीपता को प्राप्त कर लेने से अविद्या अर्थात् अज्ञान का नाश हो जाता है। अवसादन का अर्थ हैं-शिथिल होना। जन्म और मृत्यु का बन्धन शिथिल पड़ जाता है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मविद्या अथवा ब्रह्मज्ञान के द्वारा सर्वप्रथम अज्ञान का विनाश होने के पश्चात् उस पर ब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इस समीपता की उपलब्धि से जन्म और मृत्यु का बन्धन शिथिल पड़ जाता है। ऐसे जिज्ञासु पुरुष का जिसने उपनिषदों का अध्ययन कर ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लिया है के बन्धन से छुटकारा मिल जाता है। जैसे कि कठोपनिषद् में आया है कि हृदय की सब ग्रन्थियां नष्ट होकर सब प्रकार का अज्ञान भी विदीर्ण हो जाता है।[4]

---

1. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः -बृ० उ० (VI, 5,6)
2. मु० उ० (II, 28)
3. तै० उ० (III, 1)
4. यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम्।। -कठो० उ० (II/3/15)

ग) भारतीय शिक्षा की वर्तमान स्थिति

शिक्षा से हमारा अभिप्राय जैसा कि ड्यूबी ने लिखा है- "औपचारिक अथवा संस्थागत शिक्षा" से है।[1] यों तो हमको अपने जीवन में जन्म से मृत्यु पर्यन्त प्रतिक्षण शिक्षा प्राप्त होती रहती है। ज्ञात एंव अज्ञात रूप में हम कुछ न कुछ सीखते रहते हैं। पर यह स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति के व्यवहार की उस समाज पर जिसका वह सदस्य है, महत्वपूर्ण प्रतिक्रियाएं होती हैं, अतः यह आवश्यक है कि उसके प्रारम्भिक जीवन के कुछ निश्चित वर्षों में नियमित रूप से शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए, जिससे कि वह समाज से अपना अनुकूलन कर सके और समाज की सेवा भी कर सके। प्लेटो, अरस्तू और प्लूटार्च से लेकर पैस्टालॉजी, रूसो, हरबार्ट तथा स्पेन्सर तक-सबने इस बात की और संकेत किया है कि प्रशिक्षण तथा अनुशासन की सहायता के बिना प्रकृति उन सब बातों को प्राप्त नहीं कर सकती है, जिनकी व्यक्ति से मांग की जाती है।[2]

इस सम्बन्ध में नन का कथन है- 'शिक्षा की प्रत्येक योजना आधारभूत रूप में एक व्यवहारिक दर्शन होने के कारण आवश्यक रूप से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को स्पर्श करती है अतः शिक्षा के कोई भी उद्देश्य जो निश्चित पथप्रदर्शन के लिए पर्याप्त रूप से यथार्थ होते हैं जीवन के आदर्शों से सह सम्बन्धित होते हैं।[3] शिक्षा ज्ञान रूपी प्रकाश का स्रोत है। शिक्षा प्रकाश का वह स्रोत है जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हमारा सच्चा पथ-प्रदर्शक है, शिक्षा द्वारा हमारे संशयों का उन्मूलन एवं कठिनाइयों का निवारण होता है तथा विश्व को समझने की क्षमता प्राप्त होती है। "ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्त तत्वार्थ विलोक दक्षम्।" दो नेत्रों के देखनें से जो अपूर्ण रह जाता है वह विद्या रूपी तृतीय नेत्र से देखा जाता है। एक वनस्पति-विज्ञानी कवि तथा अनपढ़ तीनों ही फूलों को देखा करते हैं परन्तु तीनों के देखने में अन्तर है। बिना विद्या के मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं। "विद्या विहीनः पशु समानः।" अर्थात् विद्या से ही मानवता के गुणों का विकास सम्भव है नहीं, तो पशु का पशु ही रह जायेगा जिसका उद्देश्य मात्र उदर पूर्ति होता है।[4]

पेनुनजियो के कथनानुसार- "उन प्रथागत विधियों तथा क्षमताओं के ज्ञान को सम्प्रेषित करना है जिनको समाज अपने दीर्घ जीवन और प्रगति के लिए अनिवार्य समझता है।[5]

---

1. Democracy & Education, -John Dewey उद्धृत भा० शि० ई० पृ० 2
   वी० पी० जौहरी एवं पी० डी० पाठक
2. Social Development & Education - M.V. O' Shea उद्धृत वही
3. Education, its Data & First Prinicples . - T.P. Nunn. उद्धृत वही
4. आ० भा० शि० स० - डा० बी० बी० अग्रवाल पृ० 2
5. Major Social Institutions ,— C. Panunzio उद्धृत भा० शि० ई० पृ० 3
   वी० पी० जौहरी एवं पी० डी० पाठक

शिक्षा व्यक्ति को जीवन के लिए इस प्रकार तैयार करती है जिससे कि उसके हितों का समाज के हितों के साथ न्यूनतम संघर्ष हो, और जिससे कि वह समाज के आदर्शों के अनुसार अपने जीवन को व्यतीत कर सके, और साथ ही उन आदर्शो का उन्नयन करके समाज के स्वस्थ तथा वांछित विकास में योग प्रदान कर सके। जैसा कि समनर ने लिखा है- "शिक्षा के द्वारा मनुष्य यह सीखता है कि कौन सा आचरण समाज के द्वारा स्वीकृत अथवा अस्वीकृत है, किस प्रकार के मनुष्य का सबसे अधिक समादर होता है, सब प्रकार के कार्यो में उसे किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, और उसे किस बात में विश्वास अथवा अविश्वास करना चाहिए।[1] इस अर्थ में कहा जा सकता है कि शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य- व्यक्ति का समाजीकरण करना है। इस दृष्टिकोण से शिक्षा की प्रमुख समस्या है- बालक के उन जन्मगत आवेगों का किसी प्रकार दमण करना जो तत्कालीन सामाजिक आचरण से मेल नहीं खाते हैं अथवा इन आवेगों को प्रवृत्तियों में परिवर्तित करना, जिससे कि व्यक्ति का सभ्य समाज की रीतियों, आदर्शों तथा संस्थाओं से सामंजस्य हो जाय।[2]

धर्म, नैतिकता, सत्यनिष्ठा तथा आध्यात्मिकता से हीन वर्तमान शिक्षा राष्ट्र के प्रत्येक स्तर पर अस्थिरता एवं अशान्ति का निमित्त बना रही है। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने शिक्षा को इसी कारण शासन और आर्थिक प्रभाव से मुक्त रखा था। इस वर्तमान शिक्षा-पद्धति में शिक्षाशास्त्री, शिक्षक तथा शिष्य सभी अर्थप्रेरित लोभ से संग्रस्त होने के कारण शिक्षा-मन्दिर को ही सुरा-सुन्दरी से दूषित कर रहे हैं। शिक्षा दूषित होने से शिक्षित भी दूषित होगा तथा जीवन के सभी क्षेत्र दूषित हो जाएंगें। **'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहाः'** इन सब दूषणों से राष्ट्र और समाज व्याप्त है। जैसे दुष्ट बीज से दुष्ट अंकुर और सदोष फल होंगे वैसे ही दोषयुक्त शिक्षा से सदोष नागरिक बनकर समाज, राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्रिय जगत् के लिए घातक होंगे।[3]

वर्तमान समय में आधुनिकीकरण पर बल दिया जाता है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हैं कि आध्यात्मिक मूल्यों को समाप्त कर दिया जाए। यह ठीक है कि इस समय के समाज की परिस्थितियां, समस्यायें, आवश्यकतायें और आकांक्षाओं में प्राचीन काल से भिन्नता है। प्राचीनकाल का समाज एक स्थिर समाज था। सैंकडों वर्ष तक समाज में परिवर्तन नहीं दिखाई पड़े। एक ही सी राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था बनी रही। लोगों का रहन-सहन भी सरल तथा एक

---

1. Folkways, — W.G. Summer उद्धृत वही
2. Education its Data & First Principal —T.P. Nunn. उद्धृत वही
3. क०- शि० पृ० 80

सा रहा। मुख्य उद्देश्य यही था कि एक ही से आर्थिक और सामाजिक ढांचे को सुरक्षित रखा जाये। शिक्षा धर्म प्रधान थी जिसमें दर्शन साहित्य तथा बौद्धिक विकास पर बल देने वाले विषय अधिकतर पढ़ाये जाते थे।

वर्तमान समाज प्रगतिशील है। प्रत्येक क्षण महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं, देखते ही देखते परमाणु युग से उपग्रह युग और कम्प्यूटर युग आ गया। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का सबसे शक्तिशाली साधन विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर आधारित शिक्षा है। विज्ञान के वर्तमान युग की सबसे बडी सीख यह है कि यदि कठोर श्रम करने का दृढ निश्चय और इच्छा हो तो समृद्धि असम्भव नहीं। हमारे देश को विज्ञान सहारा लेना चाहिए परन्तु यह भी निश्चित है कि यदि आधुनिकीकरण को एक जीवन शक्ति होना है तो उसे आत्मा की शक्ति से अपनी शक्ति प्राप्त करनी है[1] विज्ञान और प्रौद्योगिकी से प्राप्त ज्ञान और कौशल का सन्तुलन धर्म से सम्बन्धित मूल्यों से बैठाना चाहिए अर्थात् स्वयं को ज्ञान, जीवन के अर्थ मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध तथा मानव के परमसत्य से सम्बन्धों का ज्ञान भी उतना ही आवंश्यक है जितना कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी का। इस प्रसंग में पं० जवाहरलाल नेहरू का उद्धरण देना उपयुक्त होगा-

"क्या हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी की इस उन्नति का तालमेल मन और आत्मा के विकास से नहीं बैठा सकते? हम विज्ञान को भी नहीं झुठला सकते क्योंकि आज यह जीवन का आधार है। अतः हम अपनी पूरी शक्ति के साथ उद्योग-धन्धों को विकसित करें, परन्तु उसके साथ-ही-साथ यह भी याद रखें कि सहनशीलता, दया और विवेक के बिना भौतिक सम्पदा धूल और राख भी हो सकती है[2]

'शिक्षा' तथा 'समाज' अविच्छिन्न रूप से गुँथे हुए हैं। एक की प्रगति अथवा अवगति दूसरे की प्रगति अथवा अवनति पर निर्भर है। 'शिक्षा' समाज के लिए अनिवार्य है। शिक्षा के अभाव में युगों के संग्रहीत ज्ञान एवं आचार के समस्त आदर्शो का विनाश हो जाएगा।

शिक्षा से हमारा अभिप्राय औपचारिक अथवा संस्थागत शिक्षा से है। व्यक्ति को उसके प्रारम्भिक जीवन के कतिपय वर्षो में शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए जिससे कि वह समाज से अपना अनुकूलन कर सके एवं समाज की सेवा भी कर सके।

शिक्षा-व्यवस्था का प्रमुख कर्त्तव्य उन प्रथागत विधियों तथा क्षमताओं के ज्ञान को सम्प्रेषित करना है जिनको अपने दीर्घजीवन तथा प्रगति के लिए अनिवार्य समझता है। शिक्षा समाज के नैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्वों का सम्प्रेषित करती है। इस प्रकार शिक्षा विचारात्मक तथा भावात्मक तत्त्वों के शिक्षण का उत्तरदायित्व लेती है।

---

1. आ० भा० शि० स० - डॉ० बी० बी० अग्रवाल पृ० 6-7
2. शिक्षा आयोग की रिपोर्ट से उद्धत - 1964-66

शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य-व्यक्ति को जीवन के लिए इस प्रकार तैयार करना है जिससे कि उसके हितों का समाज के हितों के साथ न्यूनतम संघर्ष हो और जिससे कि वह समाज के आदर्शों के अनुसार अपने जीवन को व्यतीत कर सके और साथ ही उन आदर्शों का उन्नयन करके समाज के स्वस्थ तथा वांछित विकास में योग दे सके। शिक्षा का एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य-व्यक्ति के मानसिक विकास के लिए साधनों को जुटाना है।[1]

शिक्षा की प्रक्रिया

शिक्षा रूपी प्रक्रिया के साथ विभिन्न शिक्षाविदों ने विभिन्न विशेषण प्रयुक्त किये हैं। उनमे से प्रमुख प्रक्रियाओं का विवेचन नीचे प्रस्तुत किया हैं:-

एडम्स ने शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया बताया है। द्विमुखी प्रक्रिया में दो व्यक्ति होते हैं, एक बोलता है और दूसरा सुनता है।

जॉन ड्यबी ने शिक्षा की द्विमुखी प्रक्रिया न मानकर त्रिमुखी प्रक्रिया माना है। उनका कथन है कि सामाजिक शक्तियां समाज या सामाजिक वातावरण के माध्यम से शिक्षक और शिष्य को विषय सामग्री देती है, जिसे पाठ्यक्रम कहते हैं।

आज की शैक्षणिक प्रक्रियाओं में लोगों को स्वयं को पढ़ाने में सहायता पहुंचाने के लिए नई प्रकार की संस्थाओं और सेवाओं-भाषा प्रयोगशालाओं, तकनीकी प्रशिक्षण प्रयोगशालाओं, सूचना केन्द्र, पुस्तकालय तथा सम्बद्ध सेवाओं, आधार सामग्री बैंक, कार्यक्रमबद्ध तथा वैयक्तिकृत अध्यापन साधन, श्रव्य-दृश्य आदि के प्रयोगों पर बल दिया जा रहा है। इस दृष्टि से शिक्षा को एक बहुमुखी प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है।

जॉन ड्यूबी के शब्दों में, "सभी शिक्षा का प्रारम्भ उस समय होता है जब व्यक्ति प्रजाति की सामाजिक चेतना में भाग लेता है"[2]

शिक्षा अभिवृद्धि की एक प्रक्रिया है- शिक्षा में जिन उद्देश्यों को हम निर्धारित करते हैं, वे केवल पथ प्रदर्शक और संकेत स्तम्भ के समान हैं, जो संकेत करते हैं कि अभिवृद्धि किस दिशा में होगी"।[3]

---

1. भा० शि० इति० - बी० पी० जौहरी एवं पी० डी० पाठक पृ० 6
2. शि० सा० सि० - जी० एस० डी० त्यागी एवं पी० डी० पाठक पृ० 10.-12
3. "The aims that we set up in education are just guides & sign - posts to indicate in what direction the growth will take place" B.H. Bode - Fundamentals of Education, Mac Millon, उद्दृत शि० दा० सा० आ० - डॉ० एस० एस० माथुर पृ० 11

डी० बी० महोदय के अनुसार, "जीवन विकास है, एवं विकास करना, अभिवृद्धि करना ही जीवन हैं।" शिक्षा को जब हम अभिवृद्धि कहते हैं तो इस रूप में हमारा तात्पर्य यही होता है कि शिक्षा की प्रक्रिया एक ऐसी सतत् चलने वाली प्रक्रिया है जो पुनर्सगठन, पुनः निर्माण एंव परिवर्तन की ओर होती हैं, इससे तात्पर्य यह ह कि अभिवृद्धि भी एक सतत् क्रिया है।

अभिवृद्धि करने की शक्ति दो बातों पर निर्भर होती है- (1) दूसरों की आवश्यकता, (2) लचीलापन। ये दोनों ही बातें बाल्यपन तथा युवाकाल में अपनी चरम सीमा पर होती है। लचीलेपन से हमारा तात्पर्य है- अनुभवों से सीखना जिसका अर्थ है- आदतें बनाना। आदतें हमें वातावरण के ऊपर नियन्त्रण देती है। यह हमें वह शक्ति प्रदान करती हैं जिसको हम मानव के उद्देश्यों की ओर उपयोग कर सकें। सक्रिय आदतें विचार, नई खोजें, कार्य प्रारम्भ करने की योग्यता इत्यादि को सम्मिलित करती हैं। आदतों का निर्माण शिक्षा द्वारा ही होता है और इसलिए शिक्षा को हम अभिवृद्धि की प्रक्रिया कहते हैं।[1]

वर्तमान शिक्षा से उत्पन्न दोष

वर्तमानकालीन कालेजों में पढने वाले अधिकांश विद्यार्थियों में न्यूनाधिक रूप से क्रियारूप में अथवा विचार रूप में आपको निम्नलिखित दोष प्रायः मिलेंगे, जो विद्यार्थी -ब्रह्मचारी-जीवन से सर्वथा प्रतिकूल हैं[2] :-

1. ईश्वर और धर्म में अविश्वास।
2. संयम का अभाव।
3. ब्रह्मचर्य का अभाव।
4. माता-पिता आदि गुरुजनों में अश्रद्धा।
5. प्राचीनता के प्रति विद्वेष।
6. विलासिता और फिजूलखर्ची।
7. खेती, दुकानदारी और घरेलू कलाकौशल के कार्यो के करने में लज्जा और सरलता का अभाव।

वर्तमान में जो अशान्ति, कलह, संघर्ष देखने में आ रहा है,- उसका मुख्य कारण यही है कि लोग अपने अधिकार की मांग तो करते हैं, पर अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते। 'अपने कर्त्तव्य का पालन करने में ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फलों में नहीं।'[3]

---

1. शि० दा० सा० आ० - एस० एस० माथुर पृ० 12-13
2. क) क० - शि० पृ० 75
   ख) वर्त० शि० - हुनमान प्रसाद पोद्दार पृ० 7-16
3. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन भ० गी० (II, 47)

संसार में अपने- अपने क्षेत्र में जो मनुष्य दूसरों के द्वारा मुख्य, श्रेष्ठ माने जाते हैं, उन आचार्य, गुरु, अध्यापक, व्याख्यानदाता, महन्त, शासक, मुखिया आदि पर दूसरों को शिक्षा देने की, दूसरों का हित करने की विशेष जिम्मेवारी रहती है।

'श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं, और वह जो कुछ कहता है, दूसरे मनुष्य उसी के अनुसार करते हैं।[1]

वर्तमान शिक्षा के क्षेत्र में कोठारी आयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान ह।

कोठारी आयोग- शिक्षा आयोग जो कि साधारण तौर पर कोठारी आयोग के नाम से प्रसिद्ध है भारत सरकार द्वारा डॉ० डी० एस० कोठारी की अध्यक्षता में 14 जुलाई, 1964 को नियुक्त किया गया। इस आयोग के अनुसार निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किए गए हैं :-

1. **शिक्षा तथा राष्ट्रीय उद्देश्य-** शिक्षा का विस्तार उपज बढ़ाने, सामाजिक और राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तीव्र करने तथा सामाजिक नैतिक एवं आध्यात्मिक कीमतें पैदा करने के लिए किया जाए।
2. **विज्ञान की शिक्षा पर बल-** शिक्षा को विज्ञान शिक्षा का एक अभिन्न भाग होना चाहिए और अन्त में विज्ञान का अध्ययन विश्वविद्यालय स्तर पर सभी कोर्सो का भाग होना चाहिए।
3. **कार्य अनुभव-** समूची शिक्षा चाहे वह सामान्य हो या व्यावसायिक, के लिए कार्य अनुभव एक अंखड अंग होना चाहिए।
4. **व्यावसायीकरण-** माध्यमिक शिक्षा का व्यावसायीकरण किया जाये।
5. **सांझा स्कूल प्रणाली-** सार्वजनिक शिक्षा के लिए सांझा स्कूल प्रणाली जारी की जाये।
6. **सामाजिक तथा राष्ट्रीय सेवा-** शिक्षा के सभी स्तरों पर सामाजिक तथा राष्ट्रीय सेवा को शिक्षा का अंखड अंग बनाया जाये।
7. **शिक्षा का माध्यम-** क्षेत्रीय भाषा को स्कूल तथा ऊंचे स्तर पर शिक्षा का माध्यम बनाया जाये। अंग्रजी के अध्ययन को ठीक स्कूल स्तर से उन्नत किया जाये।[2]

---

1. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरों जनः।
स यत्प्रमाणं कुरूते लोकस्तदनुवर्तते। भ० गी० (III, 21)
2. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 23-24

8. **पाठ्यक्रम, शिक्षा विधियों तथा मूल्यांकन में सुधार–** पाठ्यक्रम, शिक्षा विधियों तथा मूलयांकन में सुधार किया जाये।

9. **अध्यापकों के प्रशिक्षण तथा गुणों में सुधार–** स्कूलों के लिए अध्यापकों के प्रशिक्षण तथा गुणों पर अधिक बल दिया जाए और उनके अर्थिक सामाजिक तथा व्यावसायिक स्तर में सुधार किया जाए।

10. **प्रौढ़ शिक्षा–** प्रौढ़ शिक्षा के लिए अधिक सुविधाओं का प्रबन्ध किया जाए ताकि निरक्षरता को समाप्त किया जा सके।

11. **विकलांग और पिछड़ी हुई श्रेणियों की शिक्षा–** पिछडी हुई श्रेणियों की शिक्षा के लिए अधिक सुविधा जुटाई जाए।

12. **शिक्षा प्रसार–** जन शक्ति के अनुपात से शिक्षा प्रसार की योजना बनाई जाये।

13. **पथ–प्रदर्शन तथा सलाह मशवरा–** पथ-प्रदर्शन और सलाह-मशवरे को शिक्षा का अभिन्न अंग माना जाए।

14. **पत्राचार कोर्स–** पत्राचार द्वारा व्यावसायिक तथा तकनीकी कोर्सों को तुरन्त शुरू किया जाए।

आयोग के मतानुसार शिक्षा को व्यापक तौर पर एक राष्ट्रीय विषय होना चाहिए। भारत सरकार अनेक शिक्षा प्रोग्रामों जैसे कि राष्ट्रीय आयोजन, अन्य देशों के साथ शैक्षिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध, विशेष तौर पर संयुक्त राष्ट्र संघ के काम तथा उसकी एजंसियों विशेषत : **UNESCO** के काम, विचारों तथा जानकारी का अदान-प्रदान, प्रदेशों में शिक्षा, हिन्दी का प्रचार, विकास तथा समृद्धि, राष्ट्रीय संस्कृति की संभाल तथा उन्नति जिसमें राष्ट्रीय कला का संरक्षण भी शामिल होना चाहिए। भारत सरकार को शिक्षा प्रशासन में सुधार लाने के लिए शिक्षा से सम्बन्धित कई और जिम्मेदारियां संभालनी चाहिए।

1. अध्यापक के सम्मान तथा शिक्षा में सुधार।
2. कृषि, इंजीनियरिंग, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में जन-शक्ति के अनुसार योजना बनाना।
3. छात्रवृत्तियों के कार्यक्रम का विकास।
4. शिक्षा अवसरों को समान करना विशेष तौर पर अंतर राज्य अंतरों तथा समुदाय के निर्बल वर्गों की उन्नति।

5. संविधान के कथानुसार मुफ्त तथा अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करना।
6. माध्यमिक शिक्षा का व्यावसायीकरण।
7. शिक्षा के स्तर में सुधार।
8. उच्च शिक्षा तथा अनुसन्धान का विकास, विशेष तौर पर स्नातकोत्तर अवस्था में।
9. वैज्ञानिक अनुसांधन को उत्साहित करना।
10. शिक्षा अनुसंधान को उत्साहित करना।
11. कृषि तथा उद्योग में व्यावसायिक शिक्षा का विकास।[1]

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 32-33

द्वितीय अध्याय

शिक्षण-प्रक्रिया

क) स्मृतियां एवं उपनिषद् कालीन शिक्षा-

अध्ययन के विषय

मनु ने अध्ययन के विषयों में वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थ तथा वेद के छः अंगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, ज्योतिष और छन्दशास्त्र) का उल्लेख किया है।[1] याज्ञ० ने 14 विद्यायों का उल्लेख किया है। 14 विधाएं हैं- 4 वेद, 6 वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र।[2] मनु के अनुसार वेद ऋग्वदे, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये ही समस्त विद्याओं के आधार हैं। वेदों से ही अन्य सभीज्ञान और विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है[3] अतः मुख्य रूप से वेदों का अध्ययन और अध्यापन ही शिक्षा का मुख्य विषय था। प्रत्येक वेद का अंगों और उपांगों के साथ अध्ययन किया जाता था, अतः प्रत्येक वेद के लिए 12 वर्ष तक का समय निर्धारित किया गया था। याज्ञ० स्मृ० में पूर्वोक्त चौदह विद्याओं के अतिरिक्त इन विधाओं का भी उल्लेख है-

वाकोवाक्य (प्रश्नोत्तर वाले मन्त्र), पुराण, नाराशंसी (विविध राजाओं का चरित), गाथा-साहित्य, इतिहास (महाभारत आदि), वारूण अस्त्र विधाएं आदि।[4] याज्ञवल्क्य ने अन्य स्थान पर वेदत्रयी के साथ अथर्ववेद को भी लिया है और इसके साथ पुराण, इतिहास और आध्यात्मिक विद्या का भी समावेश किया है। साथ ही वेदागों और मीमांसा आदि शास्त्रों का भी उल्लेख किया है।[5]

वेदाध्ययन से तात्पर्य है मन्त्रों तथा विशिष्ट शाखा या शाखओं के ब्राह्मण-भाग का अध्ययन। वेद को शाश्वत एवं अपौरूषेय माना गया था। सभी धर्मशास्त्रकारों ने वेद को अनादि एवं शाश्वत माना है,[6] वेद परमात्मा के श्वास हैं।[7] परमात्मा ने ब्रह्मा को उत्पन्न कर उन्हें वेदों का ज्ञान दिया।[8] वेद के अनादित्य एवं अपौरूषेयत्व को कई ढंग से समझाया जाता है यथा महाभाष्य ने लिखा है

---

1. म० स्मृ० (II, 140 - 141)
2. पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता :।
   वेदा : स्थानानि विधानां, धर्मस्थ च चतुर्दश।। -याज्ञ० स्मृ० (I,3)
3. क) म० स्मृ० (I, 21-23)
   ख) गौ० स्मृ० (II,53)
4. याज्ञ० स्मृ० (I, 45)
5. वही (I, 99-101)
6. वे ० सू० (I/3/28-29)
7. बृ० उ० (IV/5/11)
8. वही (I/2/5)

कि यद्यपि वेद का अर्थ शाश्वत है, किन्तु शब्दों का प्रबन्ध अशाश्वत है और इसलिए वेद की विभिन्न शाखाएं पाई जाती हैं, यथा काठक, कालापक मौद्क पैप्लादक आदि।[1]

प्राचीन काल से ही अध्ययन का साहित्य बहुत विशाल रहा है वेद अनन्त हैं।[2] ऐसा संकेत है कि चार प्रकार के प्रमुख पुरोहित थे, यथा होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा। उसमें यह भी आया है कि जो लोग साथ पढ़ते हैं उनमें बड़ा वैषम्य पाया जाता है और सहपाठी अपने मित्र को सभा में जीतता देखकर प्रसन्न होते हैं।[3]

स्वाध्याय के अन्तर्गत ऋचाओं, (यजुओं सामों, अथर्वांगिरसों अथर्ववेद), इतिहास पुराण, गाथाओं को गिना है[4] इस प्रकार ये सभी वेद कल्प, रहस्य, ब्राह्मणों, उपनिषदों, इतिहास, अन्वारव्यान, पुराण, अनुशासन, वाकोवाक्य आदि के साथ उत्पन्न किए गए।[5] उपनिषदों में ऐसा अधिकतर आया है कि ब्रह्मज्ञान की खोज में आने के पूर्व लोग बहुत-कुछ पढकर आते थे। नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि उन्होंने (नारद ने) चारों वेदों, पांचवे वेद के रूप में इतिहास पुराण, वेदों के वेद, (व्याकरण) पित्र्य (श्राद्ध पर प्रबन्ध), राशि(अंकगणित), दैव (लक्षण-विद्या), निधि (गुप्त खनिज खोदने की विद्या), वाकोवाक्य(कथोपकथन या हेतु विद्या), एकायन (राजनीति), देवविद्या (निरूक्त), ब्रह्मविद्या (छन्द एवं ध्वनि-विद्या), भूतविद्या (भूत-प्रेत को दूर करने की विद्या), क्षत्रविद्या(धनुर्वेद), नक्षत्र विद्या, सर्पविद्या, देवजन विद्या (नाच,गान, अभ्यंजन आदि) सीख ली थीं।[6] इन्होंने स्वाध्याय (वेदाध्ययन) एवं प्रवचन (शिक्षण करने या प्रतिदिन पढ़ने) को तप कहा है और इन दोनों को ऋत, सत्य, पत, दम, शम, अग्नियो, अग्निहोत्र एवं सन्तान के साथ जोड़कर इनकी महत्ता की ओर भी बल दे दिया है और कहा है कि घर चले जाने पर भी विद्यार्थी को वेदाध्ययन नहीं छोड़ना चाहिए। इन्होंने स्वाध्याय (वेदाध्ययन) एवं प्रवचन (शिक्षण करने या प्रतिदिन पढ़ने) को तप कहा है। और इन दोनों को ऋत, सत्य, पत दम। शम, अग्नियों, अग्निहोत्र एवं सन्तान के साथ जोड़कर इनकी महत्ता की ओर बल भी दे दिया है और कहा है कि घर चले जाने पर भी विद्यार्थी को वेदाध्ययन नहीं छोड़ना चाहिए।[7]

---

1. श्वेता० उ० (VI, 18)
2. पा० (IV/3/10)
3. तै० ब्रा० (III, 10-11)
4. श० ब्रा० (XI, 5,7,4-8
5. गो० ब्रा० (II,10)
6. छा० उ० (VII, 1-2)
7. तै० उ० (I,9)

मनु ने निरूक्त (II,4) के विद्यासूक्त को उद्धत किया है और कहा है कि अपनी रक्षा के लिए विद्या ब्रह्माण के पास आई और उससे कहा कि जो द्वेषी हो, उसे विद्या न दे। इसके विपरीत जो ब्रह्मचारी, पवित्र, संयमी और अप्रमादी हो, उसको ही विद्यादान करें।[1] मनु ने दस प्रकार के शिष्यों को विद्याध्ययन का पात्र बताया है- आचार्य का पुत्र, गुरु की सेवा करने वाला, अन्य विषयों को जानने वाला, धर्मात्मा, पवित्र, सत्य वादी, ज्ञान के ग्रहण और धारण में समर्थ, धन देने वाला, सदाचारी और निकट सम्बन्धी।[2] याज्ञवल्क्य ने मनु के बताए शिष्यों के गुणों का भी समावेश किया है। विद्या के पात्र हैं- कृतज्ञ, अद्रोही, मेधावी, पवित्र, स्वस्थ, अछिद्रान्वेषी, सदाचारी, ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ, सत्यावादी, विद्यादानी एवं धनदाता। ये गुण सामूहिक या व्यस्त रूप में विद्यार्थी में अवश्य होने चाहिए। इनको ही विधिपूर्वक शिक्षा दी जानी चाहिए।[3]

अक्षर और वर्णमाला की शिक्षा का प्रारम्भ विद्यारम्भ-संस्कार से होता है। इस संस्कार के बाद ही शिक्षा को आरम्भ किया जाता था। विश्वामित्र के अनुसार यह संस्कार बालक की आयु के पांचवें वर्ष में होता था।[4] यदि किसी अनिवार्य कारण से इसे स्थगित करना पड़ जाय तो, उपनयन-संस्कार के पूर्व किसी समय इसे करना आवश्यक था।[5]

विद्यारम्भ में बालक गुरु की वन्दना करता और उनके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करता था। चौल कर्म के साथ लिपि का ज्ञान कराया जाता था।[6]

उपनयन के पश्चात् ही वेदारम्भ-संस्कार किया जाता था। वेदाध्ययन का आरम्भ वनस्पतियों के उग आने पर श्रावण महीने में पूर्णमासी को अथवा श्रवण-नक्षत्र से युक्त दिन को अथवा हस्त-नक्षत्र से युक्त श्रावण-पंचमी को करना चाहिए।[7] इस अवसर पर गुरु अग्नि के पश्चिम विद्यार्थियों को बैठाता था। देवाताओं को आहुतियां दी जाती थीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्म, छन्दस तथा प्रजापति के लिए

---

1. म० स्मृ० (II, 114-115)
2. आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
   आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः
   वही (II, 109)
3. कृतज्ञादोहिमेघाविशुचिकल्यानसूयकाः।
   अध्याप्या धर्मतः साधु, शक्ताप्तज्ञानवित्तदाः - याज्ञ० स्मृ० (I, 28)
4. क) स्मृ० च० पृ० 26
   ख) सं० प्र० पृ० 221-225
   ग) सं० र० पृ० 904
5. हि०-सं० - राजबली पाण्डेय पृ० 140
6. वृत्तचौलकर्मा लिपि संख्यानचोपयुञ्जीत। अ० शा० (I, 2)
7. याज्ञ० स्मृ० (I, 142)

होम किये जाते थे। तदोपरान्त ब्राह्मण तथा पुरोहित को दक्षिणा देकर वेद का अध्यापन आरम्भ किया जाता था।[1]

वेद का अध्ययन व्रतों को समाप्त कर अथवा वेदाध्ययन एवं व्रत दोनों ही पूरा करके, गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से स्नान समावर्त्तन किया जाता था।[2] गुरु की अनुमति प्राप्त कर समावर्तन-संस्कार करना चाहिए तथा उसके पश्चात् सवर्ण तथा लक्षणान्वित कन्या से विवाह करना चाहिए।[3] इससे स्पष्ट है कि यह संस्कार गृहस्थाश्रम में प्रवेश का द्वार माना जाता रहा है। इस संस्कार के लिए निर्धारित तिथि पर मध्याह्न के समय ब्रह्मचारी गुरु को प्रणाम करता था। तथा समिधा द्वारा वैदिक अग्नि को अन्तिम आहुति देता था। इस स्थान पर जल से भरे आठ कलश रखे जाते थे जो इस बात के प्रतीक थे कि समस्त दिशाओ से ब्रह्माचारी पर यश तथा सम्मान की वर्षा हो रही है। ब्रह्मचारी इन कलशों के जल से स्नान करते हुए देवगणों से अपनी समृद्धि, ऐश्वर्य पवित्रता तथा तेज के लिए प्रार्थना करता था। यह स्थान गृहस्थ-जीवन की शान्ति का भी परिचायक था। स्नान के बाद ब्रह्मचारी शुभ-वस्त्र, आभूषण एवं पुष्प आदि धारण करता था। गुरु का आशीर्वाद प्राप्त करने के बाद यह संस्कार समाप्त हो जाता था[4] तदनन्तर ब्रह्मचारी गुरुकुल से स्वगृह वापस जाता था।

प्रत्येक वेद के (अध्ययन के) लिए बारह वर्षों या पांच वर्षों का ब्रह्मचर्य होता है। कुछ लोगों की मान्यता है कि विद्याग्रहण के अन्त तक का(ब्रह्मचर्य का) काल है।[5]

वेद के एक भाग (मन्त्र या ब्राह्मण या अंग) का ज्ञान देने वाला उपाध्याय कहा जाता है और जो यज्ञ को (वरण करने पर) करता है वह ऋत्विक कहा जाता है। ये (गुरु आचार्य, उपाध्याय, ऋत्विक्) क्रमानुसार पूज्य हैं और माता इन सबसे श्रेष्ठ (पूज्यतमा) है।[6] मनु, भृगु और बृहस्पति का कथन है कि यज्ञोपवीत संस्कार के बाद गुरु शिष्य को वेद पढ़ावे।[7] शिष्य मन्त्रपाठ से पूर्व और अन्त में ओम् का उच्चारण करे। ओ3म, भूः, भुवः, स्वः कह कर बाद में गुरु गायत्री का उपदेश दे। शिष्य प्रातः और सांय गायत्री का 108 बार जप करे[8]। समावर्तन संस्कार तक शिष्य यज्ञ एवं भिक्षाचर्या

---

1. हि० स० -राजबली पाण्डेय पृ० 183
2. याज्ञ० स्मृ० (1,51)
3. म० स्मृ० (III, 4)
4. हि० स० -राजबली पाण्डेय पृ० 192-193
5. प्रतिवेदं ब्रह्मचर्य यादशाब्दानि पन्च वा।
   ग्रहणान्विकमित्येके केशान्तेश्चैव षोडशे।। -याज्ञ० स्मृ० पृ०I, 281
6. एकदेशमुपाध्याय ऋत्वियज्ञकृदुच्यते।
   एते मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी।। याज्ञ० स्मृ० पृ० I, 35
7. क) म० स्मृ० - (II ,70)
   ख) बृह० सं० (I, 222)
8. म० स्मृ० (II, 74-81)

करे और नीचे भूमि पर सोवे।[1] ब्राह्मण को गायत्री छन्द वाली, क्षत्रिय को त्रिष्टुप छन्द वाली और वैश्य को जगती छन्द वाली गायत्री का उपदेश देना चाहिए।[2]

वेदाध्ययन

केवल मन्त्रों को कण्ठस्थ कर लेना नहीं, प्रत्युत अर्थ भी समझना है।[3] वेदाध्ययन किए हुए व्यक्ति को बुद्धिमान समझा जाता है।[4] वेदाध्ययन से युक्त मनुष्य सदाचारी, शिष्ट एवं स्वस्थ होता है, इसी से उसे वैभवयुक्त पृथ्वी मिल जाती है और संसार आनन्दमयी हो जाता है।[5] वेद की शिक्षा में मोक्ष का उपदेश मिलता है, जिसके पश्चात् न सत् है न असत् और न सदासत्।[6] अतः बिना अर्थ जाने वेदाध्ययन करने वाला केवल भार वहन करने वाला है किन्तु जो अर्थ जानता है उसे आनन्द की प्राप्ति होती है, ज्ञान से उसके पाप हिल जाते हैं और उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[7] वेदाध्ययन में पांच बातें पाई ज़ाती हैं- वेद को कण्ठस्थ करना, उसके अर्थ पर विचार करना, बार-बार दुहराकर सदा नवीन बनाए रखना, जप करना (मन ही मन प्रार्थना के रूप में दुहराना) एवं दूसरे को पढ़ाना।[8] वेद को भूलना मद्य पीने आदि पापों के समान है, यह ब्रह्महत्या के समान भी कहा गया है।[9]

ज्ञानियों के वचनानुसार विद्या की यथार्थ उपासना अध्ययन से ही प्राप्त होती है, जो मनुष्य विद्या को नहीं अपनाते वे अज्ञानयुक्त होकर अंधकार में गिरते हैं।[10]

---

1. बृ० सं० (I, 225)
2. गायत्री त्रिष्टुब् जगतीभिर्यथाक्रमम्।। -बौ० स्मृ० (I, 2,11)
3. वे० सू० III/3/30
4. शिष्टाः शिष्टेभ्य एव भाषेरन् यं ह्येनमहंप्रश्न
   पृच्छामि न तं विवक्ष्यति, नह्ये नमध्येतीत। -गा० उ० (I, 12)
5. सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवां
   ध्यापक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वावित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको
   मानुष आनन्दः। -तै० उ० (8वां अनु०)
6. सर्वोषामेव गन्धानां पृथिवी हृदयं सर्वेषामेव रसानामापा हृदयं सर्वेषामेव रूपाणां तेजो हृदयं सर्वेषामेव स्पर्शानां
   वायुर्हृदयं सर्वेषामेव शब्दानामाकाशं हृदयं सर्वेषामेव
   गतीनामभव्यक्तं हृदयं सर्वेषामेव सत्वानां मृत्युर्हृदय
   मृत्युर्वे परे देव एकीभ तीति परस्तान्न
   सन्नासन्न सदसदित्येयांन्नार्वाणा नुशासनमिति वेदानु शासनमिति वेदानुशासनम।। सु०उ० (XIII,2)
7. नि० (I, 18)
8. दक्ष० स्मृ० (II, 34)
9. क) म० स्मृ० (XI,56)
   ख) याज्ञ० स्मृ० (III,228)
10. अध तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
    ततो भूयः इव ते तमो य उ विद्यायांर्ताः। -ई० उ० (I, 9)

विद्या और अविद्या इन दोनों का फल विपरीत है।[1] विद्या और अविद्या में विज्ञान और कर्म की भिन्न-भिन्न धारण विद्यमान है।[2] विद्या रूपी ज्ञान तत्व एवं अविद्या रूपी कर्म तत्व को जान लेना अत्यावश्यक है कर्म के अनुष्ठान से मनुष्य मृत्यु को पार करता है। और ज्ञान के अनुष्ठान से अमृतत्व का भोग करता है।[3] वेदाध्ययन प्रारंभ करने के लिए किए जाने वाले यज्ञोपवीत कर्म में गायत्री मंत्र का उपदेश दिया जाता है।[4] सभी वेदों का अध्ययन करने वाला सभी तीर्थों का स्नान किया हुआ माना जाता है।[5]

विद्या ग्रहण करने में आध्यात्मिक विद्या का अपना स्थान है। आध्यात्मिक विद्या से मनुष्य सम्भूति, स्थिति, व्यापकता और पंच भेदों का ज्ञान प्राप्त करता है।[6] जिससे अमरत्व की अनुभूति होती है। आध्यात्मिक विद्या से ही प्राणी को परमेश्वर का ज्ञान होता है[7] महर्षि अंगीरा के अनुसार ब्रह्मज्ञानी दो विद्याओं को ही जानने योग्य बताते हैं; उनमें एक परा और दूसरी अपरा कही गई हैं।[8] पराविद्या

---

1. दूरमेते विद्रीते विषूची।
अविधा या न विद्येति ज्ञाता।।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये।
न त्वां कामा वहवोऽलोलुपन्त:।। -कठो० उ० (II, 4)
2. तेनोभी कुरूतो यश्चैतदेव वेद यञ्च न वेद। नानातु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धायोपनिषदा
तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यवाक्षरस्यपव्याख्यानं भवति।। -छा० उ० (I, 10)
3. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।। -ई० उ० (I, 11)
4. देवदेव महाप्रज्ञ पाशच्छेद दृढव्रत।
शुकयस्य मम पुत्रस्य वेद संस्कार कर्मणि।।
ब्रह्मोपदेशकालोऽयमिदानी समुपस्थित:।
ब्रह्मोपदेश: कर्त्तव्यों भवताद्य जगदगुरो।। - शु० उ० (I, 2-3)
5. य इदमथर्वेशिरों ब्राह्मणाऽडधीते अश्रेत्रिय श्रोत्रियो भवित अनुपनीत उपनीतो भवति सोऽग्निपूतो भवति स वायुदूतो भवति स सूर्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सप्यपूतो भवति स सर्वदेवर्ज्ञातो भवति स सर्ववदैरनुध्यातो भवति स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति: तेन: सर्वे: ऋतुभिरिष्टं भवति गायत्र्या: षष्ठिसहस्राणि जप्तानि भवन्ति इतिहासपुराणानां रूद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि भवन्ति।
- अथर्व० उ० (7 श्लोक)
6. उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पन्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति।। - प्र० उ० (III, 12)
7. विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वे: प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञ: सर्वमेवाविवेशेति।। वही (IV, 2)
8. तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म
यद्ब्रह्मविदों वदन्ति परा चैवापरा च।। मु० उ० (1,1,4)

के द्वारा वह अविनाशी परमेश्वर तत्वपूर्वक जाना जाता है और अपरा विद्या में चारों वेद, शिक्षा, कल्प व्याकरण निरूक्त, छन्द और ज्योतिष सभी आते हैं।[1] अतः ब्रह्मविद्या उन्हीं को बतानी चाहिए जो वेद के जानने वाले ब्रह्मनिष्ठ, श्रद्धावान, नियमपूर्वक यज्ञ करने वाले हैं, जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत का पालन किया है और जो निष्काम कर्म द्वारा साधना करते हैं यह बात ऋचाओं में कही गई है।[2] इस सत्य को प्रथम अंगिश ऋषि ने बताया था। जिसने ब्रह्मचर्य पालन नहीं किया। वह इसे नहीं जान सकता। उन ब्रह्मज्ञानी ऋषियों को बारम्बार नमस्कार है।[3]

इस प्रकार वेदाध्ययन के साथ-साथ उसके लिए वैज्ञानिक विद्या का भी वर्णन किया गया है, जिसमें ब्रह्म को ही विज्ञान माना गया है ऐसी धारणा है कि विज्ञान से ही प्राणी जन्म लेते हैं, जीवित रहते हैं और अन्त में विज्ञान में ही लीन हो जाते हैं अतः तप के द्वारा ब्रह्म का जान लेना ही वैज्ञानिक शिक्षा है।[4] किन्तु जिसने सारे वेदों का अध्ययन कर लिया मानों सभी तीर्थों में स्नान कर लिया।[5] युवावस्था की प्राप्ति तक ब्रह्मचारी रह कर वेदाध्ययन करना चाहिए।[6] ब्रह्मचर्य आश्रम के समाप्त हो जाने पर गुरु की आज्ञा से ब्रह्मचारी का विद्यार्थी जीवन समाप्त होता है।[7] वेदाध्ययन के पश्चात् ही व्यक्ति को कुटुम्ब में प्रविष्ट होने की आज्ञा मिलती है।[8]

---

1. तत्रापरा, ऋग्वेदों, यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा
   कल्पो व्याकरणं निरूक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
   अथ परा यया तदक्षरण्मधिगम्यते।। — वही (1,1,5)
2. तदेतदृचाऽभ्युक्तम् क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः
   स्वं जुहवत एकर्षि श्रद्धयन्तः।
   तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत,
   शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्।। — वही (III,2,10)
3. तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाचं नैतदचीर्ण वतोऽधीते।
   नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः।। — वही (III,2)
4. मनोब्रह्मेति व्यजनात् मनसोध्येव शल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति।
   मनः प्रत्यन्तभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुयरेववरूणं पितर मुपससार।
   अधीहि भगवो ब्रह्मेति तँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मैति।
   सतपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा। — तै० उ० (IV, 5)
5. सर्वान् वेदानधीतो भवति। सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति।। — गा० उ० I, 12
6. ब्रह्मचारी वेदमधीत्य वेदोक्तचरति ब्रह्मचर्यो
   दारासाहत्य पुत्रानुष्पाद्यताननुरूपोपाधिभिर्वित्य। — कठरू० उ० (I,3)
7. ब्रह्मचर्ताश्रमेऽक्षीणे गुरूश्रूषणे रतः।
   वेदानधीत्याणुज्ञात उच्यते गुरुणाश्रमी।। — कुडि० उ० (1 श्लोक)
8. छा० उ० (XV, 1)

आरम्भिक वैदिक कालों में भी ब्राह्मण एवं विद्या में अभेद्य सम्बन्ध था। ब्रह्मविद्या में ब्राह्मणों ने विशिष्ट गति प्राप्त की थी। कुछ राजाओं ने भी इस विद्या में इतनी महत्ता प्राप्त करली थी कि ब्राह्मण लोग उनसे ज्ञान ग्रहण करते थे। उपनिषदों में कुछ ब्रह्मविद् क्षत्रियों के नाम आते हैं जिनके यहां ब्राह्मण लोग शिष्य रूप में उपस्थित होते थे यथा-याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से, बालाकि गार्ग्य ने काशिराज अजातशत्रु से, श्वेतकेतु आरूणेय ने प्रवाहण जैवलि से पंच ब्राह्मणों ने केकयराज अश्वपति से ज्ञान प्राप्त किया।[1]

उपनिषदों के कुछ अंशों से पता चलता है कि ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी जीवन) की अवधि 12 वर्ष की थी।[2] श्वेतकेतु आरूणेय 12 वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचारी हुए और 24 वर्ष की अवस्था मे सभी वेदों के पंडित हो गए।[3] यह भी प्रकट होता है कि 12 वर्षो उपरान्त बहुधा शिष्य लोग गुरू के यहां से चले आते थे। किन्तु ब्रह्मचर्य लम्बी अवधि का भी हो सकता था।[4] इन्द्र प्रजापित के यहा 101 वर्ष तक (32 वर्ष की तीन अवधियां+5 वर्ष) विद्यार्थी रूप में रहे।[5]

कुछ ब्राह्मण-भागों (कृष्ण यजुर्वेदीय) के अध्ययन के पूर्व एक वर्ष तक शुक्रिय, औपनिषद्, गोदान एवं सम्मित नामक व्रत किए जाते थे, जिनका वर्णन यहां अनावश्यक हैं। संस्कार कौस्तुभ ने महानाम्नी व्रत, महाव्रत, उपनिषद्-व्रत एवं गोदान व्रत का विस्तार के साथ वर्णन किया है।[6]

यदि कोई विद्यार्थी विशिष्ट व्रतों को नहीं करता था, तो उसे प्रायश्चित नामक तप 3 या 6 या 12 बार करके प्रायश्चित करना पडता था। यदि ब्रह्मचारी अपने प्रतिदिन के कर्त्तव्याचार में गड़बडी करता था। तथा शौच आचमन, सन्ध्या-प्रार्थना, दर्भ प्रयोग, भिक्षा, समिधा शूद्र से दूर रहना, वस्त्र-धारण, लंगोटी, याोपवीत, मेखला, दण्ड एवं मृगचर्म धारण करना, दिन में न सोना, छत्र न धारण करना, जूता न पहनना, माला न धारण करना, आमोदपूर्ण स्नान से दूर रहना, चन्दन का प्रयोग न करना, काजल न लगाना, जुआ से दूर रहना, नाच, संगीत आदि से दूर रहना, नास्तिकों से बातें न करना आदि नियमों से पालन में कोई ढिलाई करता था तो उसे तीन कृच्छों का प्रायश्चित, व्याहृतियों के साथ तथा प्रत्येक के साथ-साथ

---

1. क) बृ० एवं कौषीतकी (II, 1,4)
   ख) छा० उ० (V, 3)
   ग) वही (V, 2)
2. छा० उ० - (IV/10/1)
3. वही - (VI/1/2)
4. वही - (IV/10/1)
5. वही - (VIII/11/3)
6. बौ० गृ० सू० - (III/2/4)

अलग होम करना पड़ता था। ब्रह्मचारी के लिए सम्भोग सबसे बड़ा गर्हित अपराध था। ऐसे अपराधी को अवकीर्णो कहा जाता था।[1]

संस्कार-संख्या में चार वेद-व्रत नामक संस्कार भी हैं। बहुत-सी स्मृतियों ने सोलह संस्कारों में इनकी भी गणना की हे। इनके नाम एवं विधियों के विषय में बहुत विभिन्नता पाई जाती है हम यहां संक्षेप में चार वेदव्रतों का वर्णन उपस्थित करेंगे। चार वेद-व्रत ये हैं (1) **महानाम्नी व्रत**, (2) **महाव्रत** (3) **उपनिषद् व्रत** एवं (4) **गोदान।**[2]

व्रतों में चौल कर्म से परिदान तक के सभी कृत्य जो उपनयन के समय किये जाते हैं। प्रत्येक व्रत के समय दुहराए जाते हैं।[3] पवित्र गायत्री से दीक्षित होने के उपरान्त चार व्रत किए जाते हैं, यथा शुक्रिय (जो वेद के प्रधान भाग के अध्ययन के पूर्व किया जाता है) शाक्वर, व्रातिक एवं औपनिषद् (अन्तिम तीन ऐतरेयारव्यक के विभिन्न भागों के अध्ययन के पूर्व सम्पादित होते हैं।) इनमें शुक्रिय व्रत तीन या 12 दिन या। वर्ष तक चलता था तथा अन्य तीन क्रम से वर्ष-वर्ष भर किए जाते थे।[4] इन चारों व्रतों में प्रत्येक व्रत के आरम्भ में ब्रह्मचारी को नवीन मृगचर्म, यज्ञोपवीत एवं मेखला धारण करनी पड़ती थी।[5] जो सामवेद से सम्बन्धित है, गोदाणिक, व्रातिक, आदित्य, औपनिषद्, ज्येष्ठसामिक नामक व्रतों का वर्णन करता है जिनमें प्रत्येक एक वर्ष तक चलता है। गोदान व्रत का सम्बन्ध गोदान संस्कार से है। इस कृत्य में सिर, दाढी-मूंछें मुडा ली जाती हैं। झूठ, क्रोध, सम्भोग, गन्ध, नाच, गाना, काजल, मधुं, मांस आदि का परित्याग किया जाता है और पांव में जूता नहीं पहना जाता है। गोभिल के अनुसार मेखला धारण, भोजन की भिक्षा, दण्ड लेना, प्रतिदिन् स्नान, समिधा देना, गुरु चरण-वन्दन (प्रातःकाल) आदि सभी व्रतों में किए जाते हैं।[6]

शिक्षा देने का मौखिक ढंग सर्वोच्च एवं सबसे सस्ता था। प्राचीनकाल में लिखने की सामग्री सरलता से नहीं मिल सकती थी। और जो प्राप्त थी वह बहुमूल्य थी, अतः मौखिक ढंग को विशेष महत्ता दी गई। आज भी संस्कृत विद्यालयों में यही ढंग अपनाया जाता है। आधुनिक काल में जबकि लिखने एवं मुद्रण की सारी सुविधाएं प्राप्त हैं, सैंकड़ों ऐसे ब्राह्मण मिलेंगे जिन्हें न कवेल सम्पूर्ण ऋगवेद

---

1. क) आ० ध० सू० - I/9/27/8
   ख) याज्ञ० स्मृ० . III, 280
2. गो० ब्रा० . VIII, 15
3. आश्व० गृ० सू० . I/ 22/20
4. शा० गृ० सू० . II,10-11
5. वही . II, 12
6. गो० गृ० सू, (III/1/26-32)

(लगभग 10,580 मंत्र) कण्ठस्थ हैं, प्रत्युत्त ऋग्वेद के पद ऐतरेय ब्राह्मण, आरण्यक, एवं छः वेदांग (जिनमें पाणिनि के 4000 सूत्र एवं यास्क का विशाल निरूक्त भी सम्मिलित है) इन ब्राह्मणों में कुछ तो ऐसे विभ्राटजन मिलेंगे, जिन्हें इतना बड़ा साहित्य कण्ठ तो हैं, किन्तु वे इसके एक शब्द का अर्थ भी नहीं कह सकते।[1]

"जो व्यक्ति पुस्तक के आधार पर ही अध्ययन करता है, गुरु से नहीं, वह सभा में शोभा नहीं पाता"[2]

याज्ञवल्क्य पर लिखते समय अपशर्क ने चतुर्विंशतिमत को उद्धृत करते हुए वेद वेदांग, स्मृतियों, इतिहास, पुराण, पन्चतन्त्र, गाथा, नीतिशास्त्र विक्रय करने वालों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रायश्चितों की व्यवस्था की है। पुस्तक-प्रयोग के विरूद्ध यहां कहा गया है कि ज्ञानप्राप्ति के मार्ग में यह छः अवरोधों में एक अवरोध है।[3]

किसी को प्रणाम करना अभिवादन कहलाता है। अभिवादन तीन प्रकार का होता है। नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। नित्य (प्रतिदिन के लिए आवश्यक), नैमित्तिक (विशिष्ट अवसरों पर ही करने योग्य) एवं काम्य (किसी विशिष्ट काम या अभिकांक्षा से प्रेरित होने पर किया जाने वाला)।[4] नित्य के विषय में कहा है कि "प्रतिदिन विद्यार्थी को रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठना चाहिए और गुरु के सन्निकर खड़े होकर यह कहना चाहिए कि "यह मैं प्रणाम करता हूं, उसे अन्य गुरुजनों एवं विद्वान ब्राह्मणों को प्रातः भोजन के पूर्व प्रणाम करना चाहिए।[5] नैमित्तिक अभिवादन कभी-कभी होता है, यथा किसी यात्रा के उपरान्त।[6] काम्य अभिवादन लम्बी आयु की आशा से, कल्याण के लिए कोई भी गुरुजनों को प्रणाम कर सकता है।[7]

अभिवादन में न केवल झुकना होता है, प्रत्युत 'अभिवादये.... आदि' कहना होता है किन्तु नमस्कार में सिर झुकाकर हाथ जोड़ लेना मात्र होता है। नमस्कार देवताओं, ब्राह्मणों, सन्यासियों आदि के लिए किया जाता है। विष्णु के अनुसार ब्राह्मण

---

1. ध० शा० इ० - पी० वी० काणे पृ० 242
2. पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसंनिधौ। भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भइव स्त्रियाः।।
   - ना० स्मृ० (I, 154)
3. द्यूतं पुस्तकशुश्रूषा नाटकासक्तिरेव च।
   स्त्रियस्तन्द्रीं च निद्रा च विद्याविधनकराणि षट्।। - स्मृ० च० (I, 52)
4. आप० ध० सू० (I, 2, V, 12-13)
5. याज्ञ० स्मृ० (I, 26)
6. आप० ध० सू० (I, 2, V, 14)
7. म० स्मृ० (II, 120- 121)

को सभा, यज्ञ, राजगृह में अभिवादन न करके नमस्कार मात्र करना चाहिए। नमस्कार में हाथों की आकृतियां निम्न रूप से होती हैं- विद्वान को नमस्कार करने में बकरी के कान की भांति हाथ जोडने चाहिए, यतियों को नमस्कार नहीं करना चाहिए। देवालय, देवमूर्ति, बैल गोशाला, गाय, घी, मधु, पवित्र तरू (जिसके चारों ओर ईटों का चबूतरा बना हो), चौराहा, विद्वान, गुरु, विद्वान एवं धार्मिक ब्राह्मण, पवित्र स्थल की मिट्टी की प्रदक्षिणा(बाएं से दाहिने) करनी चाहिए।[1]

विद्यारम्भ के बाद दूसरा शैक्षणिक-संस्कार उपनयन था। उपनयन से ही वास्तविक शिक्षा का आरम्भ मान सकते हैं। इसमें विद्यार्थियों को गुरु-आश्रम में रहकर शिक्षा अर्जित करनी होती थी। उपनयन के बाद ही बालक ब्रह्मचारी बनकर गुरु के घर रहकर अध्ययन करता था। गुरु आश्रम में उसे गुरु सुश्रूषा, शौच तथा आचार व्रतों का पालन करते हुए सावधानी के साथ स्थिर वुद्धि से वेदाध्ययन करना होता था।[2]

गृह शिक्षा समाप्त होने पर उपनयन संस्कार का समय आता था। इस संस्कार की व्यवस्था अधिकतर ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्यों के लिए थी। उपनयन का अर्थ है- गुरु के पास ले जाना। उपनयन संस्कार विद्यार्थी का दूसरा जन्म माना जाता था। यह उसका आध्यात्मिक जन्म होता था। गुरु की शिष्य के आध्यात्मिक जन्म के बाद वही भूमिका होती थी जो माता पिता की बालक को शारीरक जन्म देने की होती है। उपनयन संस्कार के पहले बालक पशु या शूद्र माना जाता था। उपनयम संस्कार के पश्चात् उसका दूसरा जन्म होता था अतः उसको द्विज कहते थे।

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।

वेद पाठी भवेद् विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।।

इस प्रकार का प्रवेश आजकल के विद्यालय में शुल्क जमा कर प्रवेश की भांति नहीं था बल्कि गुरुजी छात्र को मानो कि अपनी कोरव में समेट कर उसमें अपनी आत्मा प्रवेश करते थ। इसी कारण उपनयन संसकार के पश्चात् उसका नया जन्म माना जाता था और गुरुजी उसके आध्यात्मिक पिता थे तथा छात्र को द्विज कहा जाता था। गुरुजी बालक से पूछते थे-कस्य ब्रह्मचारी असि? अर्थात् तुम

---

1. क) देवालयं चैत्यतरूं तथैव च चतुष्पथम्। विद्याधिकं गुरुं देवं बुधः कुर्यात्प्रदक्षिणम।।
   मा० पु० (XXXIV, 41-42)
   ख) शुचि देशमनडवाहं देव गोष्ठं चतुष्पथम्। ब्राह्मणं धार्मिकं चैत्यं नित्यं कुर्यात्प्रदक्षिणम्।।
   शा० प० (XXXXXXXXXIII, 8)
   ग) ब्र० पु० (I, 3, 40)
   घ) वा० पु० (XIV, 52)
2. याज्ञ० स्मृ० (I, 15)

किसके विद्यार्थी हो? बालक उत्तर देता था- भवतः(आपका) और उसको आश्रम में प्रवेश करा लिया जाता था उपनयन संस्कार के पश्चात् विद्यार्थी पर अनुशासन प्रणाली लागू हो जाती थी, जैसे-आश्रम के लिए जंगल से लकड़ी काट[1] कर लाना, पानी लाना, भिक्षा के लिए जाना, सादा जीवन व्यतीत करना इत्यादि।

उपनयन संस्कार जीवन की एक अवस्था की समाप्ति[2] और दूसरी अवस्था अर्थात् विद्योपार्जन की अवस्था के आरंभ का द्योतक था।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं, इनमें पहले तीन द्विज हैं, इनका पहला[3] जन्म माता के गर्भ से और दूसरा मौञ्जी(उपनयन) धारण करने से होता है

ब्रह्मचारी पलाश का दण्ड, मृग. चर्म, यज्ञोपवीत और मूंज की मेखला धारण करता था। जीवन निर्वाह के लिए ब्राह्मणों के घर से भिक्षा मांगकर गुरु[4] की आज्ञा से अन्न का सत्कार करते हुए मौन होकर भोजन ग्रहण करता था।

पचीस वर्ष का ब्रह्मचर्य का समय है। ब्राह्मण का उपनयन जन्म अथवा गर्भ से आठवें[5] वर्ष में क्षत्रिय का 11वें वर्ष में तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में करने का निर्देश है। उपनयन संस्कार के पहले ओंकार का उच्चारण करें, इसके अनन्तर सात[6] व्याहित पढ़े और इसके उपरान्त गायत्री को पढ़कर पीछे वेद का पढ़ना प्रारंभ करें। इसी प्रकार गुरु नित्य कर्म, शौच, स्नान, सन्ध्या, गायत्री, अग्निकार्य, प्राणायाम, स्वाध्याय आदि की भी शिक्षा देते थे। शिष्य भी सामाहित चित्त से गुरु की उपासना करता हुआ स्वाध्याय करता था और गुरु द्वारा बुलाये जाने पर अध्ययन के लिए उपस्थित होता था। शिष्य गुरु से कुछ भी छिपाते नहीं थे। गुरु एवं[7] शिष्य दोनों ही को मन, वचन और कर्म से एक दूसरे का हित करना चाहिए।

बाल्यावस्था में बालक के कोमल मन पर बड़ी सरलता से अच्छे या बुरे प्रभाव

---

1. आ॰ भा॰ शि॰ स॰ - बी॰ बी॰ अग्रवाल पृ॰ 4-5
2. प्रा॰ भा॰ इति॰ सं॰ - बी॰ जी॰ गोखले पृ॰ 138
3. ब्रह्म- क्षत्रिय-विट्- शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
   मातुरेकं प्रजननाद् मौञ्जीधारणायऽपरम्।। - कौ॰ स्मृ॰ (II, 1)
4. याज्ञ॰ स्मृ॰ (I, 29-31)
5. क) पञ्चविंशतिपर्यन्तं ब्रह्मचर्य निगद्यते।
   गर्भाष्टमेऽष्टमेअष्टमें वाब्दे ब्राह्मणास्योनायनम्।।
   गर्भादिकादशे राज्ञो द्वादशे तु विशः स्मृतम्। - वही (9-10 श्लोक)
   ख) गर्भाष्टमेंऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्।
   राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम्।। -याज्ञ॰ स्मृ॰ (I, 14)
   ग) वि॰ स्मृ॰ I, 13
6. प्रणवं प्राक् प्रयुंजीत व्याहृतोस्तदनंतरम्
   गायत्रीं चानुपूर्व्येण ततो वेदं समारभेत्।। - अथसं॰ स्मृ॰ (I, 5)
7. याज्ञ॰ स्मृ॰ (I, 26-27)

डाले जा सकते हैं। अतः इस कोमलमानसिक अवस्था में उसके मस्तिष्क पर संस्कृति एवं उत्कृष्ट आचरण की छाप डालना कठिन नहीं होता। इसके अतिक्ति उसकी स्मृति भी प्रखर एवं[1] ग्रहणशील होती है। अतएव शिक्षारम्भ का काल बाल्यकाल ही निर्धारित किया गया, और उसकी अवस्था उपनयन संस्कार के आधार पर पांच अथवा आठ वर्ष निर्धारित की गयी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक स्नातक से आशा की जाती थी कि वह गृहस्थाश्रम में भी स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञान को अविच्छिन्न बनाये रखेगा। याज्ञवल्क्य ने विशेष रूप से वर्षाकाल में स्वाध्याय का समय बढ़ाना श्रेष्ठ समझा है।[2] यदि पूर्व पाठ एकदम[3] विस्मृत हो गए हों तो कुछ समय के लिए गुरुकुल में रहना श्रेष्ठ समझा है। यही कारण है कि समावर्तन के अवसर पर आचार्य स्वाध्याय में प्रमाद न करने का विशेष रूप से उपदेश देते थे।[4] वस्तुतः उस काल में आज की भांति मुद्रण कला न थी अतः समस्त ग्रन्थ विद्यार्थियों के स्मृति पटल पर ही अंकित किए जाते थे और ऐसी अवस्था में उनके स्वरूप को शुद्ध बनाए रखने के लिए पुनारावृत्ति अत्यावश्यक थी। अतएव[5] छात्र में उन्नति एवं ज्ञान प्राप्ति की उत्कृष्ट इच्छा होना परमावश्यक था।

अपने-अपने विषयों के आधार पर विद्याथियों को नित्य सम्बद्ध विषयों का अभ्यास कराया जाता था। काव्य एवं साहित्य के विद्यार्थी निरन्तर निबन्ध एवं काव्य रचना का, कर्मकाण्ड के विद्यार्थी यज्ञ कराने का तथा लक्षण एवं चित्रकला के विद्यार्थी प्रतिदिन मूर्तियां बनाने एवं चित्र बनाने का अभ्यास करते थे। इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक एवं माध्यमिक पाठशालाओं के विद्यार्थी[6] प्रतिदिन नवीन ग्रन्थों का पाठ एवं पुनरावृत्ति द्वारा उनका अभ्यास करते थे।

उपनयन

अथर्ववेव में उपनयन शब्द प्रयोग ब्रह्मचारी को ग्रहण करने के अर्थ में किया गया है।[7] यहां इसका आशय आचार्य के द्वारा ब्रह्मचारी की वेदविद्या में दीक्षा से हैं।

ब्रह्मचारी स्वंय अपने को आचार्य के पास उपस्थित करता है। अपने को आचार्य के प्रति समर्पित करता है, तब आचार्य उसे अपना ब्रह्मचारी बनाता है।[8] आचार्य ब्रह्मचारी का हाथ पकड़ कर कहता है। कि इन्द्र का तू ब्रह्मचारी है। अग्नि

---

1. माता शत्रु पिता वैरी बालो येन न पाठितः। - सु० र० स० पृ० 14
2. याज्ञ० स्मृ० (III, 228)
3. यथा विद्या न विरोचते पुनरायार्चमुपेत्य नियमेन साधयेत्। - आप० ध० सू० (II,2,24)
4. स्वाध्याय - प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। - तै० उ० (11 अनु०)
5. म० स्मृ० - (II, 191)
6. भा० सं० ना० -डा० लता सिंहल पृ० 150
7. आचार्य उपनयनमानों ब्रह्मचारिणं कृणुते ——।। -अ० वे० (XI, 5,3,)
8. ब्रह्मचर्यमागामित्याह। ब्रह्मणडएवैतदात्मानं निवेदयति ब्रह्मचार्यसानीत्याह ब्रह्मणऽएवैतदात्मानं परिददात्यथैन माह को नामाऽसीति प्रजापतिर्वै कः प्राजापत्यमेवैनं तत्कृत्वोपनयते - श० ब्रा० (XI, 5, 4,1)

तेरा आचार्य है। मैं तेरा आचार्य हूं। ये जो देवता सबसे बली और सबसे श्रेष्ठ हैं। इन्हीं बलिष्ठ और श्रेष्ठ देवताओं के लिए अपने को अर्पण करने से ब्रह्मचारी किसी विपत्ति में नहीं फंसता है।[1]

अतः आचार्य उपनयन संस्कार के समय अपने ब्रह्मचारी के लिए जल और औषधियों को अर्पित करता है। आचार्य ब्रह्मचारी को सब भूतों के कल्याण के लिए समर्पित करता है, ऐसा करने से वह किसी विपत्ति में नहीं पड़ता है।[2]

गुरु शिष्य का उपनयन-संस्कार करके बाह्यआभ्यन्तर की पवित्रता की शिक्षा देकर स्नान, आचमन, संध्यावन्दनादि, समिधा धन की शिक्षा देते थे।[3] यही नहीं, अपितु शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी के लिए यह परम्परा रही है। अपनी संस्कृति के अनुसार शिक्षा-प्राप्ति का क्रम ग्रन्थों में उक्तरीत्या प्राप्त है। पूज्य गुरुदेव के बुलाने पर सुनियन्त्रित होकर वेदाध्ययन करें। प्रारम्भ और समापनपर गुरुजी के चरणों में प्रणाम करें।[4]

अपने पितृ-पितामय से अनवच्छिन्न प्राप्त स्वशारवा एवं वेदों का अध्ययन ब्रह्मचर्य-व्रतपूर्वक करें। विद्या से स्नातक होने पर पुनः आचार्य उपदेश (शिक्षा) ग्रहण कराते हैं-

सत्य बोलो। धर्माचरण करो। स्वाध्याय में प्रमाद मत करो। माता को देवता समझो। पिता को देवता मानो। आचार्य को देवता समझो।[5] इन वाक्यों द्वारा सर्वाङ्गीण शिक्षा प्राप्त करता हुआ शिष्य मानवीय जीवन व्यतीत करके पुण्य का भागी बनता है। उक्त वाक्यों का निष्कर्ष यही निकला कि पाशविक प्रवृत्ति से निवृत्त होकर मानवता को प्राप्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

उपनयन के पश्चात् गुरु अपने समागत शिष्यों को ऐसे शिष्टाचार की शिक्षा

---

1. अथास्य हस्तं गृह्णाति। इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निशचार्य
स्तवा-स्तवा सावित्येते वै श्रेष्ठे बलिष्ठे देवते ऽएताभ्यामेवैनं
श्रेष्ठाभ्यां बलिष्ठाभ्यां देवाभ्यां परिददाति तथा हास्य ब्रह्मचारी न कां चनार्तिमार्छति
न स यऽएवं वेद।। -श० ब्रा० (XI 5, 4, 2)
2. अथेनं भूतेभ्यः परिददाति। प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामीत्येते
वै श्रेष्ठे वर्षिष्ठे देवतेडएताभ्यामेवैन श्रेष्ठाभ्यां वर्षिष्ठाभ्यां देवताभ्यां परिददाति
तथा हास्य ब्रह्मचारी न कां चनार्तिमार्छति न स यऽएवं वेद।। -वही (XI, 5,4,3)
3. उपनीय गुरु : शिष्यं शिक्षयेच्छौच्मादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनभेव च।। -म० स्मृ० (II, 9)
4. छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत् सुयन्त्रितः।
उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत्।। - श्रोमद्भा० VII/ 12/3)
5. सत्यं वद। धर्म चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।
मातृदेवचो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। कल्याण-शिक्षाङ्क पृ० 89

देते थे कि किस प्रकार अपने गुरु, सहपाठी और अतिथि के साथ व्यवहार करना चाहिए। इस शिष्टाचार की शिक्षा के साथ-साथ बालकोंमें नियमित नित्यकर्म, संध्यावन्दन, हवन, गुरु शुश्रूषा तथा अपने से बडे छात्रों के प्रति आदर का संस्कार डाला जाता था। ऐसे शिष्टाचार का संस्कार पड़ चुकने पर ही बालक की शिक्षा प्रारम्भ होती थी।[1]

वैश्वानर विद्या का उपदेश सामान्यतः उपनयन के बाद ही दिया जाता था किन्तु छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार उपनयम की अभिनावी वैश्वानर विद्या का उपदेश दिया जाता है।[2]

आचार्य शिष्य से कहता है कि तू ब्रह्मचारी है, इसलिए तुझे ब्रह्म को अर्पित करता हूँ। अमृत का तू पान कर, वीर्य का उपार्जन कर, आत्म के तेज् को ब्रह्मवर्चस से प्रज्वलित होकर तू मरे नहीं, तू किसी विपत्ति को प्राप्त न होवे।[3]

आचार्य ब्रह्मचारी को सावित्री का उपदेश एक वर्ष के बाद देता है। वह गर्भस्थ शिशु के समान एक वर्ष भर आचार्य के अधीन रहता है। सभी प्रकार के शिष्टाचारों से युक्त बालक को सावित्री का उपदेश दिया जाता था।[4] आचार्य अपने शिष्य के ऊपर दाहिना हाथ रखकर गर्भी हो जाता है।[5] ब्रह्मचारी आचार्य के दक्षिण की ओर बैठता था।[6] आचार्य का मुख पूर्व की ओर और शिष्य का मुख पश्चिम की ओर होता था।

---

1. क० शि० - पृ० 114
2. तान्होवाच प्रातर्व : प्रत्तिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वाहणे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवेदुवाच।।
   छा० उ० (XI,7)
3. ब्रह्मचार्यसीत्याह। ब्रह्मणऽएवैनं तत्परिददात्यापोऽशानेऽयमृतं वाऽआपोऽमृतमशानेत्येवैनं तदाह कर्म कुर्विति वीर्य वै कर्म वीर्य कुर्वित्येवैनं तदाह समिधमाधेहीति समिन्त्स्वात्मानं तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेत्येवैनं तदाह मा सुषुप्थाऽइति मा मृथाऽइत्येवैनं तदाहापोऽशानेत्यमृतं वाऽआपोऽमृतमशानेत्येवैनं तदाह तदेनमुभयतोऽमृतेन परिगृहणाति तथा हास्य ब्रह्मचारी न कांचनर्तिमार्छति न स यऽएव वेद।।
   · श० ब्रा० (XI 5,4,5)
4. अथास्मै सावित्रीमन्वाह। तां ह स्मैतां पुरा संवत्सरेऽन्वाहुः
   संवत्सरसंमिता वै गर्भाः प्रजायन्ते जातऽरवास्मिस्तद्वाचं दध्मऽइति।।
   -वही (XI 5,4,6)
5. आचार्यो गर्भी भवति हस्तमाधाय दक्षिणन्। तृतीयस्यां स जायते सावित्र्या सह ब्राह्मेऽइति सद्यो हत्वाव ब्राह्मणानुबूयादाग्नेयोवै ब्राह्मणः सधो बोऽअग्निर्जायते तस्मात्सधेऽएवं ब्राह्मणायानुब्रूयात्।।
   -वही (XI 5,4,14)
6. अथ हैके दक्षिणतः। तिष्ठते वाऽऽसीनाय बाऽन्वाहुर्न तथा कुर्याद्यो हैनं तत्र ब्रूयाद्बुल्ब न्वाऽअयभिममजीजनत बुल्बो भविष्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यात्तस्मात्पुर स्तादेव प्रतीचे समीक्षमाणायानुब्रूयात्।।
   श० ब्रा० (XI, 5, 4, 15)

आश्रम में गुरु के पास जाकर शिक्षा ग्रहण करना ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य माना गया है। किन्तु शिक्षा[1] तभी ग्रहण की जा सकती है। जब विधिवत उपनयन संस्कार किया गया हो।

अतः आचार्य ब्रह्मचारी के लिए सावित्री का उपदेश एक एक पद से उच्चरित करता है, फिर आधा मन्त्र उपदिष्ट कर सम्पूर्ण सावित्री का उपदेश देता था। ऐसा करने से ब्रह्मचारी उसका शुद्ध उच्चारण करके भली-भांति स्मरण कर सकता था।

आचार्य ब्रह्मचारी को उपदिष्ट करता है कि वह शहद न खावे[2]। मधु अन्न का रस है। ऐसा न हो कि वह अन्न के अन्त तक पहुंच जाए।

इसके पश्चात् विद्यार्थी को आचार्य के द्वारा ब्रह्मविद्या की शिक्षा देने के लिए स्वीकार किए जाने की विधि उपनयन संस्कार है। उपनयन का मौलिक अर्थ है "आचार्य के द्वारा ग्रहण किया जाना" उप + नी का अर्थ 'धारण करना' है। प्रत्येक आचार्य स्वयं अपने विद्यार्थियों का उपनयन करता था। जिन-जिन आचार्यों के पास कोई व्यक्ति ब्रह्मविद्या पढ़ने जाता था, वे सभी[3] उसका उपनयन कर सकते थे। उपनयन का दूसरा नाम आचार्यकरण मिलता है।

इस संस्कार के पश्चात् प्राचीनकाल में बालक का ब्रह्मचर्याश्रमजीवन आरम्भ होता था प्राचीनकाल में आचार्यों की धारणा थी कि विद्यार्थी को पूर्ण रूप से जब तक अपना नहीं लिया जाता, तब तक उसे समीचीन विधि से शिक्षा नहीं दी जा सकती थी।

आपस्तम्ब और भारद्वाज विद्या की प्राप्ति को उपनयन का उद्देश्य मानते हैं,[4] उपनयन विद्याध्ययन के लिए इच्छुक व्यक्ति को श्रुति के अनुसार संस्कार को कहते हैं। किन्तु आगे आगे चलकर संस्कार के कर्मकाण्ड का अनुष्ठान और व्रतादेश संस्कार के प्रधान प्रयोजन हो गए और शिक्षा गौण। इस मत के प्रथम प्रतिपादक गौतम थे।[5] अड़तालिस संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति ब्रह्मा और ऋषियों का सान्निध्य प्राप्त करता है।

आचार्य चरक और सूश्रुत आयुर्वेद के प्राचीन विद्वान आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए एक विशेष उपनयन संस्कार की व्यवस्था देते हैं। वैद्यक वैदिक शिक्षा की भांति

---

1. इत्युक्तस्तान्स होवाच नारद। सत्कुलभवोपनीतः सभ्यमुपनयन पूक चतुश्चत्वारिंशत्सकासम्पन्नः स्वभिमतैकगुरुसमीपे स्वशाखाध्ययनपूर्वकं सर्वविद्यान्यासं कृत्वा।। -ना० उ० (I, 2)
2. न ब्रह्मचारी सम्मध्यवश्नीयादोषनधीनां वाडएष परमो रसो यन्मुध नेदन्नाद्यस्यान्तं गच्छानीत्यथ।। -श० ब्रा० (XI, 5,4,18)
3. सम्माननोत्सज्जाचार्यकरण ज्ञानभृति विगण नत्ययेषुनियः।
आचार्यकरणमाचार्यक्रिया, मागवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्मसीप प्रापयति।। -पा० सू० (I, 3, 36)
4. उपनयन विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कार :। आप० ध० सू० (I, 1,1,9)
5. यस्य तु खलु संस्काराणामेकदेशोऽप्यष्टावात् मगुणा
अथ स ब्राह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति ।। गो० ध० सू० (I, 8, 26)

सिद्धान्त और प्रयोग में किसी वर्णन- विशेष का एकाधिकार न था। अतः सुश्रुत का कथन है कि क्षत्रिय और वैश्य वैद्य अपने वर्ण के विद्यार्थियों को वैद्यक पढ़ा सकता है।[1] सुश्रुत सम्प्रदाय के विद्वान तो शूद्र विद्यार्थियों को भी आयुर्वेद की शिक्षा देने के पक्ष में थे। परन्तु उनके उपनयन में मन्त्रोच्चार वर्जित था[2] आयुर्वेदिक उपनयन एक लघु संस्कार था जो वैदिक उपनयन के ही आधार पर बना था। इसके लिए कोई शुभ दिन चयनित कर लिया जाता था। दर्भ, समिधा, पुष्प आदि एकत्र कर लिए जाते थे। इस संस्कार के लिए एक ही वेदिका बनाई जाती थी। विभिन्न देवताओं और ऋषियों को पहले तो आचार्य, फिर विद्यार्थी घी और मधु नैवेद्य समर्पित करते थे। इस आहुति में स्वभावतया धन्वन्तरि, अश्विन, इन्द्र प्रजापति और अन्य सूत्रकारों का जिनका आयुर्वेद के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध था, विशेष आदर पूर्ण स्थान था। वेद पर आचार्य और विद्यार्थी दोनों अग्नि की परिक्रमा करते हैं। तदनन्तर ब्रह्मचारी ब्राह्मणो और संभ्रांत वैद्यों की अर्चना करता था। अग्नि को साक्षी मानकर आचार्य विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य-जीवन को नियमों के पालन करने तथा काम, क्रोध, मद, लोभ, आलस्य, असत्य और क्रूरता के परित्याग की शपथ दिलाता है[3] आशा की जाती है कि ब्रह्मचारी परिश्रमी और ज्ञानान्वेषी होगा तथा अपने आचार्य में विश्वास रखेगा। अध्यापक से आशा की जाती है कि वह बिना किसी भेद भाव के शिष्य को अपना सर्वस्व ज्ञान समर्पित कर दें।

आयु

प्राचीन शिक्षा-पद्धति के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम शिक्षा प्राप्त करने का आश्रम है। यह शिक्षा उपनयन संसकार के साथ प्रारंभ होकर समावर्तन संस्कार के साथ पूरी होती है। वैसे तो मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु होने तक विद्या प्राप्त करता रहता है। तथापि शिक्षा का औपचारिक समय उपनयय संस्कार से प्रारंभ होकर समावर्तन संस्कार पर्यन्त चलता है।[3]

(1) शिक्षा प्रारंभ करने की आय- शिक्षा का प्रारंभ उपनयन संस्कार से होता है। उपनयन संस्कार करके बालक को आचार्यकुल में प्रविष्ट कर आचार्य उसको शिक्षा देना प्रारंभ करते हैं। मनु ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बालकों के उपनयन संस्कार की आयु दो प्रकार से कही है :-

क) ब्राह्मण बालक के लिए उपनयन संस्कार की आयु 8 वर्ष, क्षत्रिय

---

1. ब्राह्मपस्त्रयाणां वर्पानामुपनयनं कत्तुर्महति,
   राजन्यो दूथस्य, वैश्यो वैश्यस्यैबेति। सु० सू० स्था० (II, 2)
2. शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके।। -वही (II, 2)
3. कामक्रोधलोभमोहमानाहङ् कारेर्षापारूषयपेशुनयानृतालस्याय शस्यानि हित्वा नीचनसरोमणा शुचिना कषायवाससा सत्यव्रत ब्रह्मचयर्याभिवादनतत्परेणाऽवश्यं भवितव्यम्।। -वही (II, 3)

बालक के लिए 11 वर्ष और वैश्य के लिए 12 वर्ष है[1] भवभूति ने वर्णन किया है कि वाल्मीकि ने लव कुश का उपनयन संस्कार उनकी ग्यारह वर्ष की आयु में किया था।[2]

ख) यद्यपि ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य के लिए उपनयन संस्कार की आयु सामान्यतः 11-12 वर्ष है तथापि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के इच्छुक ब्राह्मण बालक का पांच वर्ष की आयु में, शौर्य को प्राप्त करने की इच्छा वाले क्षत्रिय बालक का छः वर्ष की आयु में और धन को प्राप्त करने की इच्छा[3] रखने वाले वैश्य बालक का 8 वर्ष की आयु में उपनयन किया जाना चाहिए।

जब उपनयन के शरीरिक संस्कार का स्वरूप प्राप्त हो गया तो चाहे जितने विलम्ब से क्यों न हो संस्कार का अनुष्ठान करना अनिवार्य माना जाने लगा। इसके मूल में निहित प्रयोजन समाज के समस्त युवको को शिक्षित व जातीय संस्कृति से परिचित और परिष्कृत करना था। कहीं-कहीं परिव्राजक के उपनयन का उल्लेख भी मिलता है परिव्राजक के लिए भी उपनयन संसकार का महत्व बताया गया है।[4]

प्राचीन भारतीयों का दृढ़ विश्वास था कि देरी से शिक्षा प्रारम्भ करने से कोई लाभ नहीं होता। बाल्यावस्था में मस्तिष्क कोमल, स्मृति तेज और बुद्धि

---

1. क) गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत्ब्राह्मणस्योपनायनम्।
   गर्भादिकादर्शे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।। -म॰ स्मृ॰ (II, 36)
   ख) शंख - (II, 6)
   ग) गर्भाष्टमेषु, ब्राह्मणमुपनीयत गर्भेकदशेषु राजन्यं गर्भद्वदशेषु वैश्यम्।।
   - वशि॰ स्मृ॰ (XI, 44)
   घ) वि॰ स्मृ॰- (I, 1-14)
   ड) व्या॰ स्मृ॰- (I, 11)
   च) याज्ञ॰ स्मृ॰- (I, 14)
   छ) बौ॰ स्मृ॰- (I, 2,7-10)
   ज) लघु॰ स्मृ॰ (X, 1)
2. तदनन्तरं भगवतैकादशे वर्षे क्षात्रेण विधिना कल्पेनोपनीय त्रयीविद्यामध्यापितौ।।
   उ॰ च॰ रा॰- शुद्ध विष्कम्भक अंक (2)
3. क) ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
   राज्ञो बलार्थिनः पष्ठे वैश्यस्यानिर्थनोऽष्टमे।। -म॰ स्मृ॰ (II, 37)
   ख) भा॰ शि॰ इति॰ -बी, पी॰ जौहरी एवं पी॰ डी॰ पाठक पृ॰ 13-14
4. ययो भिक्षार्थे ग्रामं प्रविशन्ति षाप्रिपात्रम् उदरपात्रं वा। ओं हि ओं ही ओं हि ओं हीत्येदुपनिषद विन्यसेत्। यज्ञोपवीतं एवं वेद। पालाश बैल्वमौदुम्बरं दण्डंमौज्लीं मेखला यज्ञोपवीतं चत्यक्त्वा शूरों य एवं वेद । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्ध ते। विऽणोर्यत्परमं पदम्।। आरु॰ उ॰ (5 श्लोक)

प्रखर होती है। इसी समय अच्छी आदतों की नींव डाली जाती थी, जो जीवन भर लाभदायक सिद्ध होती। इसी कारण प्रारम्भिक शिक्षा का समय पांच वर्ष और माध्यमिक का आठ वर्ष निश्चित किया है।[1]

गृहसूत्रों में प्रतिपादित तथा परवर्ती आचार्यों द्वारा अनुमोदित, साधारण नियम यह था कि ब्राह्मण का उपनयन आयु के आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष करना चाहिए।[2] आठ और सोलह के बीच किसी भी वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन किया जा सकता है[3] किन्तु कुछ विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिए वैकल्पिक अवस्थाओं का विधान किया गया है। ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के लिए सातवें, दीर्घायुष्य के लिए आठवें, ऐश्वर्य के लिए नवें, भोजन के लिए दसवें, पशुओं के लिए बारहवें, शिल्प-कौशल के लिए तेरहवें, तेजस्विता के लिए चौदहवें, बन्धु बान्धवों के लिए पुन्द्रहवें और सभी गुणों की प्राप्ति के लिए सोलहवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए।[4]

उपनयन संस्कार की अंतिम सीमा[5] ब्राह्मण के लिए 8, क्षत्रिय के लिए 11 और वैश्य के लिए 12 वर्ष की आयु थी। जब उपनयन के शारीरिक संस्कार का स्वरूप प्राप्त हो गया तो चाहे जितने विलम्ब से क्यों न हो, संस्कार का अनुष्ठान करना अनिवार्य माना जाने लगा। इसके मूल में निहित प्रयोजन समाज के समस्त युवकों को शिक्षित व जातीय संस्कृति से परिचित और परिष्कृत करना था। कहीं-कहीं परिव्राजक के उपनयन का उल्लेख भी मिलता है परिव्राजक के लिए भी उपनयन संस्कार का महत्व बताया गया है।[6] इससे यह ज्ञात होता है कि 50 वर्ष के आस-पास की आयु में भी विशेष परिस्थितियों में उपनयन सम्पन्न किया जाता था।

---

1. क) प्रा० भा० सा० आ० सं० - डा० कैलाशचन्द्र जैन पृ० 163
   ख) प्रा० भा० शि० प० - डा० अ० स० अल्तेकर पृ० 20
2. अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। गर्भाष्टमे वा। एकादशे क्षत्रियम्। द्वादशे वैश्यम्।।
   - आ० गृ० सू० (1,19, 1-6)
   - बौ० गृ० सू० (II,5,3)
3. आषोऽशातूब्रह्मणस्यानात्यय इति।।
4. सप्तमे ब्रह्मवर्चसकाममष्टम आयुष्मकामं नवमे तेजस्कामंऽदशमे न्ना धकाममेकादश इन्द्रियकामंद्वादशे पशुकामं त्रयोदशे मेधाकामं
   चतुर्दशेपुष्टिकामं पन्चदशे भातृव्यवन्तंषोडशे सर्वकाममिति।। -बौ० गृ० सू० (II,5,5)
5. अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनेयदगर्भाष्टमें वा।
   एकादशवर्षेऽशजन्यम्। द्वादशवर्ष वैश्यम।। -पा० गृ० सू०(II, 2,1-3)
6. ययो भिक्षार्य ग्रामं प्रविशन्ति षाप्रिपात्रमू, उदारपात्रं वा। ओं हिओं हि ऑ हीत्येदुपनिषद विन्यसेत्। यज्ञोपवीतं एवं वेद। पालाशं बैल्बमौदुम्बरं दण्डमौज्लीं मेखला यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा शूरो य एव वेद। तद्विष्णोः परमं। पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
   दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः
   समिन्धते। विटणोर्यत्परमं पदम्।। -आरू० उ० (5 श्लोक)

संस्कार सम्पन्न करने के लिए कोई शुभ समय नियत कर लिया जाता था। साधारणतः उपनयन उस समय होता था, जब सूर्य उत्तरायण में रहता था।[1] विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न ऋतुएं निश्चित थीं। ब्रह्मण का उपनयन वसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में, वैश्य का शरद् ऋतु में तथा रथकार का उपनयन वर्षा ऋतु में होता था। ये विभिन्न ऋतुएं विभिन्न वर्णों के स्वभाव तथा व्यवसाय की प्रतीक थीं। वसन्त की समशीतोष्णता ब्राह्मण के संतुलित जीवन की प्रतीक थी।[2] ग्रीष्म की उष्णता क्षत्रिय की वीरता तथा उत्साह की प्रतिनिधि थी, जबकि प्राचीन भारत का व्यापारिक जीवन वर्षाऋतु के पश्चात् पुनः गतिशील होता था, जो वैश्य की समृद्धि तथा ऐश्वर्य का सूचक था और वर्षा का शान्तकाल रथकार की सुविधा का द्योतक था।

परन्तु कुछ स्मृतिकारों ने अपने-अपने मतानुसार आयु सीमा निर्धारति की है, ब्राह्मण का उपनयन गर्भ से आठवें, नवे या पांचवे वर्ष होना चाहिए।[3] मनु ने उपनयन की अन्तिम अवधि का भी वर्णन किया है। ब्राह्मण का 16 वर्ष तक, क्षत्रिय का 22 वर्ष तक, वैश्य का 24 वर्ष तक उपनयन हो सकता है[4] यदि इस समय तक उपनयन नहीं होता तो वे लोग व्रात्य कहे जाते है।[5] गर्भ के आठवें वर्ष ब्राह्मण का वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय का 11वें वर्ष ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य का बारहवें वर्ष वर्षा ऋतु में उपनयन करना चाहिए।[6]

वैदिक काल में यह बात स्वीकार कर ली गई थी कि वेदों के अध्ययन के लिए अति दीर्घकाल की आवश्यकता है। भारद्वाज ने तीन जन्मों में तीन वेदों का अध्ययन किया।[7] इन्द्र ने प्रजापति के शिष्य बनकर 105 वर्ष तक विद्या का अध्ययन

---

1. अथास्य दक्षिणार्थं हस्तं गृहीत्वाऽऽह को नामासीति।। -पा० गृ० सू० (II,2,17)
   नैनानुपनयेन्नाध्यापयेन्न याजयेन्नैभिर्व्यवहरेयुः।। -आ० गृ० सू० (1,19,7)
2. वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यं वर्षासु रथकारमिति।
   सर्वानेव वा वसन्ते।। -बौ० गृ० सू० (II,5,6)
3. उपनयनं ब्राह्मस्याष्टमे नवेमे पञ्चमे वा०।। - गौ० स्मृ० (I, 3)
4. क) म० स्मृ० - (II, 38)
   ख) शंख० स्मृ० - (II, 6-7)
   ग) गौ० स्मृ० - (I, 6)
   घ) वसि० स्मृ० - (XI, 51-53)
5. क) म० स्मृ० - (II, 39)
   ख) व्या० स्मृ० - (I, 10)
   ग) शं० स्मृ० - (II, 7-8)
6. गर्भाष्टमे ब्राह्मणो वसन्त आत्मानमुपनयेत्।
   एकादशे क्षत्रियो ग्रीष्मे। द्वादशे वैश्यो वर्षासु।। - ब्र० उ० (I श्लोक)
7. छा० उ० (VIII, 2, 3)

किया।[1] वैदकि युग में सामान्य रूप से अध्ययन काल 12 वर्ष का था। इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा गया है। कि 12 वर्ष की अवधि केवल एक वेद के अध्ययन के लिए है। यदि छात्र चारों वेदों का अध्ययन करता है, तो उसे प्रत्येक वेद में 12 वर्ष लगाने पड़ते थे।[2] पर सभी छात्र चारों वेदों का अध्ययन नहीं करते थे। साहित्य तथा धर्मशास्त्र के छात्र अपना अध्ययन 12 वर्ष में समाप्त कर देते थे।

याज्ञवल्क्य कुछ इससे आगे बढ़कर व्यवस्था देते हैं कि ब्राह्मण का सोलह वर्ष, क्षत्रिय का 22वर्ष और वैश्य का 24 वर्ष तक उपनयन संस्कार हो जाना चाहिए।[3] ब्राह्मण का उपनयन संस्कार जन्म से अष्टम वर्ष में करना चाहिए। क्षत्रिय का यज्ञोपवीत संस्कार 11 वें वर्ष तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में करना चाहिए। सोलह वर्ष से आगे विधान नहीं है। नियत वर्षो के पश्चात् प्रायश्चित होता है।[4]

इसी प्रकार कुछ स्मृति कार ब्राह्मण का आठ वा नौ वर्ष में यज्ञोपवीत करें, यदि ब्रह्मतेज की इच्छा करें तो पांचवें वर्ष में भीहो सकता है, पांचवें वर्ष की गणना गर्भ से कर ले, यह यज्ञोपवीत का दूसरा जन्म है जिससे आचार्य वेद का उपदेश करता है, क्षत्रिय और वैश्य का क्रमानुसार ग्यारह और बारह वर्ष तक यज्ञापवीत करने की विधि है, सोलह वर्ष तक ब्राह्मण की और क्षत्रिय की बाईस वर्ष तक और वैश्य की चौबीस वर्ष तक गायत्री पतित नहीं होती अर्थात् गौण अधिकार रहता है।[5]

यज्ञोपवीत

यज्ञोपवीत का तात्पर्य यज्ञ के समय धारण करने वाले वस्त्र से है 'यज्ञाय उपवीतं यज्ञोपवीतम्। हिन्दू शिष्टाचार की कल्पना के अनुसार यज्ञ, दान या स्वाध्याय आदि पवित्र कार्यो में शरीर के उत्तर भाग का ढका रहना आवश्यक है।[6] यज्ञोपवीत का तात्पर्य ऐसे पवित्र कार्यों के लिए भी निर्धारित नियमों के अनुसार पहने जाने वाले उत्तरवास से ही था। यज्ञोपवीत किसी वस्त्र का विशेष रूप से विन्यास ही

---

1. तै० ब्रा० (III, 10, 2,3)
2. गौ० स्मृ० (II, 7,45)
3. आ षोडशाब्दाद् द्वाविंशाच्तुविंशाच्च वत्सरात्।
   ब्रह्मक्षत्रविंशा काल औपनायनिकाः परः।। -याज्ञ० स्मृ० (I, 37)
4. ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भाष्टमेऽष्मे बाऽब्वे गर्भादिकादशे नृपे।।
   गर्भातु द्वादशे वैश्ये षोडषाब्दादितो न हि।। - अ० पु० (XVIII,6-7)
5. उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे नवमें पंचमे वा काम्यं गर्भादिः संख्या वर्षाणां तद्दितीयजन्म तद्यस्मात्स आचार्यो वेदानुवचनाच्च एकादशद्वादशयोः क्षत्रियवैश्ययोः आषोडशाद्वाह्मणस्य पतिता सावित्री द्वाविंशते राजन्यस्य द्वयधिकाया वैश्यस्य। -गौ० स्मृ० -(I, 3)
6. उत्तर वासः कर्त्तव्यं पन्चस्वेतेषु कर्मसु।
   स्वाध्यायोत्सर्गदानेषु भुक्ताचमनयस्तथा।। -स्मृ० च० पृ० 299

है। ब्राह्मणों ग्रन्थों के अनुसार जब वस्त्र बायें कन्धे के ऊपर से दांए कंधे के नीचे पहना जाता है, तो उसे यज्ञोपवीत कहते हैं। इस प्रकार यज्ञोपवीत धारण करने से ज्ञान की परम पवित्र निष्ठा प्राप्त होती है।[1]

प्राणीमात्र के हृदय में समस्त देवता निवास करते हैं, हृदय में ही प्राण और ज्योति हैं। हृदय को तीन स्वरूपों में परमात्मा निवास करता है। इस तथ्य की ओर संकेत करने वाला यज्ञ सूत्र या जनेऊमाना जाता है। अतः यज्ञोपवीत परम पवित्र है, इसे धारण करना चाहिए।[2]

इस प्रकार जो ज्ञानयुक्त शिक्षा वाले ज्ञाननिष्ठ तथा ज्ञान (परम तत्व ज्ञान रूपी यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, उनका सर्वस्व ज्ञान ही है तथा ज्ञान ही उनके लिए परम पावन कहा गया है।[3]

यज्ञोपवीत अद्वैतयुक्त आत्मज्ञान होता है, उसकी शिक्षा ध्यान निष्ठा रूप होती है और व्यक्ति कर्मों से पवित्र हो जाता है।[4] इसमें यज्ञोपवीत बनाने की विधि का वर्णन भी किया है। चार अंगुलियों पर जनेऊ बनाते हुए धागा लपेटा जाता है। जिसकी संख्या 96 बार होती है तथा 96 तत्व इसमें लपेटे जाते हैं। इसको तीन हिस्सा (तीन गुणा रूप रूप द्वारा बत्तीस तत्त्वों के निष्कर्ष रूप का सम्पादन) करके ज्ञान से पवित्र निगुण-स्वरूप (तीन सत्वादि गुण तथा गुण यानी रूप लड़ी स्वरूप) त्रिमूर्ति रूप समझकर नौ ब्रह्म नामक नौ गुणों (लड़ियों) से युक्त जानकर नौ मान परिमिति तीन को फिर त्रिगुण करके सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निकला स्वरूप से एक करके आदि तथा अन्त युक्त की तीन आवृत्तियां करके ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर का अनुसन्धान कर (उन आवृत्तियों में) शुरु से अन्त तक बनाकर चिद्‌रूपी ग्रन्थि में अद्वैत ग्रन्थि (गांठ) बनाकर नाभि से लेकर ब्रह्मबिल तक का भिन्न भिन्न सत्ताईस तत्त्वों से सम्बन्धित (क्योंकि जनेऊ की एक लड़ी में 27-27 सूत्र होते

---

1. ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः।
   ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते।। - ब्र० उ० (I, 11)
2. हृदिस्था देवता- सर्वा हृदि प्राषाः प्रतिष्ठिताः हृदि प्राणश्च
   ज्यौतिश्च त्रिवृत्सूंत्र च तद्विदुः। चैतन्येतिष्ठति।।
   यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
   आयुष्यग्र्यं प्रतिमुन्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ।। - ब्र० उ० (I, 4-5)
3. ज्ञानशिखिनों ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः।
   ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानभीरितम्।। - प० उ० (12 श्लोक)
4. स होवाच विष्णुः। भो भोऽर्भक यस्थास्त्यद्वैतमात्मज्ञानं तदेव यज्ञोपवीतम्। तस्य ध्याननिष्ठैव शिखा। तत्कर्म सपवित्रम्। स सवकमकृत्स ब्राह्मणः स ब्रह्मनिष्ठापरः स देवः स ऋषि स तपस्वी स श्रेष्ठः स एव सर्वज्येष्ठः स एवाह विद्धि।। - वही (I, 5)

हैं) तीन गुणों (सत्वादि) (सूत्रों) से युक्त पृथक् तीन स्वरूप में दीखने पर भी उसमें एकत्वपम्पादन कर बायें कन्धें से लेकर दाहिनी कमर तक इसकी भावना करके ही चित्त की शुद्धि हो सकती है।[1] अतः सन्यासी होकर ही यज्ञ सूत्र का त्याग करना चाहिए।[2]

त्रिवृत् तीन बार एक डोरे को तीनों त्रिवृत्[3] नीचे को बनावें, तब यह यज्ञोपवीत होता है और फिर उसमें एक ग्रंथि लगावें।

यज्ञोपवीत न बहुत लम्बा और न बहुत छोटा हो, इतना लम्बा हो जो कि पीठ के बांस और नाभि पर रखा हुआ कमर तक आ जाये ऐसा जनेऊ पहनना उचित है[4]

सदा यज्ञोपवीत को पहने और चोटी में गांठ लगाएं, जो ब्राह्मण बिना यज्ञोपवीत पहने या बिना चोटी में गांठ लगाए हुए जो कार्य करता है वह उसके न किए के बराबर होता है।[5]

यज्ञोपवती हो जाने पर निंदित कर्म करने से पाप का भागी होता है।[6] जब तक सोलह वर्ष की अवस्था न हो तब तक व्यवहार का अधिकारी नहीं होता।

ब्रह्मचर्य (यज्ञोपवीत होने से लेकर प्रथम आश्रम) में जिस वर्ण का जो जो दंड, मेखला, (मूंज की कौंधनी) मृगछाला, सूत्र, यज्ञोपवीत (जनेऊ[7]) वस्त्र, अन्यत्र(मन्वादि धर्मशास्त्रों में) कहे हैं, उसको नियम सहित धारण करें।

यज्ञोपवीत हो जाने पर सावधान होकर गुरु के कुल में निवास करें, और दंड, कौपीन, यज्ञोपवीत, मृगछाला और मेखला इनको धारण करें।[8]

---

1. प० उ० (I, 5)
2. सशिरवं वपनं कृत्वा बहि सूत्रं त्यजेद्बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्।। - बृ० उ० (I, 6)
3. त्रिवृदूर्व्ववृंत कार्य तंतुत्रयम धोवृतम्।
त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रंथिरिष्यते।। - का० स्मृ० (I, 2)
4. पृष्ठवंशे च नाभ्यां च धृतं यद्विंदत्ते कटिम्।
तद्धार्यमुपवीतं स्यान्नातो लंबं न चोच्छ्रितम्।। - वही (I, 3)
5. सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखे व्युपवतिश्च यत्करोति न तत्कृतम्।। -वही (I, 4)
6. उपनीते तु दोषोऽस्ति क्रियमाणैर्विगर्हितैः।
अप्राप्तव्यवहारोऽसौ बालः षोडशवर्षिकः। -द० स्मृ० (I, 6)
7. यो यस्त्र विहितो दंडो मेखला जिनधारणम्।
सूत्र वस्त्रं च गृहीयाद्ब्रह्मयचर्येण यंत्रितः ।। -वि० स्मृ० (I, 16)
8. उपनीतो गुरुकले वसेन्नित्यं समाहितः।
बिभृयाद्दंड कौपीनोपवीताजिनमेखलाः। - व्या० स्मृ० (I, 24)

ॐकार इसके पीछे पवित्र दिन में गुरु की आज्ञा लेकर मन्त्रों से हवन करें, पहले "ॐकार" को उच्चारण करते हुए गायत्री को स्मरण कर वेद का प्रारंभ करें।[1]

वेदाध्ययन और ज्ञानाधिक्य प्राप्ति आदि तेज के लिए ब्राह्मण बालक का गर्भ से पांचवें वर्ष, हाथी घोड़ा और पराक्रम आदि प्राप्ति के लिए क्षत्रिय बालक का गर्भ से छठे वर्ष में और अधिक धन तथा खेती आदि की प्राप्ति के लिए वैश्य बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में 'यज्ञोपवीत संस्कार' करना चाहिए।[2]

ब्राह्मण का जनेऊ कपास के सूत का, ऊपर को बटा हुआ और तीन लड़ का, क्षत्री[3] का सन के सूत का और वैश्य का भेड़ की ऊन के सूत का होना चाहिए।

वस्त्र, दण्ड, मेखला

उपनयन के समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यथाक्रम से मेखला मूंज की और सूत की ज्या और मूर्वा की बनावे और काले तथा रूरूमृग का और मेंडे का चर्म, सन, रेशम और कुशा इनके वस्त्र बनावे और कुछ ऐसा भी कहते हैं कि तोनों वर्णों को कपास के नवीन और गुरु तथा मंजीठ वृक्ष के लाल रंग के वस्त्र धारण करने उचित हैं, ब्राह्मण को हल्दी में रंगा हुआ क्षत्रिय और वैश्य को भी धारण करना उचित हैं, ब्राह्मण बेल-या-पलाश के काष्ठ का दंड और दोनों जाति क्रम से पीपल और पीलु का दंड धारण करे, तथा और जाति किसी यज्ञिय वृक्ष का सवल्कल काष्ठका दंड धारण कर सकता है परन्तु वह दंड कटे न हो, दंड का परिमाण तीनों जातियों को यथाक्रम से मस्तक, ललाट और नासिका के अग्रभाग तक हो, ब्राह्मण सब मुण्डन करावे क्षत्रिय मस्तक पर जटा रक्खे और वैश्य शिखा रखे।[4]

---

1. पुण्येऽह्नि गुर्वनुज्ञातः कृतमंत्राहुति क्रियः।
स्मृत्वोंकारं च गायत्री मार भेंद्वदमादितः।। - व्या० स्मृ० (I, 25)
2. ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्य विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञों बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्ट मे।। - म० स्मृ० (II, 37)
3. कार्पासमुपवीतं स्याद्वि प्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्थाविकसौत्रिकम्।। - वही (II, 40)
4. मौंजीज्यामौर्वीसौत्र्यो मेखलाः क्रमेण कृष्णरूरूबस्ताजिनानि वासांसि शाणक्षौमचीरकुतपाः
सर्वेषां कार्पासं चाविकृतं काषायमप्येके, वार्क्ष ब्राह्मणस्य मांजिष्ठहारिदे
इतरयोर्बेलवपालाशैं ब्राह्मणस्य दंडौ आश्वत्थापैली शैषे यज्ञियो वा सर्व्वेषाम्।
अपीडिता यूपचकाः सवल्कला मूर्द्धललाटना साग्रप्रमाणाः मंडजटिलशिखाजटाश्च।
- गौ० स्मृ० (I श्लोक)

वस्त्र

ब्राह्मण, क्षत्रित एवं वैश्य ब्रह्मचारी के लिए वस्त्र क्रम से पटुआ के सूत का, सन के सूत का एवं मृगचर्म का होता था।[1] कुछ धर्मशास्त्रकारों के मत से ब्रह्मचारी दो वस्त्र धारण करता था, जिनमें एक अधोभाग के लिए (वासस्) और दूसरा ऊपरी भाग के लिए (उत्तरीय)। अधोभाग का वस्त्र रूई के सूत का (ब्राह्मणों के लिए लाल रंग, क्षत्रियों के लिए मजीठ रंग एवं वैश्यों के लिए हल्दी रंग) होना चाहिए।[2] सभी वर्णों के लिए भेड़ का चर्म (उत्तरीय के लिए) या कम्बल विकल्प रूप से स्वीकार किया है।[3] इस प्रकार बालक को बतलाया जाता है कि मृग चर्म ब्रह्मवर्चसाम् का प्रतीक है।[4]

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अधोभाग या ऊपरी भाग के परिधान के विषय में संकेत मिलता है, जो वैदिक ज्ञान बढाना चाहे उसके लिए अधोवस्त्र एवं उत्तरीय मृगचर्म और जो सैनिक शक्ति चाहें उसके लिए रूई का वस्त्र, अतः जो दोनों चाहे वे दोनों प्रकार के वस्त्र का उपयोग करें।[5]

ब्राह्मण ब्रह्मचारी को ओढ़ने के लिए काले मृग की छाल, क्षत्रिय को शुक्ल मृग की छाल और वैश्य को ओढ़ने के लिए बकरे की छाल का दुपट्टा देना चाहिए।[6] वसिष्ठ के अनुसार ब्राह्मण को काले मृग, क्षत्रिय को शुक्ल मृग, वैश्य को बकरे या गौ की छाल का दुपट्टा देना चाहिए।[7] गौतम के अनुसार ब्राह्मण को सन का, क्षत्रिय को रेशम का, वैश्य को बकरी के रोएं का तथा तीनों वर्णों के पहनने के लिए कपास के सूत का वस्त्र होना चाहिए। सबका कषाय या गेरू

---

1. वासः। शाणीक्षौमाजिनानि। काषायं चैके वस्त्रमुपदिशन्ति।
   माञ्जिष्ठं राजन्यस्य। हारिद्रं वैश्यस्य। - आ० ध० सू० (I, 1.2, 39-41,I, 1,3)
2. शुक्लमहतं वासो ब्राह्मणस्य, माञ्जिष्ठं क्षत्रियस्य।
   हारिद्रं कौशेयं वा वैश्यस्य। सर्वेषां वा तान्तवमरक्तम्।। -व० ध० सू० (XI, 64- 67)
3. ऐणेयमजिनमुत्तरीय ब्राह्मणस्य शैरवं राजन्यस्याजं शण्यं वा
   वैश्यस्य सर्वेषां वा गणयमसति प्रधानत्वात्। - पा०गृ०सू० पृ० 215 (1, 2-3)
4. गो० ब्रा०
5. क) ब्रह्मवृद्धिमिच्छन्नजिनान्येव वसीत क्षात्रवृद्धिमिच्छन्वस्त्रा व्येवोभ्य वृद्धिमिच्छन्नुभयमिति हि ब्राह्मणम्।
   अजिनं त्वेवोत्तरं धारयेत्। -आ० ध० सू० (I, 1, 3, 9-10)

   ख) न तान्तंव वसीत यस्तान्तवं वस्ते क्षत्र सर्वते न ब्रह्म
   तस्मात्तन्तवं न वसीत ब्रह्म वर्धतां मा क्षत्रमिति। -गो० ब्रा० (II, 4)
6. कार्ष्णशैरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिण : ।।
   वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ।। -म० स्मृ० (II, 41) (XI, 48)
7. व० स्मृ०

में रंगा, ब्राह्मण का खाकी, क्षत्रिय का मजीठ रंग या लाल रंग और वैश्य का हल्दी के रंग का पीला होना चाहिए।[1] वसिष्ठ के अनुसार ब्राह्मण का वस्त्र शुक्ल, क्षत्रिय का मजीठ रंग का लाल, वैश्य का हल्दी के रंग का पीला और तीनों वर्णो के वस्त्र बिना रंगे हुए कपास के होने चाहिए।[2]

दण्ड

गायत्री मन्त्र जान लेने के बाद विद्यार्थी ज्ञान के पथ पर अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है। प्राचीनकाल में दण्ड यात्रा का प्रतीक समझा जाता था, इसलिए उसे एक दंड दे दिया जाता था, दंड धारण के अवसर पर ब्रह्मचारी भगवान् से प्रार्थना करता था कि इस दुर्गम मार्ग (पथ) पर मेरी यात्रा मंगलमय हो, वेदों की रक्षा आर्य का कर्त्तव्य था, दंड ब्रह्मचारी को सर्तक प्रहरी होने के लिए उद्बोधित करता था। छात्र जब वनों में समिधा लेने जाते व अधंकार में चलते या किसी अज्ञात नदी या सरोवर में घुसते तो दंड ऐसे अवसर पर ब्रह्मचारी में आत्म विश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना भरने में सहायता करता था, आवश्यकता पड़ने पर दंड का उपयोग आचार्य के पशुओं को एकत्र करने में भी होता था।[3] दण्ड किस वृक्ष का बनाया जाए, इस विषय में भी बहुत मतभेद रहा है।, ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए क्रम से पलाश, उदुम्बर एवं बिल्व का दण्ड होना चाहिए या कोई भी वर्ण इनमें से किसी एक का दण्ड बना सकता है।[4] ब्राह्मण, क्षत्रिय एंव वैश्य के लिए क्रम से पलाश न्यग्रोध की शाखा (जिसका निचला भाग दण्ड का ऊपरी भाग माना जाए) एवं उदुम्बर या बदर का दण्ड होना चाहिए।[5] दण्ड की आवश्यकता पूर्वकाल में सहारे के लिए आचार्य के पशुओं को नियन्त्रण में रखने के लिए, रात्रि में ज़ाने पर सुरक्षा के लिए एवं नदी में प्रवेश करते समय पथप्रदर्शण के लिए पडती थी।[6]

ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह किसी को अपने दण्ड के बीच से निकलने न दे यदि दण्ड, मेखला एवं यज्ञोपवीत टूट जाएं तो उसे प्रायश्चित करना चाहिए, ब्रह्मचर्य के अन्त में यज्ञोपवीत, दण्ड, मेखला एवं मृगचर्म को जल में त्याग देना

---

1. गौ॰ स्मृ॰ (I, 7-8)
2. व॰ स्मृ॰ (XI, 49)
3. प्रा॰ भा॰ शि॰ प॰ -डॉ॰ अ॰ स॰ अल्तेकर पृ॰ 212
4. आ॰ गृ॰ सू॰ (I/19/13) (I/20/1)
5. आ॰ गृ॰ सू॰ (XII, 15-16)
6. दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत्।
   तत्र दण्डस्य कार्यमवलम्बन् गवादिनिवारणं तमोवगाहनमप्सु प्रवेशनमित्यादि।
   -याज्ञ॰ स्मृ॰ (I, 29)

चाहिए।[1] ऐसा करते समय वरूण के मन्त्र का पाठ करना चाहिए या केवल 'ओउम्' का उच्चारण करना चाहिए।[2]

मनु के अनुसार ब्राह्मण का दण्ड बेल या पलाश, क्षत्रिय का दण्ड वट या खैर का और वैश्य का दण्ड पीलु या गूलर का होना चाहिए। गौतम के अनुसार ब्राह्मण का दण्ड बेल अथवा पलाश का, क्षत्रिय का दण्ड पीपल का, वैश्य का दण्ड पीलु का तथा तीनों वर्णों के ब्रह्मचारियों का दण्ड किसी यज्ञीय वृक्ष की लकड़ी का होना चाहिए। ब्राह्मण का दण्ड सिर तक, क्षत्रिय का ललाट तक और वैश्य का नाक तक लम्बा होना चाहिए।[3]

प्रमाणानुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारी का दण्ड केश तक, क्षत्रिय ब्रह्मचारी का दण्ड ललाट तक और वैश्य ब्रह्मचारी का दण्ड नाक तक लम्बा होना चाहिए।[4]

सब दंड सीधे, बिना गांठ के, देखने में सुन्दर, मनुष्यों को बुरे न लगें, अग्नि में जले हुए न हों ऐसे छालयुक्त होने चाहिए।[5]

मेखला

मेखला में तीन डोरें होती हैं। इस प्रतीक का तात्पर्य होता है कि विद्यार्थी को यह विश्वास दिलाना कि वह सर्वदा तीन वेदों से आवृत्त है। मेखला धारण के अवसर पर जो श्लोक पढ़ा जाता है उसमें बालक को बतलाया जाता है कि उसकी मेखला श्रद्धा की पुत्री तथा ऋषियों की भगिनी है, उसमें बालक की पवित्रता की रक्षा करने की शक्ति है। वह उसे सम्पूर्ण बुराइयों से रक्षित करेगी।[6] क्षत्रियों के लिए मुन्ज लोहे के टुकडे से गुंथी हुई हो सकती है तथा वैश्यों के लिए सूत का धागा या जुए की रस्सी या तामल की छाल का धागा हो सकता है।[7] मुन्ज

---

1. शां० गृ० सू० (II/ 13/2-3)
2. ऋ० वे० (I/24/6)
3. क) म० स्मृ० (II, 45)
   ख) गौ० स्मृ० (I, 10-12)
   ग) व० स्मृ० (XI, 46)
4. क) केशन्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।
   ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ।। म० स्मृ० (II, 46)
   ख) क० स्मृ० XVII, 12
5. ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
   अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः।। - का० स्मृ० (XVII, 13)
6. क) श्रद्धाया दुहिता तपसोधिजाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव। -अं० वे० (VI/133/4)
   ख) ऋतस्य गोप्त्री तपसश्चारित्रीहनती रक्षांसि सहमानाऽरातीः।। - वा० गृ० सू० (5)
7. म० स्मृ० (II, 42-43)

की मेखला सबके लिए मान्य कही गई है। मेखला में कितनी गांठें होनी चाहिए, यह प्रवरों की संख्या पर निर्भर है।[1]

भिक्षा

प्राचीनकाल में ब्रह्मचारियों से आशा की जाती थी कि वे भोजन की भिक्षा मधुकरी वृत्ति से मांगकर अपना भरणपोषण करें। इसलिए उपनयन के दिन से ही इसका अभ्यास प्रारम्भ हो जाता था, किन्तु प्रथम दिन तो भिक्षा रस्मी ही होती थी क्योंकि उस दिन बालक उन्हीं से भिक्षा मांगता था जो कि उसकी प्रार्थना नहीं ठुकरा सकते थे। अतः सर्वप्रथम वह अपनी माता के पास जाता था फिर बहिन के पास और तब अन्य सम्बन्धियों के पास।[2] आचार्य सर्वप्रथम दण्ड देता है। उसके उपरान्त भिक्षा पात्र देकर कहता है, जाओं बाहर और भिक्षा मांग लाओ। पहले वह माता से तब अन्य दयालु घरों से भिक्षा मांगता है। वह भिक्षा मांगकर गुरू को लाकर देता है। कहता है। "यह भिक्षा है" गुरु कहता है, "यह अच्छी भिक्षा है।"[3] ब्रह्मचारी को ऐसे पुरुष या स्त्री से भिक्षा मांगनी चाहिए जो 'न' न कहे और मांगते समय ब्रह्मचारी को कहना चाहिए "महोदय, भोजन दीजिए।"[4]

प्राचीन भारत के भिक्षा मांग कर पेट चलाना विद्यार्थी का धर्म माना गया था। धर्मग्रन्थों में वैदिककाल से ही ऐसे वचन मिलते हैं, जिनसे कुछ ग्रन्थों में तो यहां तक कहा गया है कि विद्यार्थी के लिए सुबह-शाम दोनों समय भिक्षा मांगना अनिवार्य है। धर्मग्रन्थों का कथन है कि विद्यार्थी के लिए दोपहर के समय भिक्षा में प्राप्त भोजन से पवित्र दूसरा कोई भोजन नहीं है।[5]

विद्यार्थियों के लिए भिक्षा का नियम बनाने के कई कारण थे। भिक्षा से उन्हें जीवन में विनय की शिक्षा मिलती थी। उन्हें यह अनुभव होता था कि समाज की सहानुभूति और सहायता से ही वह ज्ञान की प्राप्ति कर अपनी जीविका कमाने के योग्य बनता है। यह नियम विद्याथियों में धनी और निर्धन के भेद को भी मिटाता था। अतः निर्धन से निर्धन छात्र भी विद्याध्ययन कर सकते थे इस प्रकार हम यह

---

1. बौ० गृ० सू० (II/5/13)
2. प्रा० भा० शि० प० - अ० स० अल्तेकर पृ० 212
3. अथास्मै अरिक्तं पात्रं प्रयच्छन्नाह। मातरमेवाग्रे भिक्षस्वेति। स मातरमेवाग्रे भिक्षते। भवति भिक्षां देहीति ब्राह्मोणो भिक्षेत। भिक्षां भवति देहीति राजन्यः देहि भिक्षां भवतीति वैश्यः। तत्समाहत्याचार्याय प्राह भैक्षमिदमिति। तत्सुभैक्षमितीतरः प्रतिगृह्णाति - - बै० गृ० सू० (2/5/47-53)
4. आ० गृ० सू० (1/22/7-8)
5. शाकभक्षाः पयोभक्षा ये चान्ये यावभक्षिणः।
   सर्वे ते भैक्षभिक्षस्य कलां नार्हन्ति पोऽशोम्। -स्मृ० च० पृ० 49

भी बतलाना आवश्यक समझते हैं कि हमारे शिक्षा शास्त्रियों ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि विद्यार्थी उतनी ही भिक्षा मांगे[1] जिनती उसकी आवश्कता है। अधिक के संचय से उसे चोरी का पाप लगता है। भिक्षा में प्राप्त वस्त्र या मुद्रा गुरु-दक्षिणी के रूप में आचार्य को सौंप देनी चाहिए।[2]

ब्राह्मण आदि इच्छित दंड को लेकर[3] सूर्य के सामने खड़ा होकर और अग्नि की परिक्रमा करके विधिपूर्वक भिक्षा मांगे।

यज्ञोपवीत हुआ ब्राह्मण 'भवत' शब्द को पहले कहकर क्षत्री 'भवत्' शब्द को मध्य में और वैश्य 'भवत्' शब्द को अंत में कहकर भिक्षा मांगे अर्थात् ब्राह्मण कहे **"भवती भिक्षां देहि"**, क्षत्री कहे **"भिक्षां भवती देहि"** और वैश्य कहे **"भिक्षां देहि भवती"**।

ब्रह्मचारी पहिले माता से वा बहिन से वा सगी मौसी[5] से अथवा जो हो ना हों करे उसका अपमान न करे, उससे ही भिक्षा मांगे।।

उस भिक्षा को जितनी चाहिये उतनी लाकर निष्कट हो गुरु के[6] समर्पण करे और फिर आचमन करके पवित्र हो पूर्व को मुखकर भोजन करे।।

गुरु के कुल में भिक्षा न मांगे, और ज्ञाति, कुल बन्धुओं में भी न मांगे। दूसरों घर न मिलने पर तो पहिला-पहिला त्यागदे, अर्थात् प्रथम कुलबन्धुओं में भिक्षा मांगे, वहां[7] न मिले तो ज्ञाति में और जो ज्ञाति में भी न मिले तो गुरु के कुल में भी मांगे।

नीरोग रहता हुआ भी ब्रह्मचारी यदि बिना[8] भिक्षा मांगे तथा बिना हवन किये सात दिन तक रहे, तो 'अवकीर्णि-व्रत' करे।

---

1. आहारादधिंक वर्णो न क्वचिद् भैक्षमाचरेत्।
   युज्यते स्तेयदोषेण कामतोऽधिकमाहरन्।। -वी० भि० सं० उद्धत म० स्मृ० पृ० 50
2. यदन्यानि द्रव्याणि यथालाभपमुपहरति दक्षिणा एव ताः ।। -आ० ध० सू० (1,3,3,)
3. प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्।
   प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि।। -म० स्मृ० (II, 48)
4. भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः।
   भवन्मध्यं तु राजन्यों वैश्यस्तु भवदुत्तरम्।। -वही (II, 49)
5. मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
   भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत्।। -वही (II, 50)
6. समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया।
   निवेद्य गुरवेडश्नीयादाचम्य प्राङमुखः शुचिः।। -वही (II, 51)
7. गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु।
   आलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत्।। -वही (II, 184)
8. अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्।
   अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत्।। -वही (II, 87)

ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षावृत्ति करे, किसी एक के अन्न का भोजन न करे। भिक्षान्न भोजन करने से ब्रह्मचारी की वृत्ति उपवास के समान कही गयी है।[1]

जीवन-यावन के लिए प्रशस्त ब्राह्मणों के घर में भिक्षा मांगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमानुसार आरम्भ मध्य और अन्त में भवत् शब्द का प्रयोग करे अर्थात् क्रमानुसार[2] भवति भिक्षां देहि, भिक्षां भवति देहि तथा भिक्षां देहि भवति का प्रयोग करे।

यति और ब्रह्मचारी यह दोनों पक्वान की भिक्षा के अधिकारी हैं, इनको बिना[3] अन्न दिये हुए जो भोजन करता है। उसकी शुद्धि चान्द्रायण व्रत करने से होती है।

तीन भिक्षा सन्यासी और ब्रह्मचारियों को अवश्य[4] देनी उचित है, यदि अधिक ऐश्वर्यवान् हो तो निरंतर इच्छानुसार भिक्षा दे।

भिक्षा के समय द्विजातियों में भिक्षाटन करें, उस[5] भिक्षा को गुरुदेव को निवदेन करके गुरु की सम्मति से ब्रह्मचारी भोजन करे।

---

1. भैक्षेण वर्तयेभित्यं नैकाभादी भवेद्व्रती।
   भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता।। -वही (III, 188)
2. ब्राह्मणेषु चरेद्भैक्षमनिन्द्येष्वात्मवृत्तये।
   आदिमध्यावसानेषु भवच्छब्दोपलक्षिता।
   ब्राह्मणक्षत्रियविशां भैक्षचर्यायथाक्रमम्।। - याज्ञ० स्मृ० (29, 30)
3. यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ।।
   तयोरन्नमदत्वा च भुक्त्वा चांद्रायणं चरेत्।। - परा० स्मृ० (I, 51)
4. दधाच्च भिक्षात्रितयं परिवाड्ब्रह्मचारिणाम्।।
   इच्छया च ततो दधाद्विभवे सत्यवारितम्।। - परा० स्मृ० (I, 52)
5. द्विजातिषु चरेद्भैक्ष्यं भिक्षाकाले समागते।
   निवेद्य गुरवेऽश्नीयात्संमतो गुरुणा व्रती।। - वि० स्मृ० (I, 22)

ख) वर्तमानकालीन शिक्षा

सैद्धान्तिक शिक्षा

भारत में शिक्षा व्यवस्था का प्रारम्भ प्राचीनकाल में पारिवारिक परिधि से अलग आश्रम एवं गुरुकुलों में व्यवस्थित रूप से प्रारम्भ हो गया था। वैदिक काल में 'उपनयन' संस्कार सम्पन्न करवाकर बालकों को विद्या आरम्भ कराने हेतु शिक्षकों के रूप में गुरुओं के आश्रम में भेज दिया जाता था। आगे चलकर ब्राह्मण काल में आश्रमों को गुरुकुलों के रूप में जाना गया यहीं प्राथमिक शिक्षा, लिखने, पढ़ने गणित एवं शास्त्रों का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करने के रूप में जानी गयी। प्राथमिक शिक्षा प्राचीन भारत में निःशुल्क थी। छात्र शिष्य के रूप में गुरुकुल का निवासी बनकर शिक्षा, भोजन, आवास, वस्त्र निःशुल्क प्राप्त करता था। वैदिक काल, उपनिषद् काल, ब्राह्मण काल में इस प्रकार से प्राथमिक शिक्षा में गुरु स्वतंत्र संस्था के रूप में अपने गुरुकुल का संचालन व्यवस्थापन एवं निर्धारण करते रहे थे। प्राचीन भारतीय प्राथमिक शिक्षा धर्म के सर्वोच्च आसन पर विराजमान थी और धर्म समाज में सर्वोपरि था। प्रायः धार्मिक व्यक्ति ही आश्रमों, गुरुकुलों, अग्रहाराओं में गुरु के रूप में शिक्षक थे और गुरु शिष्य सम्बन्ध आध्यात्मिक रूप से मानस पिता-पुत्र के रूप में थे। गुरुओं की महत्ता एवं सम्मान के सम्बन्ध में संस्कृत-साहित्य में लिखा गया है:-

गुर्रु ब्रह्मा, गुर्रु विष्णु गुर्रु देवा महेश्वरः।[1]
गुरुहि साक्षात् परम्ब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

भारत में सम्पूर्ण मुस्लिम शिक्षा विदेशी प्रणाली पर आधारित थी। डॉ० एफ० ई० केई के शब्दों में "मुस्लिम शिक्षा विदेशी शिक्षा प्रणाली पर आधारित थी, भारत में इसका प्रतिरोपण ब्राह्मणीय शिक्षा से अलग था, भारत की नवीन भूमि में इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली को विकसित करने का प्रयास मुस्लिम शासकों तथा मौलवियों द्वारा किया गया।[2]

मध्यकाल में प्राथमिक शिक्षा के मुख्य केन्द्र मकतब थे। मकतबों के अतिरिक्त खानकाहों तथा दरगाहों में भी प्राथमिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। कुछ शिक्षक अपने घरों पर भी प्राथमिक शिक्षा प्रदान करते थे। प्राथमिक शिक्षा के विद्यालय मकतब, दरगाह तथा खानकाह किसी न किसी मस्जिद से सम्बन्धित रहा करते थे। इनमें प्रवेश से पूर्व 'बिसमिल्लाह' संस्कार भी सम्पन्न कराया जाता था।

---

1. शि० प्र० स० -आर० एन० मिश्र० पृ० 1-2
2. Indian Education in Ancient & Leter times. - Dr F.E. Keay उद्धृत वही

सामान्यतः मुस्लिम बच्चे 'बिस्मिल्लाह' संस्कार के पश्चात् मकतबों में ही प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षा के इन केन्द्रों का संचालन मुल्लाओं एवं मौलवियों के हाथ में था। मकतबों के पाठ्यक्रम में बालकों को पढ़ने लिखने और साधारण अंकगणित की शिक्षा दी जाती थी। वर्णमाला के अक्षरों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद कुरान की आयतों को भी कंठस्थ कराया जाता था। व्यावहारिक शिक्षा के अन्तर्गत बातचीत करने का ढंग, सुन्दर लेखन, पत्र लेखन और अर्जीनवीसी सिखाई जाती थी। प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत चारित्रिक एवं नैतिक विकास करने के लिए शेख सादी की प्रसिद्ध पुस्तकों 'बोस्ताँ' एवं 'गुलिस्तां' पढ़ाई जाती थीं। पैगम्बरों की कथाएं एवं मुस्लिम फकीरों की कहानियां सुनाई जाती थीं। इसके अलावा 'यूसुफ जुलेखा' तथा 'लैला मजनूं' 'सिकन्दरनामा' आदि काव्यों का अध्यापन भी सम्पन्न कराया जाता था।[1]

15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ। स्वतन्त्रता के बाद भारत के चहुमुँखी विकास की योजनाएं बनायी गयीं तथा गांधी-जी के बेसिक शिक्षा सिद्धान्त को जिसे बुनियादी शिक्षा के नाम से भी जाना गया उसके अनुरूप प्रारम्भ में प्राथमिक शिक्षा की भूमिका का निर्माण किया गया। 1950 के संविधान के अनुरूप शिक्षा पूर्णरूपेण राज्यों को सौंपी गयी, परन्तु बयालिसवें संविधान संशोधन के बाद शिक्षा को समवर्ती सूची में सम्मिलित कर लिया गया। प्राथमिक स्तर पर 6 से 14 वर्ष के समस्त बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गयी तथा नाममात्र को शुल्क रखा गया। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, छठी, सातवीं, आठवीं पंचवर्षीय योजनाएं बनायी गयीं जिनमें शिक्षा के लिए धन की व्यवस्था केन्द्रीय स्तर पर की गयी। प्रारम्भ में जिला परिषद एवं नगर पालिकाओं तथा नगर महापालिकाओं में बेसिक शिक्षा विभाग बनाकर विद्यालय स्थापित किये गये तथा अध्यापकों की नियुक्तियां की गयीं। बाद में आगे चलकर प्रान्तीय सरकारों ने प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था अपने हाथों में ली, लेकिन वर्तमान में प्रदेश के शासन के अन्तर्गत 'बेसिक शिक्षा' विभाग के माध्यम से शिक्षा की व्यवस्था. की गयी है तथा प्रत्येक जनपद स्तर पर बेसिक शिक्षा अधिकारियों की देख-रेख में प्राथमिक शिक्षा संचालित की जा रही है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से शिक्षा भारती, विद्या भारतीय तथा स्थानीय स्तर पर तमाम प्राथमिक संस्थाएं मान्यता प्राप्त एवं गैर मान्यता प्राप्त प्राथमिक विद्यालय भारतवर्ष में प्रतिवर्ष विकसित हो रहे हैं।[2]

---

1 शि० प्र० स० - आर० एन० मिश्र पृ० 3-4

2. क) शि० प्र० स० - आर० एन० मिश्र पृ० 5,6

ख) भा० शि० स० स० - जी० एस० डी० त्यागी एव पी० डी० पाठक पृ- 63-64

ग) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 296

प्राथमिक शिक्षा

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के निर्माण में प्राथमिक शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। प्राथमिक शिक्षा की नीवं पर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की प्रगति के भवन तथा बहुमंजिली इमारतों एवं अट्टालिकाओं के रूप में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं वैज्ञानिक प्रगति निर्भर करती है। **स्वामी विवेकानन्द** ने कहा था कि "राजनीति उस समय तक विफल रहेगी जब तक सभी भारतीयों को शिक्षित नहीं कर लिया जाता है।"[1]

प्राथमिक शिक्षा सम्पूर्ण शैक्षिक व्यवस्था की प्रथम सोपान है, इसके बाद माध्यमिक शिक्षा एवं उच्च शिक्षा का स्थान आता है। प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था के स्तर एवं गुणवत्ता को प्रभावित करती है। सामान्यतः शिक्षा सविधिक एवं अनौपचारिक रूप से बच्चे के जन्म के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है, लेकिन सविधिक एंव औपचारिक तथा नियमित शिक्षा का शुभारम्भ कक्षा एक से प्रारम्भ किया जाता है और कक्षा पांच उत्तीर्ण करने के साथ ही प्राथमिक शिक्षा समाप्त हो जाती है। इस प्रकार बाल्यावस्था में लगभग पांच वर्ष से लेकर दस वर्ष की उम्र तक वर्तमान में प्राइमरी विद्यालयों में सम्पन्न हो रही शिक्षा प्राथमिक शिक्षा है, इसे आधारभूत या बैसिक शिक्षा अथवा बुनियादी शिक्षा भी कह सकते हैं।[2]

प्री-प्राइमरी शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्त्व :- कोठारी शिक्षा आयोग के मतानुसार, "प्राइमरी शिक्षा विशेषकर जिन बच्चों की घरेलू पृष्ठभूमि संतोषजनक नहीं, उनके शारीरिक, भावात्मक एवं बौद्धिक विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।" किसी व्यक्ति की भावी सफलता को निश्चित करने के लिए प्री स्कूल वर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं।

1. **शारीरिक विकास** : प्रायः हम देखते हैं कि जीवन के आरम्भिक वर्षो में बच्चे तेजी के साथ बढ़ते हैं उनमें शरीरिक दोषों तथा असामान्यताओं का विकास शैशव काल में ही होता है। बहुत से बच्चे गन्दे मकानों में रहते हैं जहां वायु और प्रकाश की पर्याप्त व्यवस्था नहीं होती। कई बच्चे गन्दी बस्तियों में रहते हैं और उनको ऐसे नलकों का पानी पीना पड़ता जहां से पशु पानी पीते हैं। उसे 6 साल तक के बच्चों के लिए डाक्टरी जांच तथा उनके शारीरिक स्वस्थ्य की देखभाल करना अत्यन्त आवयश्यक

---

1. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 59
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 289
2. शि० प्र० स० - आर० एन० मिश्र पृ० 1

है। 'प्री- प्राइमरी स्कूलों में बच्चों की शारीरिक वृद्धि के लिए पर्याप्त व्यवस्था होती है। वहां ताजी हवा एवं सन्तुलित भोजन की व्यवस्था होती है। बच्चों में स्वच्छ आदतों का निर्माण किया जाता है और 'खेल' क्रिया द्वारा उनकी मांसपेशियों में सन्तुलन स्थापित किया जाता है।'

2. **बौद्धिक विकास** : प्री प्राइमरी शिक्षा का बौद्धिक विकास की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है क्योंकि यह बौद्धिक शक्तियों के विकास के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करती है।

3. **भावात्मक विकास** : यह बच्चों में भावात्मक परिपक्वता विकसित करने में सहायक सिद्ध होती है क्योंकि इसके द्वारा इन्हें अपनी भावनाओं को समझने, स्वीकार करने, नियन्त्रित करने तथा अभिव्यक्त करने का निर्देशन प्राप्त होता है।

क) इसके द्वारा प्रेम, सरंक्षण तथा सहानुभूतिपर्णू विवेक का विकास होता है।

ख) दिवा-स्वप्न की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं मिलता।

ग) इससे शर्मीलापन मानसिक घबराहट, अति संवेगात्मक, आक्रमणशीलता तथा पीछे हटने की प्रवृत्ति का अंत होता है।

4. **सामाजिक एवं नैतिक विकास** : सामाजिक दृष्टिकोण से प्री प्राइमरी शिक्षा का अत्यधिक महत्त्व है।
   क) यह सहयोग की भावना को विकसित करती है।
   ख) यह आज्ञा पालन की भावना को विकसित करती है।
   ग) यह आत्म विश्वास को विकसित करती है।
   घ) यह ईमानदारी, सच्चाई तथा मेहनत करने की प्रवृत्ति को विकसित करती है।
   ड) यह जीवन में आनन्द प्रदान करती है, और बच्चे को समाजीकरण की ओर अग्रसर करती है।

5. **सौन्दर्यात्मक विकास** : सौदर्न्यात्मक विकास की दृष्टि से भी प्री प्राइमरी शिक्षा अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकती है।

6. **काम करने वाली माताओं के लिए सहायक** : औधोगिक तथा तकनीकी विकास के कारण काम करने वाली माताओं की संख्या में भी बहुत वृद्धि हुई है। कारखानों, स्कूलों, दफ्तरों, स्वास्थ्य विभागों तथा अन्य कई क्षेत्रों में काम करने वाली माताओं को अपने बच्चों को घर छोड़कर काम पर जाना पड़ता है। उनके बच्चों की देखभाल के लिए प्री- प्राइमरी-शिक्षा की व्यवस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। सारजैण्ट आयोग के शब्दों में,

"यह राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपने भावी नागरिकों तथा उनको पैदा करने वालों के संरक्षण हित सुसज्जित एवं सुयोग्य अध्यापकों सहित नर्सरी स्कूलों की स्थापना करें, जहां बच्चों की माताओं के काम पर चले जाने के पश्चात् बच्चों की अच्छी प्रकार से देखभाल हो सके।"

7. **अयोग्य घरेलू स्थितियां :** स्कूलों में दाखिल होने से पहले पहले अधिकांश बच्चे अयोग्य घरेलू-परिस्थितियों में रहते हैं अर्थात् गन्दी बस्तियों तथा अंधियारे मकानों में रहते हैं। उनको पूरा भोजना नहीं मिलता और न ही उनकी पूरी देखभाल होती है। बच्चों को स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के कारण साध रण नियमों का भी ज्ञान नहीं। अतः बच्चों की आवयश्कताओं को पूरा करने के लिए प्री-प्राइसरी स्कूलों की स्थापना करना अत्यन्त आवश्यक है।

8. **अप्रसन्न परिवार :** स्नेह तथा संरक्षण बच्चों के लिए अत्यन्न महत्त्वपूर्ण है। यदि बच्चे को अनुभव होने लगे कि उसके साथ प्यार नहीं किया जाता या वह अपने को असुरक्षित अनुभव करे तो उसके जीवन में कई प्रकार की मानसिक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं, सौतेली माता या पिता, माता-पिता में लड़ाई झगड़े, माता-पिता में तलाक, माता -पिता का कठोर व्यवहार आदि कुछ ऐसे तत्व हैं, जो बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा डालते हैं अतः बच्चों के स्नेह एवं संरक्षण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में प्री-प्राइमरी शिक्षा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

9. **बुनियादी अवस्थाः** जीवन के पहले पांच या छः वर्षो में व्यक्तित्व के ढांचे की बुनियाद पड़ती है। ऐडलर के कथनानुसार 'शैशव काल जीवन की शैली का निर्माण करता है।' निष्कर्ष में हम यह कह सकते हैं कि प्री-स्कूल शिक्षा बच्चे के शारीरिक गत्यात्मक, बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक, भावात्मक एवं सांसारिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

सैकण्डरी शिक्षा अयोग (1952-53) नर्सरी स्कूलों का अस्तित्व- प्री-प्राइमरी स्तर पर विभिन्न प्रकार के नर्सरी स्कूलों का अस्तित्व है तो अवश्यक परन्तु बहुत कम संख्या में। इसमें बच्चे को संगति तथा मनोंरजक क्रियाओं के द्वारा सीखने की खुशी प्रदान की जाती है और उसमें धीरे-धीरे सामाजिक आदतों का निर्माण किया जाता है। जो अन्तः सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक मानी जाती है। प्राइवेट संगठन कई प्रान्तों में प्राईवेट संगठनों द्वारा प्रचलित कुछ नर्सरी स्कूलों में शानदार काम किये हैं। आयु में विभिन्नताः नर्सरी सकूलों में विभिन्न आयु के बच्चों

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० बालिया पृ० 44-47

को दाखिल किया जाता है। कई प्रान्तों में 3 और 5 वर्ष के बीच बच्चों को दाखिल किया जाता है तथा कई प्रान्तों में 7 वर्ष तक प्री-प्राइमरी शिक्षा प्रदान की जाती है।[1]

कोठारी आयोग (1964-66) कोठारी अयोग ने प्री-प्राइमरी शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिए हैं।

क) **निशाना** 3-5 वर्ष के वय-वर्ग के कुछ बच्चों का 5% और 5-6 वर्ष के वय-वर्ग के कुछ बच्चों का 50% सन् 1986 में प्री-स्कूल कक्षाओं में दाखिल हो जाना चाहिए।

1. **राजकीय एवं जिला स्तर पर केन्द्र :** पत्येक प्रान्त के राजकीय-शिक्षा संस्थान में एक प्री-प्राइमरी शिक्षा विकास केन्द्र खुलना चाहिए और एक ऐसा केन्द्र जिला स्तर पर भी स्थापित किया जाना चाहिए। इसका उद्देश्य प्री-प्राइमरी शिक्षा का विकास, निरीक्षण तथा निर्देशन होना चाहिए।

2. **प्राईवेट कार्यक्षेत्र :** प्री-प्राइमरी केन्द्र स्थापित करने तथा उन्हें चलाने के लिए प्राईवेट संस्थाओं को ही उत्तरदायित्व सौंपना चाहिए। राज्य सरकारों को समानता के आधार पर सहायक अनुदान देना चाहिए।

3. **प्रयोगात्मकता को प्रोत्साहित करना :** जिसका सम्बन्ध प्री प्राइमरी शिक्षा के विस्तार के कम खर्चीले साधनों के साथ हो, उनको हर प्रकार का प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

4. **बच्चों के लिए क्रीड़ा केन्द्र :** ज्यादा से ज्यादा प्राइमरी स्कूलों के अलावा बच्चों के लिए क्रीडा केन्द्रों की व्यवस्था होनी चाहिए इससे बच्चों को औपचारिक शिक्षा की ओर आसानी से अग्रसर किया जा सकता है।

5. **लचीला कार्यक्रम :** प्री प्राइमरी स्कूल का कार्यक्रम लचीला होना चाहिए और इसमें ज्ञानेन्द्रियों के शिक्षण के साथ-साथ कई प्रकार के खेलों तथ हस्त -क्रियाओं की व्यवस्था होनी चाहिए।

6. **अन्तर्सम्पर्क स्थापित करना :** प्री-प्राइमरी शिक्षा क्षेत्र में काम करने वाली विभिन्न संस्थाओं में अन्तर्सम्पर्क स्थापित किया जाना चाहिए। विशेषकर, राजकीय शिक्षा-विभाग को केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, भारतीय बाल कल्याण परिषद तथा सामुदायिक विकासय-प्रशासन के साथ अवश्य सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।[2]

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० बालिया पृ० 50
2. आ० भा० शि० स० - जे० एस० बालिया पृ० 51

प्री–प्राइमरी शिक्षा के उद्देश्य

1. **मिसग्रेस ओवैन के विचार** : बच्चों के लिए स्वस्थ बाह्य स्थितियां प्रदान करना जैसे–रोशनी, धूप, स्थान, ताजी हवा आदि।
2. बच्चों के लिए स्वस्थ, प्रसन्न तथा नियमित जीवन की व्यवस्था करना तथा उनके लिए लगातार मैडीकल निरीक्षण की व्यवस्था करना।
3. प्रत्येक बच्चे को स्वस्थ आदतों के निर्माण में सहायता देना।
4. कल्पना के अभ्यास तथा विभिन्न रूचियों एवं विभिन्न कुशलताओं के विकास के लिए बच्चों को अवसर प्रदान करना।
5. छोटे स्तर पर सामुदायिक जीवन का अनुभव प्रदान करना जहां एक ही अवस्था के तथा विभिन्न अवस्थाओं के बच्चें एक दूसरे के साथ मिलकर खेलें और काम करें।
6. घरेलू जीवन के साथ वास्तविक सम्बन्ध स्थापित करना।[1]

कोठरी आयोग के विचारः कोठरी आयोग ने प्री–प्राइमरी शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्यों का उल्लेख किया है :-

1. **अच्छी आदतों का विकास** : बच्चों में स्वास्थ्य सम्बन्धी अच्छी आदतों का विकास तथा व्यक्तिगत समायोजन के लिए आवश्यक बुनियादी कुशलताओं का निर्माण करना जैसे कपड़े पहनना, नहाना-धोना, खाना, सफाई रखना आदि।
2. **अच्छे दृष्टिकोणों का विकास** : आवश्यक सामाजिक दृष्टिकोणों तथा शिष्टाचार को विकसित करना, समूह में भाग लेने की स्वस्थ आदतों का विकास करना ताकि बच्चे को दूसरे के अधिकारों का अनुभव कराया जा सके।
3. **भावात्मक परिपक्वता का विकास** : बच्चे को अपनी भावनाओं के समझने, अभिव्यक्त करने, स्वीकार करने तथा नियन्त्रित करने के निर्देश देकर उसमें भावात्मक परिणक्वता को विकसित करना।
4. **सौन्दर्यात्मक प्रशंसा को विकसित करना** : सौन्दर्यात्मक प्रंशसा को प्रोत्साहित करना।
5. **बौद्धिक जिज्ञासा को विकसित करना** : वातावरण से सम्बन्धित बौद्धिक जिज्ञासा को अनुप्रेरित करना तथा बच्चे को अपने जीवन को समझने में

---

1. आ० भा० शि० स० – जे० एस० बालिया पृ० 60

सहायता देना। खोज तथा प्रयोग के अवसर प्रदान करके नवीन रूचियां उत्पन्न करना।

6. **निर्माणात्मकता का विकास** : आत्माभिव्यक्ति के पर्याप्त अवसर प्रदान करके बच्चे में स्वतन्त्र निर्माणात्मकता को प्रोत्साहित करना।

7. **अच्छे शरीर का विकास** : बच्चे में अच्छे शरीर का विकास करना, मांसपेशियों में सम्बन्ध स्थापित करना तथा बुनियादी गत्यात्मक कुशलताओं को विकसित करना।[1]

प्री-प्राइमरी स्कूलों में पाठ्यक्रम

प्री-प्राइमरी स्कूल का पाठ्यक्रम बच्चों की स्वाभाविक रूचियों तथा प्राथमिक अनुभूतियां पर आधारित होना चाहिए। बच्चे को शिक्षण की अपेक्षा अनुभवों की अधिक आवश्यकता होती है। अतः शिक्षा द्वारा उनकी शारीरिक देखभाल की व्यवस्था होनी चाहिए तथा उनमें अच्छी आदतों का निर्माण किया जाना चाहिए और रोचक क्रियाओं द्वारा उनके अनुभवों को व्यापक बनाना चाहिए।

1. अभिनय एवं गायन
2. शारीरिक अभ्यास
3. खेल और नृत्य
4. फूलों और पशुओं की देखभाल
5. ड्राईग तथा चीजें बनाना।[2]

खेल विधि ही प्री-प्राइमरी स्कूलों में प्रयुक्त की जानी चाहिए। प्रत्येक क्रिया 'खेल केन्द्रित' होनी चाहिए। यह विधि बच्चे को मनोविज्ञान के अनूकूल है। यह उसके शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है। अच्छी प्रकार से चुनी हुई खेलों के द्वारा बच्चा अपनी निर्माणात्मक, सृजनात्मक तथा अन्य प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट कर सकता हैं। खेल बच्चे को अपने वातावरण की खोज में सहायता प्रदान करती है, उसके साहसिक कार्यो की प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करती है। प्री-प्राइमरी स्कूलों में प्रायः इन शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जाता है। (1) खेल (2) इन्द्रिय प्रशिक्षण (3) आत्माभिव्यक्ति (4) सामुदायिक जीवन (5) सहयोग।[3]

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० बालिया पृ० 61
2. वही - वही पृ० 62-63
3. वही - वही पृ० 64-65

मैसूर कमेटी की रिपोर्ट :-

कमरे के बाहर की जाने वाली क्रियाएं जैसे दौड़ना, रस्सी कूदना, चढ़ना, फिसलना, उछलना, सन्तुलन करना, झूलना, लयात्मक क्रियाएं (शारीरिक शिक्षा में संगीतात्मक अनुभव), अन्य क्रियाएं जैसे पोले ब्लाकों को फैंकना, पकड़ना, उठाना, ढेर लगाना आदि।

बच्चों को स्वतन्त्रता के साथ व्यक्तिगत स्वच्छता का प्रशिक्षण प्रदान करना तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी स्थायी आदतों को विकसित करना है।

निर्माणात्मक अभिव्यक्ति के लिए क्रियाएं जैसे ड्रांईग, पेंटिग, मिट्टी का काम, कागज काटना, तस्वीरें काटना और लगाना, ब्लाक बिल्डिंग मनके या फूल पिरोना, जमीन खोदना आदि।

पौधों, पशुओं, पक्षियों तथा प्राकृतिक क्रियाओं का निरीक्षण करना, प्राकृतिक वस्तुओं को एकत्रित करना इत्यादि।

केवल पौष्टिकता के दृष्टिकोण से ही नहीं, बल्कि सामाजिक , प्रशिक्षण की दृष्टि से भी इस क्रिया को स्कूल की आवश्यक सेवा बनाना चाहिए।[1]

प्री-प्राइमरी शिक्षा की समस्याओं के समाधान सम्बन्धी सुझाव :

1. अर्थ व्यवस्था- प्री-प्राइमरी शिक्षा की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए समाज के धनी-वर्ग को उदारतापूर्वक दान देना चाहिए। इस सम्बन्ध में कठोरी आयोग का सुझाव है कि प्री-प्राइमरी शिक्षा के क्षेत्र में मुख्य रूप से प्राईवेट संस्थाओं द्वारा ही प्रयत्न किये जाने चाहिए।

2. विस्तार- कोठारी आयोग के अनुसार सन् 1986 तक 3-5 वय वर्ग के 5% बच्चों तथा 5-6वय-वर्ग के 50% बच्चों को प्री-प्राइमरी स्कूलों में दाखिल करने का लक्ष्य उचित लक्ष्य है।

3. **प्री-बेसिक स्कूलों के लिए अध्यापक-** उचित रूप से प्रशिक्षत अध्यापकों को प्री-प्राइमरी स्कूलों में नियुक्त किया जाना चाहिए और उनको अच्छा वेतन देना चाहिए। मांटेसरी-विधि, किंडरगार्डन विधि तथा प्री-बेसिक प्रणाली को प्रशिक्षण के लिए अधिक प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए। महिलाओं को प्राथमकता देनी चाहिए। और शिक्षण कार्य के लिए सुविधाएं देनी चाहिए। क्योंकि प्राय: महिलाएं विवाह के पश्चात् शिक्षण कार्य छोड़ देती हैं।

5. **भवन, फर्नीचर तथा अन्य सामान-** प्रत्येक स्कूल में आवश्यक

- जे० एस० बालिया पृ० 68

1. आ० भा० शि० स०

सामान की व्यवस्था होनी चाहिए। भवन हवादार तथा खुले होने चाहिए। स्कूल का फर्नीचर सरल, आरामदायक तथा टिकाऊ होना चाहिए।

6. पाठ्यक्रम– प्री प्राइमरी स्कूल का पाठ्यक्रम बच्चों की रूचियों तथा प्रथम अनुभूतियों पर आधारित होना चाहिए जिससे बच्चों की मांसपेशियों का परस्पर सम्बन्ध विकसित हो, उन्हें केन्द्रीय प्रशिक्षण प्राप्त हो। उनमें स्वास्थ्य सम्बन्धी अच्छी आदतों का विकास हो तथा उन्हें सामाजिक कुशलताओं एवं उचित दृष्टिकोणों का प्रशिक्षण मिलें।

7. अनुसन्धान एवं प्रयोग पर बल- इस क्षेत्र में अनुसन्धान एवं प्रयोग को प्रोत्साहन देना चाहिए।

8. माता–पिता के साथ गहन सम्पर्क स्थापित करना– प्री प्राइमरी स्कूल का माता पिता के साथ गहन सम्पर्क स्थापित होना चाहिए। देहाती तथा शहरी इलाकों में प्रौढ़ों को इस सम्बन्ध में शिक्षित किया जाना चाहिए।

9. प्री प्राइमरी शिक्षा की प्राथमिकता– प्री–प्राइमरी शिक्षा विशेष कर उन बच्चों के शारीरिक भावात्मक तथा बौद्धिक विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिनकी पृष्ठभूमि असन्तोषजनक है। शिक्षा के विस्तार के लिए कम खर्चीले साधनों के प्रयोग को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। प्राइमरी स्कूलों में प्री–प्राइमरी कक्षाओं की व्यवस्था करनी चाहिए। रिटायरड व्यक्तियों या अध्यापकों की अर्द्ध–शिक्षित पत्नियों को नियुक्त करना चाहिए। सरकार को अच्छी पुस्तकों के प्रकाशन में सहायता देनी चाहिए। किसी नई पुस्तक के प्रकाशित होने पर उसे इस संग्रह में सम्मिलित कर लेना चाहिए।[1]

प्राथमिक शिक्षा की समस्याएँ या बाधक तत्व :

शिक्षकों द्वारा उपेक्षापूर्ण कार्य की समस्या- प्राथमिक शिक्षा के स्तर में गिरावट का प्रमुख कारण शिक्षकों द्वारा उपेक्षापूर्ण ढंग से उदासीन होकर शिक्षण कार्य करना है। वे विद्यालयों में देर से आते हैं, न तो विद्यार्थियों को उचित ढंग से पढ़ाते हैं और यही कारण बालिकाओं (अध्यापिकाओं) की कक्षाओं में होता हैं। वे स्वेटर बुनना, इधर–उधर के छोटे मोटे काम करती रहती हैं। जिसके कारण वह शिष्यों को पढाती भी नहीं है। जैसे एक कहावत है कि "एक दीपक दूसरे दीपक को जलाता है उसी प्रकार एक शिक्षक विद्यार्थियों में ज्ञान के प्रकाश को प्रज्वलित करता है। परन्तु प्राथमिक पाठशालाओं में स्थानीय स्तर का शिक्षक पर्याप्त सुविधाओं के अभाव में पर्याप्त प्रकाश विद्यार्थियों को प्रदान नहीं कर पा रहे हैं।

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० बालिया पृ० 72-75

समाधान– प्राथमिक शिक्षा के शिक्षकों की उपेक्षापूर्ण नीति एवं लापरवाही के साथ की जा रही अध्ययन एवं अध्यापन पद्धति को सुधारने से पूर्व हमें उनके कारणों का निवारण करना होगा। आखिर आधार-भूत शिक्षा का शिक्षक लापरवाह क्यों है। शिक्षकों को ध्यान देना चाहिए कि प्राथमिक शिक्षा नींव का पत्थर है, अत: इसको मजबूत बनाकर ही राष्ट्र को शक्तिशाली बनाया जा सकता है।

प्रशासन से सम्बन्धित समस्याएं– भारत में प्राथमिक शिक्षा से सम्बन्धित प्रशासनिक दायित्व पूर्णरूप से स्थानीय प्रशासन और आंशिक रूप से राज्य प्रशासन पर निर्भर रहा है। यह दोनों प्रशासन अपने अपने ढंग से प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था अपने अपने क्षेत्रों में करते आ रहे हैं। राज्य तथा स्थानीय प्रशासन में सदैव सह सम्बन्धों का अभाव रहा है। इसका दुष्परिणाम सदैव यह रहा है। कि राज्य द्वारा नियुक्त प्रशासनिक अधिकारी स्थानीय प्रशासन द्वारा संचालित विद्यालयों की न तो ठीक से भली-भांति देखभाल ही करते हैं और न निरीक्षण या पर्यवेक्षण के दायित्व का पूरा पालन ही करते हैं।

समाधान: प्राथामिक शिक्षा की प्रशासन सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करने के लिए राज्य सरकारों को इसके विकास के लिए पूरी ईमानदारी और वचनबद्धता के साथ कार्य करना चाहिए और प्रतिवर्ष पूरी ईमानदारी से समीक्षा की जानी चाहिए?

अपव्यय एवं अवरोधन की समस्या: "प्राथमिक शिक्षा पूरी करने से पूर्व बच्चों का विद्यालय छोड जाना अपव्यय है तथा किसी बच्चे का एक कक्षा में एक से अधिक वर्ष तक रूकना या फेल हो जाना अवरोधन है।" प्राथमिक शिक्षा में अपव्यय एवं अवरोधन परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। प्रारम्भिक कक्षाओं में अपव्यय एवं अवरोधन कारण, शारीरिक कारणों में क्रमश: शैक्षिक कारण, आर्थिक कारण, सामाजिक, प्राकृतिक कारण मुख्य हैं।[1]

समाधान : अपव्यय एवं अवरोधन की समस्या का समाधान करने के लिए अभिभावकों में जागरूकता तथा शिक्षा के प्रति चेतना, उत्पन्न करने की आवश्यकता है। शिक्षा व्यवस्था में व्यापक सुधार किये जाने चाहिये। प्रौढ साक्षरता का व्यापक अभियान भी इस क्षेत्र में सहयोग प्रदान कर सकता है। प्राथमिक शिक्षण की विधियों को मनोरंजनात्मक बनाने की भी आवश्यकता है। विद्यालयों में बालकों को स्वल्पाहार तथा चिकित्सा सुविधा भी प्रदान करने की आवश्यकता है। विद्यालयों के अवकाश स्थानीय समाज की आवयश्कताओं के अनुरूप किया जाए। परीक्षा प्रणाली पाठ्यक्रम प्रवेश तथा छात्रों एवं चिकित्सों की उपस्थिति नियमित होने की आवश्यकता है।

---

1. Kothari commission Report, 257-262

उपयुक्त पाठ्यक्रम की समस्याः प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम उपयुक्त नहीं है। पाठ्यक्रम अव्यवस्थित है। छात्र कही तो बस्ते के पाठ्यक्रम एवं पुस्तकों के भार से दबे हुए देखे जा सकते हें कहीं-कहीं पाठ्यक्रम इतना कम है। कि शिक्षक एवं छात्र खाली बैठे समय व्यतीत करते रहते हैं। पाठ्यक्रम राष्ट्र एवं समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है। पाठ्यक्रम बच्चों को लिखना पढ़ना तो बता सकता हैं लेकिन उसमें राष्ट्रीय लक्ष्यों को पूरा कर सकने वाले गुणों का अभाव है। वर्तमान में प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम न तो शहरी आवश्यकता की पूर्ति करता है और न ही ग्रामीण परिवेश के अनुरूप कार्य करता है।

इस प्रकार वर्तमान में प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम संकुचित, पुस्तकीय एवं एकांगी है। पढ़ना, लिखना और गणित का प्राथमिक ज्ञान ही प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम बन गया हैं पाठ्यक्रम में रचनात्मक कार्यो को स्थान न दिये जाने के कारण यह जीवन से कटा हुआ दूर की स्थिति पैदा कर रहा है। जिसके कारण बालकों में शिक्षा के प्रति रूचि घटती जा रही है। अतः पाठ्यक्रम अव्यावहारिक है क्योंकि इसमें रचनात्मक प्रवृतियों को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है।

समाधान : प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को उपयुक्त स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप बनाया जाना चाहिए। भारत एक कृषि प्रधान देश हैं अतः पाठ्यक्रम में कृषि के विषयों की ग्रामीण अंचलों के विद्यालयों में प्रधानता होनी चाहिए। पाठ्यक्रम में विविध कला, कौशल, शारीरिक व्यायाम के विषयों के अलावा भाषा, गणित, प्राकृतिक एवं भौतिक विज्ञानों का सामान्य परिचय, सामाजिक विषय कला, कार्यानुभव, नैतिक शिक्षा एवं आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए।

आर्थिक कठिनाइयों की समस्या : भारत में प्राथमिक विद्यालयों के प्रसार में एक बहुत बड़ी बाधा धन के अभाव की है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण प्राथमिक शिक्षा में सहायक सामग्री के उपकरण फर्नीचर, टाट, पट्टी तथा विद्यालय भवन एवं शिक्षकों का अभाव रहता है। अभावग्रस्त विद्यालयों में शिक्षक ठीक से शिक्षा नहीं दे पाते हैं। खेल के समुचित साधनों तथा क्रीडांगणों का सर्वथा अभाव होने के कारण बालक इधर-उधर घूमते हुए हुए देखे जा सकते हैं। इसी कारण कुछ बालक बीच में ही पढ़ाई छोड़ जाते हैं। ऐसी दशा में अनिवार्य शिक्षा का लक्ष्य पूरा नहीं हो पाया है।

समाधानः बेसिक शिक्षा पर व्यय किया जाने वाला धन अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किया जाए, शिक्षा केवल निर्धनों के बच्चों के लिए ही निःशुल्क हो, धनी व्यक्तियों के बच्चों से शुल्क उनकी आय के अनुरुप लिया

---

1. The Hindustan Times, 8th April 1975

जाए, धनिक को शिक्षा के लिए दान देने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया जाए और उन्हें आयकर में छूट प्रदान की जाए, स्थानीय निकायों को शिक्षा कर लगाने की छूट दी जाए, भवन, साज-सज्जा तथा उपकरणों के लिए सामुदायिक सहयोग प्राप्त किया जाए, पर्याप्त भवन के अभाव में पाली प्रथा प्रारम्भ की जाए, सरकार प्राथमिक शिक्षा के लिए आवंटित धन में कुछ वृद्धि करें।

जनसंख्या की वृद्धि दर की समस्या : अनिवार्य शिक्षा का प्रसार करने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा जनसंख्या की वृद्धि दर की समस्या है। यह जिनती बढ़ेगी उतनी ही परेशानियां बढ़ती जाएगी। अतः इसको कम करना चाहिए।

समाधान– अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य को पाने के लिए सर्वप्रथम प्रजनन दर में कमी करनी होगी।

प्राकृतिक-कठिनाइयों की समस्या : प्राथमिक शिक्षा की सफलता में प्राकृतिक बाधाओं के कारण अवागमन के मार्गों एवं यातायात के साधनों का भी अभाव है। ये कठिनाइयां उक्त प्रदेशों की भौगोलिक स्थिति के अनुसार वर्षा, शीत एवं ग्रीष्ण ऋतुओं में इन मार्गों पर अपने भयंकरतम रूप में प्रकट होती हैं। कम जनसंख्या वाले इन प्रदेशों के प्रत्येक गांव में प्राथमिक विद्यालय नही हैं इस कारण अभिभावक अपने बच्चों को दूरदराज के गांवों में भेज कर शिक्षा नहीं प्रदान करा रहे हैं। अतः प्राकृतिक कठिनाइयों के कारण भी प्राथमिक शिक्षा समस्याग्रस्त है।[1]

समाधान : प्राकृतिक कठिनाइयों की समस्या के समाधान के लिए आवागमन के साधनों का विकास, मार्गों का निर्माण, यातायात के सुविधाजनक साधनों का विकास किया जाना चाहिए। प्राथमिक शिक्षा 6 वर्ष की आयु से प्रारम्भ कर दी जाती है, इस कारण विद्यालय गांवों में निकटतम दूरी पर ही स्थापित होने चाहिए।

अन्य प्रकार की समस्याएं : प्राथमिक शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में अन्य विविध प्रकार की समस्याएं निम्नवत् हैं :- राजनैतिक समस्याएं, बालिकाओं की शिक्षा की समस्याएं, नियोजन की समस्या, प्रशिक्षित अध्यापकों की समस्या, भाषाओं के बाहुल्य की समस्या, अनुसूचित एवं अधिक जातियों की प्राथमिक शिक्षा की समस्या, प्रेरणा का अभाव, रूढ़िवादिता की समस्या, सह-शिक्षा की समस्या, मूल्यांकन व्यवस्था की समस्याएं।

समाधान– उपरोक्त समस्याएं अन्य अनेकों विचारों से सम्बन्धित हैं। इन सबका समाधान शैक्षिक विकास, जागरूकता, राजनैतिक इच्छा शक्ति, सन्तुलित

---

1. India 1980, P- 11

नियोजन तथा बाल्यावस्था के बच्चों की बाल मजदूरी एंव उनसे गृह कार्यो के निरोध आदि के द्वारा समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है।

स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में "पहले राष्ट्र शिक्षा का विकास करना चाहिए तत्पश्चात् सामाजिक पुनर्रचना के प्रयास करने चाहिए।

समस्या : शिक्षा का दोषपूर्ण प्रशासन– भारत में शिक्षा राज्य का विषय है और अधिकाशं राज्यों में प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व नगरपालिकाओं, जिला–परिषदों आदि स्थानीय संस्थाओं पर है। केन्द्रं सरकार सहायता के रूप में प्राथमिक शिक्षा का केवल आंशिक उत्तरदायित्व बहन करती है।

'कोठारी कमीशन' ने लिखा है– "निर्धन क्षेत्रों की स्थानीय संस्थाओं के ऊपर बहुधा अपूर्ण कार्य का सबसे अधिक भार है।"

सुझाव कोठारी कमीशन सुझावानुसार- भारत सरकार को एक 'विद्यालय–परिषद्' का निर्माण करके, उसे सम्पूर्ण देश की विद्यालय–स्तर की शिक्षा के सब कार्य सौंप देने चाहिए। यथा सरकार द्वारा निर्धारित की जाने वाली शिक्षा नीति का कार्यान्वयन, शिक्षा का विकास एवं नियोजन विद्यालयों को सहायता अनुदान आदि।

धन का अभाव : प्राथमिक शिक्षा के समक्ष धन के अभाव की समस्या बहुत ही महत्वपूर्ण है। भारत सरकार अन्य देशों की सरकारों की तुलना में शिक्षा पर सबसे कम धन व्यय करती है। जबकि रूस अपनी राष्ट्रीय आय का 7%,[1] जापान 6%, अमरीका, 4.7%, और इंग्लैंड 4.5% शिक्षा पर व्यय करते हैं।

समाधान : *पहला,* भारत सरकार को अपनी सब योजनाओं में थोडी–थोडी बचत करके प्राथमिक शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय में वृद्धि करनी चाहिए।

दूसरा, इस समय प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा पर सरकार के व्यय का अनुपात 1:5 है।[2] सरकार को जन शिक्षा की गम्भीरता को समझकर, इस अनुपात को 5:1 कर देना चाहिए।

तीसरा, सरकार जिस धन का उपयोग प्राथमिक विद्यालयों को बेसिक विद्यालयों में परिवर्तित करने के लिए कर रही है, उसका प्रयोग पहले अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए करना चाहिए।

चौथा, दिनकर देसाई का सुझाव है कि चीन, रूस मिस्र, जापान, जर्मनी एवं आस्ट्रेलिया के समान भारत में भी प्राथमिक शिक्षा के निम्न स्तर की अवधि –5 वर्ष के बजाय 4 वर्ष की कर देनी चाहिए और इस प्रकार[3] बचने वाले धन से नवीन प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए।

1. Development of Education in India, 1990-92 NIEPA & Development of Education MHR, New Delhi India P.12
2. Asian Drama Vol.III, P. 1966
3. Primary Education in India P.P 30-32

समस्या – प्रशिक्षित अध्यापकों का अभाव : अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए प्रशिक्षित अध्यापकों की वांछित संख्या उपलब्ध न होने के कारण एक जटिल समस्या उपस्थित हो गई है। यह समस्या छात्र संख्या निरन्तर होने वाली वृद्धि के कारण और भी अधिक जटिल हो गई है।

कोठारी कमीशन ने वर्ष 1985-86 तक प्राथमिक स्तर पर छात्र संख्या की सम्भावित वृद्धि तालिका दी है और सुझाव दिया है कि इस स्तर पर शिक्षक एवं छात्रों का अनुपात 1:50 होना चाहिए।[1] इन बातों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि भविष्य में प्रतिवर्ष 2.4 लाख अतिरिक्त शिक्षकों की आवश्यकता पड़ेगी। प्राथमिक विद्यालयों में कार्य करने वाले शिक्षकों में से 3 प्रतिशत या तो अवकाश ग्रहण कर लेते हैं या अध्यापन कार्य छोड़ देते हें। इस प्रकार, देश को भविष्य में प्रतिवर्ष 3.26 लाख अतिरिक्त शिक्षकों की आवश्यकता पड़ेगी।[2]

1965 के एक सर्वेक्षण के अनुसार सम्पूर्ण देश में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए 28 लाख प्रशिक्षित अध्यापकों की आवश्यकता थी।[3] किन्तु सरकार के अथक प्रयास के बाबजूद भी 1990-91 तक केवल 16 लाख 37 हजार शिक्षक प्राइमरी स्तर पर तथा 10 लाख 59 हजार उच्च प्राथमिक स्तर पर थे।[4]

समाधान- अध्यापकों की पूर्ति- अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए प्रशिक्षित अध्यापकों के अभाव को दूर करने के लिए निम्म उपाय है:- पहला, शिक्षकों के वेतन में पर्याप्त वृद्धि करके, अध्यापन कार्य को आकर्षक बनाया जाय, दूसरा ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक विद्यालयों में उन्हीं क्षेत्रों में निवास करने वाले पुरुषों एवं स्त्रियों की नियुक्ति की जाय और उनको शहरी क्षेत्रों के अध्यापकों से अधिक सुविधायें दी जाये। यदि आवश्यक हो तो उनको भत्ता भी दिया जाये और कम शैक्षिक योग्यता होने पर भी उनको नियुक्त किया जाय।

समस्याः विद्यालयों की स्थापना– प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक रूप प्रदान करने के लिए देश के विभिन्न भागों में विद्यालयों की स्थापना एक आवश्यक शर्त है। नगरों में तो इस शर्त को सरलता से पूरा किया जा सकता हैं पर ग्रामों में नहीं। सन् 1981 की जनगणना के अनुसार इस समय भारत में 5,57,117 पूर्ण रूप से बसे तथा 48.107 अर्द्ध बसे ग्राम है।[5] इनमें से 3,18,633 ग्राम ऐसे हैं जिनकी जनसंख्या 500 से कम हैं एक सर्वेक्षण के अनुसार 240,048 ग्रामों में प्राथमिक विद्यालय नहीं हैं।[6]

1. Kothari Commission Report P- 161
2. Education in India, Today & Tomorrow, p 100 S.N. Muker ji
3. The Eighteenth year of Freedom P.97
4 Development of Education in India 1990-92 P. 12
5. India 1983, P.16
6. India 1980, P.11

समाधान : मौजूदा सुविधाओं के प्रयोग का विस्तार करना, जिनमें स्कूल में पढाई के घण्टों का समायोजन सम्मिलित है जो स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार एक दिन में तीन घण्टे से अधिक नहीं होगें, नई सुविधाओं की व्यवस्था, जो आर्थिक रूप से व्यवहार्य तथा शैक्षिक रूप से सुसंगत हों, गैर औपचारिक शिक्षा प्रणाली को बढावा देना। इसमें शालात्यागी बच्चों तथा काम में लगे बच्चों को शिक्षा देने पर बल दिया गया है, औपचारिक तथा गैर औपचारिक दोनों प्रणालियों में छात्रों को बनाये रखने पर जोर दिया जायेगा और बच्चों को प्रभावकारी कार्य दिया जायेगा, बच्चों को समुचित प्रोत्साहन देना, जैसे मध्यान्ह भोजन, स्कूल की वर्दी देना, शिक्षा प्राप्त करने की सामग्री मु.फ्त देना और समय की कीमत के एवज में अनुसूचित जातियों के परिवारों की लडकियों को मुआवजा देना आदि।

समस्या विद्यालय के भवन- विद्यालयों की स्थापना में बहुत कुछ सम्बद्ध विद्यालय भवनों की समस्या है। सम्पूर्ण देश में सरकार और स्थानीय संस्थाओं द्वारा विद्यालयों के लिए विशेष रूप से निर्मित किये जाने वाले भाव केवल इतने हैं जिनमें 50% छात्र विद्या का अर्जन कर सकते हैं।[1] शेष विद्यालय विभिन्न राज्यों में विभिन्न स्थानों में चल रहे हैं। कुछ राज्यों में इनका संचालन मन्दिरों, गांवो, की चौपलों, किराये के मकानों और धनी पुरुषों के स्थान के थोडे से भागों में किया जा रहा है। कुछ राज्य ऐसे भी हैं जिनमें डेरों झोपडियों, खुले स्थानों या वृक्षों के नीचे शिक्षण कार्य किया जा रहा है।[2]

समाधान- स्वर्गीय मौलानाअबुलकलाम आजाद का सरकार को यह परामर्श था "हमें ग्राम निवासियों से अपील करनी चाहिए कि यदि हम उनके लिए भवन निर्माण सामग्री की व्यवस्था कर दें तो अपने निवास करने के गृहों के समान विद्यालय भवनों का निर्माण करें।

समस्या- अपव्यय व अवरोधन कोठारी कमीशन के अनुसार - निम्न स्तर पर बालकों एंव बालिकाओं की शिक्षा में अपव्यय क्रमशः 56% एव[3] 62% और उच्च प्राथमिक स्तर पर यह अनुपात क्रमशः 24% एवं 34% है

समाधान- कुछ सुझाव, पाठ्यक्रम में सुधार, परीक्षा प्राणली में सुधार, शिक्षा व्यवस्था में सुधार, विद्यालय के अन्दर और बाहर के वातावरण में सुधार, अभिभावकों की शिक्षा, उत्तम विद्यालयों की व्यवस्था, शिक्षण विविधों की रोचकता, सामाजिक समस्याओं का समाधान, छात्रों के स्वास्थ्य की उन्नति और, शिक्षा एवं जीवन में उचित सम्बन्ध की स्थापना।

---

1. Education in India Today & Tomorrow — S. N. Mukerji P. 105
2. Education in India 1958-59
3. Kothari Commission Report P.156

समस्या प्रेरणा का अभाव : अनिवार्य शिक्षा के विचार में बाधा उपस्थित करने वाली अन्तिम समस्या है प्रेरणा का अभाव। ग्रमीण जनता निर्धन है और प्रत्येक ग्राम में प्राथमिक विद्यालय नहीं है। निर्धन अभिभावक अपने बालकों को अपने ग्रामों के विद्यालय में भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए कुछ ही समय के लिए भेजते हैं या बिल्कुल नहीं भेजते हैं।

समाधान : विद्यालयों में सहायक सेवाओं की व्यवस्था की जानी अनिवार्य है। इन सेवाओं में निःशुल्क मध्यान्ह भोजन, पाठ्य पुस्तकों, लेखन-सामग्री, चिकित्सा इत्यादि को स्थान दिया जाना चाहिए। ये सेवाएं या सुविधाएं ऐसी प्रबल प्रेरक शक्तियों का कार्य करेगीं कि स्वयं बालक विद्यालय जाने को आग्रह करेंगे और अभिभावक उन्हें भेजने के लिए तत्पर रहेंगे।[1]

माध्यमिक शिक्षा

प्राचीन भारत में शिक्षा की सर्वमान्य संस्था आश्रम, गुरुकुल, अग्रहारा, मठ, संघ और बिहार थे। इनमें गुरुकुल प्राथमिक तथा उच्च शिक्षा के केन्द्र थे और बौद्धकाल में अग्रहारा तथा मठ प्राथमिक शिक्षा के केन्द्र माने गये तथा संघ एवं बिहार उच्च शिक्षा केन्द्र बताये गये हैं। इस प्रकार प्राथमिक एवं उच्च शिक्षा के मध्य माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था के वर्णन का अभाव सर्वविदित दिग्दर्शित है।[2]

सैयदैन के शब्दों में– "सारे संसार के शैक्षणिक क्षेत्रों में माध्यमिक शिक्षा के आम ढर्रे के प्रति गहरा असन्तोष रहा है और वे काफी समय ये यह अनुभव करते हैं। कि उसकी आमूल पुनर्रचना तत्काल आवश्यक है। यद्यपि प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में बहुत से बहुमूल्य परिवर्तन हुए हैं और स्वयं हमारे देश में बुनियादी शिक्षण पद्धति ने उसकी समस्याओं के प्रति एक बिल्कुल ही नया रवैया अपनाया है, पर माध्यामिक शिक्षा अभी कुछ समय पहले तक कुल मिलाकर गतिहीन तथा अपरिवर्तित रही हैं"[3]

भारत जैसे विकासशील देश में माध्यमिक शिक्षा का महत्व विशेष रूप से है। माध्यामिक शिक्षा का समय विद्यार्थी की किशोरावस्था का समय होता है। इस समय वह महत्त्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक और उद्वेगात्मक परिवर्तनों से ग्रसित होता है। माध्यामिक विद्यालय का विद्यार्थी न बालक है, न बड़ा और न तेजी से एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुंच रहा है। छोटे बच्चों की तरह वह दूसरों पर निर्भर भी नहीं तथा कालेज के विद्यार्थियों की तरह आत्मनिर्भर भी नहीं है। वह वर्तमान मूल्यों को सन्देह की दृष्टि से देखता है तथा उंसका मन स्थायी रूप से

---

1. क) शि० स० स० – त्यागी एवं पाठक – पृ० 76-77
   ख) भा० शि० स० – पी० डी० पाठक – पृ० 308- 309
2. शि० प्र० स० – आर० एन० मिश्र – पृ० 23
3. क) शिक्षा की पुनर्रचना – के० जी० सैयदैन – पृ० 165-166
   ख) भा० शि० स० स० – त्यागी एवं पाठक – पृ० 86
   ग) भा० शि० स० – पी० डी० पाठक – पृ० 313

बेचैन और बागी है। एक विचित्र आदर्शवाद से ग्रसित तथा संसार का पुनर्निर्माण अपनी इच्छा के अनुसार करना चाहता है। उसके अध्यापक उसके लिए आदर्श हैं या जालिम। यह जीवन के आंधी-तूफान के दिन हैं [1] ऐसी नाजुक स्थिति में उन विद्यार्थियां को उचित निर्देशन और मार्गदर्शन चाहिए।

सम्पूर्ण भारत में माध्यमिक शिक्षा का स्वरूप एवं ढांचा एक जैसा नहीं है। मुदालिर कमीशन ने अपने सर्वेक्षण द्वारा निम्न प्रकार के माध्यमिक विद्यालयों का वर्णन किया था :

(1) **हायर एलीमेन्टरी तथा मिडिल स्कूल** : इनमें कक्षा 6 से 8 तक की शिक्षा दी जाती है।

(2) **माध्यमिक विद्यालय** - इनके दो भाग हैं -

क) जूनियर और हायर स्तर।

ख) सीनियर बेसिक स्कूल (कक्षा 6 से 8 तक) जूनियर स्तर के अन्तर्गत आते हैं और उच्च स्तर पर हाईस्कूल।

(3) **हायर सेकण्डरी स्कूल** : इनमें 3 या 4 वर्ष की माध्यमिक शिक्षा देने की व्यवस्था है, इनमें 1 वर्ष इण्टरमीडिएट स्तर को मिला लिया गया है।

(4) **प्री-यूनीवर्सिटी** : कहीं-कहीं पूर्व विश्वविद्यालय और डिग्री का प्रथम वर्ष इन्टर-मीडिएट के अन्तिम वर्ष भी माध्यामिक शिक्षा के अन्तर्गत आता है।

(5) **इण्टरमीडिएट कालेज** : इनमें दो वर्ष का पाठ्यक्रम (कक्षा 11-12) होता है।

(6) **व्यावसायिक कॉलेज** : माध्यमिक स्तर पर इंजीनियरिंग, टेक्नोलोजी, वैटरनरी, मेडीसिन, कृषि तथा कामर्स, सिलाई, कताई-बुनाई, तथा व्यावसायिक शिक्षा के कॉलेज आते हैं। कहीं हाईस्कूल और कहीं कहीं इण्टरमीडिएट उत्तीण छात्रों को इनमें प्रवेश दिया जाता है।

(7) **टेक्निकल संस्थान** : माध्यमिक स्तर के बहुत सारे टेक्निकल संस्थान है। इनमें जूनियर हाईस्कूल उत्तीर्ण छात्रों को प्रवेश दिया जाता है।

(8) **पॉलिटेक्निक** : विभिन्न प्रदेशों में इन प्रौद्योगिक संस्थानों में बहु-उद्देशीय उघोग धन्धों की शिक्षा प्रदान की जाती है। इनमें हायर सेकण्डरी परीक्षा के उपरान्त ही प्रवेश मिल सकता है।[2]

---

1. क) आ० भा० शि० स० - बी० बी ० अग्रवाल पृ० 177
   ख) शि० प्र० स० - आर० एन० मिश्र पृ० 22
2. शि० प्र० स० - आर० एन० मिश्र पृ० 30

राष्ट्रीय शिक्षा नीति(1986) : माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर विद्यार्थियों को विज्ञान, मानविकी तथा सामाजिक विज्ञानों को विशिष्ट भूमिकाओं का ज्ञान होने लगता है। इस अवस्था में बच्चों को इतिहास बोध तथा राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य सही ढंग से दिया जा सकता है साथ ही इस अवस्था पर अपने संवैधानिक दायित्व और नागरिकों के अधिकारों से भी उन्हें परिचित होना चाहिए। अच्छे शिक्षाक्रम या पाठ्यक्रम द्वारा उनमें चेतन रूप से कर्मशीलता के और करूणाशील सामाजिक संस्कृति के संस्कार डाले जा सकते हैं। इस स्तर पर विशेष संस्थाओं में व्यवसायों की शिक्षा के द्वारा और माध्यामिक शिक्षा की पुनर्रचना के द्वारा देश के आर्थिक विकास के लिए मूल्यवान जनशक्ति जुटाई जा सकती हैं जिन क्षेत्रों में अभी सैकण्डरी शिक्षा नहीं पहुंची वहां पर इसे पहुंचाकर अधिक सुलभ बनाया जा सकेगा।

नवोदय विद्यालय

1. समानता और सामाजिक न्याय के साथ साथ श्रेष्ठता के लक्ष्य को प्राप्त करना।

2. देश के विभिन्न भागों से आये प्रतिभावन बालकों, अधिकतर ग्रामीण बालकों को साथ-साथ रहने व पढ़ने के अवसर प्रदान करके राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देना।

3. उनकी पूर्ण क्षमता को विकसित करना।

4. विद्यालय उन्नयन के राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम में उत्प्रेरक का कार्य करना।

5. प्रतिभावन बच्चों की पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के भेदभाव के बिना उनके सर्वागीण विकास के लिए आधुनिकतम सुविधाओं साहित श्रेष्ठ स्तर की आधुनिक शिक्षा उपलब्ध कराना।

6. त्रिभाषा फार्मूले के अनुसार तीन भाषाओं में उचित योग्यता प्रदान करना।

7. अनुभव और सुविधाओं के आधार पर शिक्षा में सुधार के लिए केन्द्र के रूप में कार्य करना।

8. इन नवोदय विद्यालयों की स्थापना का मुख्य लक्ष्य सामाजिक, आर्थिक अथवा अन्य किन्हीं सीमाओं के कारण शिक्षा से वंचित बालकों को गुणात्मक शिक्षा उपलब्ध कराकर उनका सन्तुलित तथा बहुआयामी विकास करना है।

नवोदय विद्यालयों में कक्षा 6 से कक्षा 12 तक की पढ़ाई की व्यवस्था है। ये विद्यालय केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड(CBSE) से सम्बन्धित है।। इन विद्यालयों में शिक्षा पूर्णतः निःशुल्क है। छात्र छात्राओं को आवास, भोजन पुस्तकें, पाठ्य सामग्री तथा गणवेश भी निःशुल्क उपलब्ध कराई जाती हैं। नवोदय विद्यालय +2 के स्तर की शिक्षा मानवशास्त्र, वाणिज्य, विज्ञान तथा व्यावसायिक क्षेत्रों में प्रदान करते हैं।[2]

1. भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 90
2. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 91
   ख) Annual Report 1993 - 94 p. 74
   ग) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 316

माध्यमिक शिक्षा का व्यवसायीकरण- शिक्षा के प्रस्तावित पुनर्गठन में व्यवस्थित और सुनियोजित व्यावसायिक शिक्षा के कार्यक्रम को दृढ़ता से क्रियान्वित करना बहुत ही जरूरी है। इससे व्यक्तियों के रोजगार पाने की क्षमता बढ़ेगी।

व्यावसायिक शिक्षा अपने में शिक्षा की एक विशिष्ट धारा होगी जिसका उद्देश्य कई क्षेत्रों के चुने गये काम धन्धों के लिए छात्रों को तैयार करना चुने गये काम- धन्धों के लिए छात्रों को तैयार करना होगा। ये कोर्स आमतौर पर सैकण्डरी शिक्षा के बाद दिये जायेगे। औद्योगिक संस्थान (ITI) भी व्यावसायिक शिक्षा के ढांचे के अनुसार चलेंगे ताकि इनमें प्राप्त सुविधाओं का पूरा लाभ उठाया जा सके।

व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में स्नातकों को ऐसे अवसर दिये जायेंगे जिनके फलस्वरूप वे पूर्व निर्धारित शर्तों के अनुसार व्यावसायिक विकास कर सकें। कैरियर में तरक्की पा सकें। नवसाक्षर लोगों, प्राथमिक शिक्षा पूरी किये हुए युवाओं, स्कूल छोड़ जाने वालों और रोजगार में या आंशिक रोजगार में लगे हुए व्यक्तियों के लिए भी अनौपचारिक लचीलें और आवश्यकता पर आधारित व्यावसायिक शिक्षा के कार्यक्रम चलाये जायेंगे।

उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की अकादमिक धारा के स्नातक यदि चाहें तो उनके लिए उच्चस्तरीय व्यावसायिक पाठ्यक्रमों का प्रबन्ध किया जायेगा।[1]

शैक्षिक टैक्नालॉजी कार्यक्रम

शिक्षा में व्यापक गुणात्मक सुधार लाने के लिए सन् 1972 में शैक्षिक टैक्नालॉजी कार्यक्रम शुरू किया गया। शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण (NCERT) में शैक्षिक टेक्नालॉजी कक्ष स्थापित करने के लिए शत प्रतिशत सहायता प्रदान की गई। एन० सी० ई० आर० टी० में एक केन्द्रीय शैक्षिक टैक्नालॉजी संस्थान और छः राज्यों आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश में राजकीय शैक्षिक टैक्नालॉजी संस्थान स्थापित किये गये। 1986 के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए शैक्षिक टैक्नालॉजी योजना में संशोधन किया गया। इसका उद्देश्य शैक्षिक दूरदर्शन तथा श्रवण कार्यक्रम निर्माण सुविधाओं को सशक्त करना और सातवीं योजना अवधि के दौरान प्राथमिक विद्यालयों को एक लाख रंगीन टेलीविजन तथा पांच लाख रेडियो-कम-कैसेट प्लेयर को सप्लाई करके सुविधाओं का विस्तार करना था।[2]

---

1. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 91-92
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 318
2. क) Annual Report 1993 - 94 P. 47-48
   ख) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 94
   ग) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 319-320

अन्तर्राष्ट्रीय मैथेमेटिकल ओलम्पियाड

विद्यालय स्तर पर गणित के प्रतिभाशाली छात्रों की पहचान करने तथा उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मैथेमेटिकल ओलम्पियाड आयोजित किया जाता है। प्रत्येक प्रतिभाशाली देश को आठ सदस्यीय प्रतिनिधिमण्डल भेजने का अधिकार है। इसमें 6 माध्यमिक विद्यालय के छात्र तथा एक दल का नेतां और एक उपनेता शामिल होता है।

विद्यालयी शिक्षा को पर्यावरण उन्मुख बनाना।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति में पर्यावरण के संरक्षण को एक मूल्य स्वीकार किया गया था। इस योजना के अन्तर्गत राज्यों, केन्द्र शासित प्रदेशों तथा स्वयंसेवी संगठनों को पर्यावरण शिक्षा के क्षेत्र में काम करने के लिए शत प्रतिशत सहायता दी जाती है। इस योजना के कार्यो में पाठ्यक्रम तथा उसके अलावा सामग्री की समीक्षा, सामान्य जानकारी की किताबें/ पोस्टर/ दृश्य पाठ्यक्रम तथा पाठ्यक्रम सहगामी सामग्री की समीक्षा विद्यालयों द्वारा विभिन स्मारकों के अध्ययन, साज-सम्भाल का काम सम्भालना और आस-पड़ौस की पारिस्थितिकीय समस्याओं का अध्ययन शामिल है।[1]

माध्यमिक शिक्षा की वर्तमान स्थिति।

वर्ष 1987-88 से 1990-91 की अवधि के दौरान माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक स्कूलों तथा छात्रों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इस अवधि के दौरान माध्यमिक तथा उच्च माध्यामिक स्कूलों तथा छात्रों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इस अवधि के दौरान माध्यामिक स्तर पर 16.8% तथा उच्चतर माध्यमिक स्तर पर पर कुल नामांकन में से 33.4% लड़कियों थीं और उच्चतर माध्यमिक स्तर पर इसका नामांकन 32% था। भारत सरकार ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1896 की कार्य योजना। 1986 में परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुकूल संशोध किया और कार्य-योजना 1992 प्रस्तुत की गई। माध्यमिक शिक्षा व्यावसायीकरण विज्ञान शिक्षा के गुणात्मक सुधार, योग शिक्षा, संगणक शिक्षा, जनसंख्या शिक्षा, मूल्यपरक शिक्षा, पर्यावरण उन्मुख शिक्षा आदि को सम्मिलित किया गया।[2]

सैंडलर आयोग या कलकता विश्वविद्यालय आयोग :-

कलकता विश्वविद्यालय आयोग 14 सितम्बर 1917 को भारत सरकार द्वारा सर माईकल सैडलर की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया। इस आयोग ने अपनी

---

1. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 97
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 322
2. क) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 324
   ख) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 99

रिपोर्ट 1919 में पेश की और निम्नलिखित सिफारिशे की:-

क) माध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित सिफारिशें:- आयोग ने विश्वविद्यालय की शिक्षा में सुधार लाने के लिए माध्यमिक शिक्षा में मूलभूत परिवर्तन लाने की आवश्यकता को अनुभव किया।

1. विश्वविद्यालय में प्रवेश का चरण : विश्वविद्यालनय में प्रवेश इन्टरमीडियेट के बाद हो न कि मैट्रिक के बाद जैसा कि उस समय प्रचलित था।

2. इन्टरमिडियेट कक्षाओं का जारी करना: हाईस्कूलों के साथ इंटरमिडियेट कक्षायें न जोड़ी जायें बल्कि इन्टरमिडियेट कालेज नाम की संस्थाएं चालू की जायें।

3. टयूटोरियल तथा सैमीनार- उच्च शिक्षा में टयूटोरियल कक्षाओं तथा सेमीनारों का प्रबन्ध किया जाए।

4. पाठ्यक्रम : चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कृषि, वाणिज्य, शिक्षा, विज्ञान तथा आर्ट में निर्देश दिए जाये।

5. शिक्षा का माध्यम : अंग्रेजी तथा गणित के अतिरिक्त अन्य विषयों का माध्यम भारतीय भाषा हो।

6. माध्यामिक तथा इन्टरमिडियेट परीक्षा के लिए बोर्ड :- प्रत्येक प्रान्त में माध्यमिक तथा इन्टरमिडियेट परीक्षा का एक बोर्ड होना चाहिए। इसका काम विभिन्न पाठ्यक्रम बनाना, माध्यमिक स्कूलों की दो परीक्षायें लेना तथा हाईस्कूलों और इन्टरमिडियेट कालेजों को स्वीकृति देना हो।[1]

मुदालियर आयोग: माध्यमिक शिक्षा आयोग भारत सरकार द्वारा 23 सितम्बर 1952 को डॉ० ए० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया:-

हायर सैकण्डरी प्रणाली की स्थापना, विविध कोर्स, तीन भाषा सिद्धात्त, शिक्षा तथा व्यावसाथिक निर्देशन पर बल, शिक्षा विधियों में सुधार, पाठ्य पुस्तकों में सुधार, परीक्षा प्रणाली में सुधार, शिक्षा स्टाफ में सुधार, विद्यार्थियों की शारीरिक भलाई में सुधार, भवन तथा साज सामान में सुधार।

मध्यमिक शिक्षा आयोग की रिपोर्ट को अध्यापकों की बाइबल कहा जाता है। शिक्षा से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति को इस रिपोर्ट को पढ़ना चाहिए। और इसकें लाभों से आनन्द उठाया चाहिए।[2]

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 12-13
2. वही - वही पृ० 21-22

माध्यमिक शिक्षा आयोग के मतानुसार

'जहां तक शिक्षा के माध्यम का संबंध है बहुत से स्कूलों में क्षेत्रीय भाषा को माध्यम चुना गया है। जहां पर अल्पमत वर्ग है। वहां मातृभाषा में शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया है, चाहे उनकी संख्या कम ही क्यों न हो।

शिक्षा- माध्यम भारतीय शिक्षा आयोग ने मातृभाषा के दावे की पुष्टि की है। आयोग के मतानुसार-चुना गया माध्यम बच्चों को इस योग्य बनाये कि वे आसानी से ज्ञान ग्रहण कर सकें, अपने विचार स्पष्ट तौर पर प्रकट कर सकें और ठीक-ठीक सोच सकें। इस दृष्टिकोण से मातृभाषा का दावा बहुत महत्त्वपूर्ण है।[1]

माध्यमिक शिक्षा की समस्याएं व उनके समाधानः स्वतन्त्र भारत में माध्यमिक शिक्षा का विकास तीव्र गति से हुआ है। समय-समय पर किये जाने वाले प्रयासों के बावजूद न तो उसकी संरचना में कोई विशेष परिवर्तन हुआ है। और न उसकी उपयोगिता में कोई विशेष अभिवृद्धि। वह हमारी शिक्षा व्यवस्था की अब भी सबसे निर्बल कड़ी है। वह वास्तविक जीवन से असम्बद्ध है। हमारी प्रचलित माध्यमिक शिक्षा में अनेक दोषों और समस्याओं का समावेश हो गया। हम कुछ प्रमुख समस्याओं और उनके समाधान पर निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकाश डाल रहे हैं :-

समस्या उद्देश्यहीनता- हमारी माध्यमिक शिक्षा की उद्देश्यहीनता स्वय सिद्ध सत्य है वस्तुतः इस शिक्षा का जो उद्देश्य पराधीन भारत में था, वही स्वाधीन भारत में भी है। माध्यमिक शिक्षा ग्रहण करने वाले भारतीय छात्रों के केवल दो उददेश्य होते हैं। उच्च शिक्षा की किसी संस्था में प्रवेश पाना या कोई छोटी मोटी नौकरी प्राप्त करना। किन्तु जिन विद्यार्थियों को अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफलता मिलती है वे एवं उनके अभिभावक दोनों भग्नाशा का शिकार बनकर किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाते हैं।

समाधान : "डॉ० एस० एन० मुकर्जी का परामर्श है। "माध्यमिक शिक्षा स्वयं में पूर्ण होनी चाहिए और उसे छात्रों को उच्च शिक्षा के लिए तैयार करना चाहिए। उसे कुछ छात्रों को जीवन में प्रवेश करने के लिए और दूसरों को विश्वविद्यालय में प्रवेश करने के लिए तैयार करना चाहिए"।[2]

'माध्यामिक शिक्षा आयोग' ने भारत की वर्तमान आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में माध्यमिक शिक्षा के जो उद्देश्य निर्धारित किए हैं, वे भी उपयुक्त हैं।

समस्या छात्र-अनुशासनहीता- वर्तमान माध्यामिक शिक्षा की एक नवीन जटिल समस्या छात्र अनुशासनहीनता है। इसके लिए छात्रों पर दोषारोपण

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 21-22
2. वही - वही पृ० 30

करना उनके प्रति असीम अन्याय करना है अनुशासनहीनता के लिए छात्र नहीं, वरन् अनेक शैक्षिक, आर्थिक एवं सामाजिक कारण उत्तरदायी है, सबसे गम्भीर कारण है- अनुपयुक्त पाठ्यक्रम, दोषपूर्ण परीक्षा-प्रणाली, उद्देश्यहीन शिक्षा, सहशिक्षा का प्रचलन जातीय पक्षपात, आर्थिक कठिनाइयां, सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन, छात्रों के प्रति अध्यापकों की उदासीनता, राजनीतिक दलों का छात्रों को प्रोत्साहन, कामोद्दीपक चलचित्र, अश्लील गीत इत्यादि। इसके कारण छात्रों में अनुशासहीनता की तीव्र गति से वृद्धि हो रही हैं। यदि इस समस्या का तुरन्त समाधान न किया गया तो वह असाध्य रोग बनकर हमारे देश के लिए दारूण दुःख का कारण बन सकती है।

समाधान- हुमायूँ कबीर के अनुसार- "विद्यालय में प्रदान की[1] जाने वाली शिक्षा में नैतिक सामग्री को समाविष्ट करने का प्रयास किया जाय"

समस्या- धन का अभाव- भारत के अधिकांश माध्यमिक स्कूल धनाभाव के कारण अपने छात्रों का शारीरिक, मानसिक एवं चारित्रक विकास करने में पूर्णतया सफल नहीं होते हैं। धनाभाव का मुख्य कारण यह है कि ये स्कूल बहुत कुछ छात्रों से प्राप्त होने वाले शुल्क से चलते हैं 25% से अधिक व्यक्तिगत माध्यमिक स्कूलों को सरकार से किसी प्रकार की आर्थिक सहायता प्राप्त नहीं होती हैं।[2]

समाधान 'अन्तर्राष्ट्रीय टीम'[3] और 'माध्यमिक शिक्षा'[4] आयोग स्कूलों की धनाभाव की समस्या का समाधान करने के लिए कुछ सुझाव लाभप्रद सिद्ध हो सकते हैं-

क) केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों को पारस्परिक सहयोग से माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन तथा उसकी नीतियों का निर्माण करना चाहिए। साथ ही उसके संचालन का दायित्व अपने कन्धों पर लेना चाहिए।

ख). विद्यालयों को अपनी गुणात्मक उन्नति करने के लिए सरकार से समय समय पर अतिरिक्त सहायता अनुदान मिलना चाहिए।

समस्या दोषपूर्ण पाठ्यक्रम- लगभग एक शताब्दी पूर्व निर्मित किया जाने वाला पाठ्यक्रम अब भी सम्पूर्ण देश में लगभग कुछ परिवर्तनों के साथ माध्यमिक स्कूलों में प्रचलित है। समयानुकूल न होने के कारण उनकी उपयोगिता नष्ट हो गई है। और उनमें अनेक गम्भीर दोष प्रकट हो गए हैं माध्यमिक शिक्षा[5] के अनुसार कुछ उल्लेख निम्न हैं।

क) पाठ्यक्रम - पुस्तकीय एवं सैद्धान्तिक हैं

ख) पाठ्यक्रम - नीरस, बोझिल एवं परम्परागत है।

---

1. Education in India Today and Tomorrow S. N. Mukerji p. 144
2. letters on Discipline, - Humayum kabir उद्धृत भा० शि०स० -पी० डी० पाठक पृ० 217
3. Education in India Today & Tomorrow - S.N. Mukerji P. 159
4. Report of the International Team P.P. 105-121
5. Secondary Education commission Report P. 227

ग) **पाठ्यक्रम**– संकुचित एवं एकमार्गीय है।

घ) **पाठ्यक्रम**– किशोरों की विभिन्न रूचियों एवं आवश्यकता को पूर्ण नहीं करता है।

ङ) **पाठ्यक्रम** पर परीक्षा का पूर्ण प्रभुत्त्व है।

च) **पाठ्यक्रम** में प्राविधिक व्यावसायिक विषयों का अभाव है।

छ) **पाठ्यक्रम** का छात्रों के वातावरण और वास्तविक एवं सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

'माध्यमिक शिक्षा आयोग' ने उपर्युक्त दोषों के कारण छात्रों का जो अहित होता है, उस पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "जब छात्र स्कूल छोड़ते हैं, तब वे समाज से असामंजस्यता का अनुभव करते हैं और वे उसमें अपने स्थान को विश्वास एवं कुशलता से ग्रहण नहीं कर पाते हैं।"[1]

समाधान– विविध व्यावसायिक पाठ्यक्रम- पाठ्क्रम के दोषों का निवारण इस बात को ध्यान में रखकर किया जा सकता है कि सब बालको के लिए समान पाठ्यक्रम नहीं हो सकता है। उसमें विभिन्न वर्गो के छात्रों की अभिवृत्तियों, अभिरूचियों एवं सभी आवश्यकताओ के अनुसार पाठ्य-विषयों का समावेश किया जाना आवश्यक है 'मुदालियर कमीशन' ने विविध पाठ्यक्रमों का और 'कोठारी कमीशन' ने व्यावसायिक पाठ्यक्रमों का सुझाव दिया है। इन दोनों कमीशनों के विचार निम्नलिखित हैं :-

क) पाठ्यक्रम के समस्त विषयों में अन्तः सम्बन्ध होना चाहिए।

ख) पाठ्यक्रम का सामाजिक जीवन एवं राष्ट्रीय आवश्यकताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए।

ग) छात्रों को अपनी क्षमताओ, योग्यताओं एवं अभिरूचियों के अनुसार विषयों का चयन करने के लिए पाठ्यक्रम में विविध विषयों को स्थान दिया जाना चाहिए।

घ) 'मुदालियर कमीशन' ने विविध विषयों में इनको विशेष महत्त्व दिया है-कृषि विज्ञान, गृह विज्ञान, मानव विज्ञान, ललित कलाएँ और प्राविधिक एवं वाणिज्यिक विषय।

ङ)'कोठारी कमीशन' ने माध्यामिक शिक्षा के व्यवसायीकरण के लिए इन विषयों पर विशेष बल दिया है- जीव विज्ञान, गृह-विज्ञान, भूगर्भ-शास्त्र, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, समाज सेवा और कार्य अनुभव।

दोषपूर्ण परीक्षा प्रणाली– 'राधाकृष्णन कमीशन' के अनुसार "लगभग आधी शताब्दी से परीक्षा भारतीय शिक्षा का एक निकृष्टतम तत्त्व स्वीकार किया गया है।"

---

1. Secondary Education commission Report P. 61

समाधान– 'कोठारी कमीशन' ने लिखा है मूल्यांकन निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। यह शिक्षा की सम्पूर्ण प्रणाली का अभिन्न अंग है एवं शिक्षा के उददेश्यों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। छात्र की अध्ययन की आदतों एवं अध्यापक की शिक्षण-विधियों पर अत्यधिक प्रभाव डालता है। इस प्रकार, मूल्यांकन न केवल शैक्षिक उपलब्धि के मापन में, अपितु उसमें सुधार करने में भी सहायता देता है।"

समस्या शिक्षण का निम्न स्तर "माध्यमिक शिक्षा आयोग के अनुसार –"हमें इस बात से अत्यधित दुःख हुआ कि शिक्षकों की सामाजिक स्थिति और कार्य की दशाएं अत्यन्त असन्तोष जनक हैं वास्तव में, हमारा सामान्य विचार यह है कि रूप में उनकी स्थिति पहले से बहुत अधिक खराब है।"

समाधान–कुछ सुझाव

क) शिक्षण विधियों में 'क्रिया पद्धति' एवं 'योजना पद्धति' का प्रमुख स्थान होना चाहिए।

ख) शिक्षण- विधियों को छात्रों को व्यक्तिगत प्रयासों से ज्ञान का अर्जन करने और उसे प्रयोग करने का अवसर देना चाहिए।

ग) शिक्षण विधियों को छात्रों में कार्य को प्रेम, कुशलता, ईमानदारी और पूर्ण रूप से करने की शक्तिशाली इच्छा उत्पन्न करनी चाहिए।

घ) शिक्षण -विधियों की छात्रों की वैयक्तिक विभिन्नताओं के प्रति ध्यान देना चाहिए और सभी को प्रगति करने के समान अवसर देने चाहिए।

समस्या तीन भाषाओं का अध्ययन– 'कोठारी आयोग' ने इस सुझाव में संशोधन करके यह विचार प्रकट किया कि निम्न माध्यमिक स्तर पर 3 भाषाओं का और उच्च माध्यमिक स्तर पर 2 भाषाओं का अध्ययन किया जाय।

क) हिन्दी-भाषी राज्यों में - हिन्दी, अंग्रेजी और एक आधुनिक भारतीय भाषा, जिसमें दक्षिण की कोई भाषा होनी चाहिए।

ख) अहिन्दी भाषी राज्यों में -हिन्दी, क्षेत्रीय भाषा और अंग्रेजी।

समाधान– दो भाषाओं का अध्ययन।

क) हिन्दी भाषी राज्यों में-हिन्दी और एक आधुनिक भारतीय भाषा।

ख) अहिन्दी भाषी राज्यों में-मातृभाषा और हिन्दी।[2]

---

1. Secondary Education commission Report P. 18
2. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 99-107
   ख) शि० प्र० स० - आर० एन० मिश्र पृ० 35-43
   ग) आ० भा० शि० स० - बी० बी ० अग्रवाल पृ० 177-179
   घ) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 378-408
   ड) भा० शि० वि० स० सं० - डॉ० सारस्वत एवं डॉ वाजपेयी पृ० 209-219

उच्च शिक्षा

आधुनिक भारत में दिखाई देने वाली उच्च शिक्षा की व्यवस्था अंग्रेजों की देन है और उसका हमारे देश की प्राचीन परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। ब्रिटिश काल में उच्च शिक्षा की इस नवीन व्यवस्था का विकास किस प्रकार हुआ और हमारे देश में उसकी वर्तमान स्थिति क्या हैं? इसका वर्णन हम आगे करते हैं।[1]

उच्च शिक्षा के उद्देश्यः– सन् 1947 मे पं० जवाहर लाल नेहरू ने, इलाहाबाद विश्वद्यिालय के दीक्षान्त समारोह में उच्च शिक्षा के महत्व तथा उसके उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए अपने भाषण में कहा था।

"विश्वविद्यालय का अस्तित्व मानवताबाद के लिए, सहिष्णुता और विवेक के लिए विचारगत साहस तथा सत्य की खोज के लिए है। उसका लक्ष्य है कि मानव समाज निरनतर उच्चतर उद्देश्यों की ओर कदम बढाये। राष्ट्र और जनता की भलाई इसी मे है कि विश्वद्यिालय अपने दायित्व का समुचित निर्वाह करते रहें।"

सन् 1948–49 में राधाकृष्णन् आयोग ने उच्च शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य स्पष्ट किये थे।

1. भारत मे ऐसी विभूतियों को तैयार करना जो राजनीति प्रशासन, व्यवसाय, उद्योग एवं वाणिज्य आदि क्षेत्रों मे स्वस्थ प्रतिधित्व कर सकें।

2. लोकतान्त्रिक आदर्शों की सुरक्षा करना तथा व्यक्ति एवं समाज में सामन्जस्य स्थापित करना।

3. प्राचीन मर्यादाओं का सम्मान करते हुए हई मान्यताओं एवे विचारधाराओं के बौद्धिक अग्रदूतों को तैयार करना।

4. राष्ट्रीय अनुशासन, अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध, आध्यात्मिक विकास, न्याय स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करना।

5. सामाजिक मुक्ति में सहायता प्रदान करना।

6. व्यक्तियों में जन्मजात गुणों की खोज करना तथा प्रशिक्षण में माध्यमसे उनका विकास करना।

7. विश्वविद्यालयों के नव युवकों में नैतिता तथा सद्व्यवहार के आदर्शों की स्थापना करना।

8. विश्वविद्यालय के छात्रों में विविधय प्रकार से ज्ञान का समन्वय करना तथा उसकी उपलब्धि के अवसर एवं साधन प्रदान करके ज्ञान के विकास के साथ-साथ आत्मिक विकास के अवसर प्रदान करना।

---

1. क) भा० शि० स० स० – त्यागी एवं पाठक पृ० 111
   ख) भा० शि० स० – पी० डी० पाठक पृ० 337

सन् 1964-66 में कोठारी कमीशन ने उच्च शिक्षा के निम्नलिखित उद्‌देश्य स्पष्ट किये थे-

1. सत्य के परिप्रेक्ष्य में नवीन ज्ञान की खोज करना, पुराने ज्ञान और पुराने विश्वासों की नयी आवश्यकताओं और खोजों के प्रकाटों में व्यारव्या करना।

2. जीवन के सभी क्षेत्रों में सही नेतृत्व प्रदान करना।

3. कृषि, कला, चिकित्सा विज्ञान, शिल्प तथा अन्य व्यवसायों में प्रशिक्षित एवं सुयोग्य व्यक्ति समाज को देना, जिनमें सामाजिक दायित्व की भावना को पालन करने की सामर्थ्य हो।

4. समानता एवं सामाजिक न्याय को प्रोत्साहित करना।

5. अध्यापकों एवं विद्यार्थियों में अच्छे जीवन के लिए आवश्यक अभिवृत्तियों एवं मूल्यों का पोषण करना।

6. सामाजिक एवं सांस्कृतिक विषमाताओं को कम करना।

7. राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए कार्य करना।

8. प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों का विकास करना।[1]

उच्च शिक्षा का विकास

आधुनिक भारत में उच्च शिक्षा के विकास का अध्ययन स्पष्ट चरणों में किया जा सकता है था-

1. कॉलेजों का युग : सन् 1757 में प्लासी के युद्ध के पश्चात् जब इस देश पर अंग्रेजी का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हुआ, तब यहां की उच्च शिक्षा अत्यन्त अस्त-व्यस्त दशा में थी। अंग्रेजी ने भारत के हिन्दू एवं मुसलमान शासकों के समान यहां के निवासियों के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था करना अपना कर्त्तव्य समझा। इस शिक्षा में सबसे पहला कदम वारेन हेस्टिगज ने उठाया, जिसने उच्च शिक्षा के लिए 'कलकत्ता मदरसा' का निर्माण कराया।[2]

'कलकता मदरसा' के निर्माण के उपरान्त सन् 1857 तक उच्च शिक्षा के अनेक कॉलेजों की सृष्टि की गई, जिनमें उल्लेखनीय हैं बनारस संस्कृत कॉलेज, हिन्दू कॉलेज, कलकत्ता, क्रिश्चियन कॉलेज, मद्रास पचयप्पा कॉलेज का भी शिलान्यास किया गया, जिनमें अधिक महत्त्व पूर्ण थे- कलकत्ता मेडिकल कॉलेज, बम्बई मेडिकल कॉलेज और रूढकी इंजीनियरिंग कॉलेज। सन् 1857 में सम्पूर्ण बिटिश भारत में 27 कॉलेज थे, जिनमें से 23 सामान्य शिक्षा, चिकित्सा शास्त्र

---

1. क) शि० प्र० स० - आर० एन० मिश्र पृ० 47-48
   ख) आ० भा० शि० स० - बी० बी ० अग्रवाल पृ० 202-203
2. Education in India Today & Tomorrow - S.N. Mukerji P. 173

विश्वविद्यालय स्वायत्तता

शिक्षा आयोग के अनुसार- "यह स्वीकार किया जाना आवश्यक है कि स्वाधीनता के अभाव में विश्वविद्यालय अपने शिक्षण, अनुसन्धान समाज सेवा के मुख्य कार्यों को कुशलतापूर्वक नहीं कर सकते हैं।[1]

आयोग ने निम्न क्षेत्रों में विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता का समर्थन किया हैं छात्रों का चुनाव, शिक्षकों की नियुक्ति एवं पदोन्नति और पाठ्य-विषयों, शिक्षण विधियों एवं अनुसन्धान कार्य के क्षेत्रों में विश्वविद्यालयों की स्वाधीनता को ध्यान में रखते हुए आयोग ने कुछ विचार प्रकट किये हैं :

1. विश्वविद्यालयों को अपने विभागों को कार्य करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता देनी चाहिए।

2. प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष की अधीनता में एक प्रबन्ध समिति का निर्माण किया जाना चाहिए।

3. विश्वविद्यालयों को अपने प्रशासन में इस सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिए कि श्रेष्ठ विचारों का जन्म साधारणतः निम्न स्तरों से होता है।

4. विश्वविद्यालयों को कालेजों की स्वतन्त्रता का उतना ही आदर करना चाहिए। जितना वे अपनी स्वतन्त्रता का करते है।

5. विश्वविद्यालयों की साहित्यिक परिषदों एवं सभाओं में छात्र- प्रतिनिधियों की उपयुक्त संख्या को स्थान दिया जाना चाहिए।

6. विश्वविद्यालय को अपनी स्वाधीनता को बनाये रखने के लिए सैदव प्रयत्नशील रहना चाहिए।

7. प्रत्येक कॉलेज के प्रत्येक विभाग में छात्रों एवं अध्यापकों की संयुक्त समितियों का निर्माण किया जाना चाहिए।

8. प्रत्येक कॉलेज में प्रधानाचार्य की अध्यक्षता में एक केन्द्रीय समिति का संगठन किया जाना चाहिए। जिसके द्वारा कॉलेज की सामान्य समस्याओं एंव कठिनाइयों का अध्ययन किया जाना चाहिए।

9. सरकार विश्वविद्यालयों, विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग एवं अन्तर विश्व विद्यालय-परिषद् को संयुक्त रूप से निन्नांकित कार्य करने चाहिए विभिन्न प्रश्नों पर विचार विमर्श करना, प्रवेश दिये जाने वाले छात्रों की संख्या निश्चित करना एवं प्रयोगात्मक अनुसन्धान की समस्याओं का समाधान करने के लिए उपाय खोजना।[2]

---

1. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 20-21
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 345
2. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 120-121
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 344

शैक्षिक स्टाफ कालेज

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 तथा इसकी कार्य योजना के अनुसरण में केन्द्र सरकार तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने विश्वविद्यालय तथा कॉलेज शिक्षकों के स्तर को सुधारने तथा उन्हें प्रेरणा देने के लिए अनेक उपाय किये हैं। इनमें उनके वेतनमान में संशोधन करना, कार्य निष्पादन से सम्बद्ध जीविका प्रोन्नति के तरीकों का सृजन, अनुसन्धान के लिए प्रोत्साहन, प्रशिक्षण अवसरों का प्रावधान आदि। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने अब तक विभिन्न विश्वविद्यालयों में 48 शैक्षिक स्टाफ स्थापित किए हैं। लगभग 13000 शिक्षकों ने शैक्षिक स्टाफ कॉलेजों तथा विश्वविद्यालय विभागों में अनुस्थापन और पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों में भाग लिया।[1]

खुला विश्वविद्यालय और दूरस्थ अध्ययन

उच्च शिक्षा के लिए अधिक अवसर देने तथा शिक्षा को जनतान्त्रिक बनाने की दृष्टि से खुले विश्वविद्यालय की प्रणाली शुरू की गई है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सन् 1985 में स्थापित 'इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय' खुला विश्वविद्यालय को सुदृढ किया जायेगा। इस प्रबल साधन का विकास एवं विस्तार सावधानी से और सोच समझकर करना होगा।

खुला विश्वविद्यालय या सर्वजनीन विश्वविद्यालय से अभिप्राय उस विश्वविद्यालय से है जो उन सभी के लिए है, जो कि उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं इस विश्व विद्यालय में प्रवेश पाने के लिए किसी डिग्री या डिप्लोमा की आवश्यकता नहीं होती। इसके लिए आयु की कोई सीमा नहीं होती है। प्रवेश लेने वाला किसी भी क्षेत्र का निवासी हो सकता है। इसमें समय की बाध्यता भी नहीं है। इसका कोई परिसर नहीं होता है। उक्त तथ्य से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इस विश्वविद्यालय में परीक्षा नहीं होगी, उपाधि नहीं दी जायेगी या कोई पाठ्क्रम नहीं होगा। परम्परागत विश्वविद्यालय के समान ही इसमें भी ये कार्य होंगे परन्तु इसकी कार्य प्रणाली तथा स्वरूप में विभिन्न अध्ययन केन्द्रों में अध्ययन का समय छात्रों की सुविधा को ध्यान में रखकर निर्धारित किया जायेगा। छात्रों के शिक्षण के लिए आधुनिक तकनीकें- टी० वी०, वीडियों रेडियो आदि का प्रबन्ध तथा प्रयोग अध्ययन केन्द्रों र ही किया जाएगा। इस विश्वविद्यालय छात्रों का मूल्यांकन तीन रूपों में किया जायेग-(अ) छात्र द्वारा स्वमूल्यांकन (ब) ट्यूटर द्वारा मूल्यांकन तथा (स) विश्वविद्यालय द्वारा मूल्यांकन। पाठ्यक्रम की अवधि पूरी होने पर उसके अध्ययन केन्द्रों पर ही परीक्षा ली जायेगी[2] और सफल होने पर विश्वविद्यालय के द्वारा उपाधि या प्रमाण-पत्र दिये जायेंगे।

---

1. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 121
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 345
2. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 122
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 346

पाठ्यक्रमों की पुनः संरचना

विशेषज्ञता की बढ़ती मांगों को पूरा करने पाठ्यक्रमों के संयोजन में लचीलापन लाने, पाठ्यक्रमों, कार्यक्रमों तथा संस्थाओं के बीच गतिशीलता को सुकर बनाने पाठ्य चर्याओं को अद्यतन तथा आधुनिक बनाने, कार्य/व्यवहारिक अनुभव तथा सृजनात्मक कार्यकलापों में सहभागिता को अनुभव तथा सृजनात्मक कार्यकलापों में सहभागिता को अनुभव तथा सृजनात्मक कार्यकलापों में सहभागिता को अध्ययन प्रक्रियाओं के साथ एकीकृत करने और मूल्यांकन कार्य-विधि में सुधार ला सकने के लिए उच्च शिक्षा कार्यक्रमों को फिर से तैयार किया जाना होगा। विश्व विद्यालय अनुदान आयोग ने पांचवी तथा छटी योजना के दौरान विश्वविद्यालयों तथा कॉलेजों के कला, सामाजिक विज्ञानों तथा विज्ञानों के संकायो के प्रथम डिग्री स्तर पर पाठ्यक्रमों की पुनः संरचना के लिए दिशा निर्देश जारी करके और सातवीं योजना के दौरान विज्ञान, मानविकी तथा सामाजिक विज्ञानों में मॉडल पाठ्यचर्याएं तैयार करने के लिए 27 पाठ्यचर्या विकास केन्द्र स्थापित करके पाठ्यक्रम फिर से तैयार करने की इच्छा व्यक्त की। फिर भी विश्वविद्यालय स्तर पर इस सम्बन्ध में की गई कार्यवाही का निरीक्षण करने के लिए अब तक कोई तन्त्र तैयार नहीं किया गया है।

कार्य योजना : 1992 में पाठ्यक्रम पुनः तैयार करने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कुछ सिफारिश इस प्रकार हैं-

1. सी० डी० सी० द्वारा मॉडल पाठ्यचर्या विकसित करने में निहित व्यापक प्रयासों का विश्वविद्यालय पद्धति में पूर्णरूप से प्रयोग किया जाना चाहिए।
2. इन पाठ्यचर्याओं को अपनाने या अनुकूल बनाने के लिए सभी विश्वविद्यालयों को परिचालित किया जाए।
3. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग पांच वर्षो में कम से कम एक बार मॉडल पाठ्चर्या को अद्यतन बनाने के लिए कार्य करें।
4. स्नातक पाठ्यक्रमों को पुनः तैयार करने की विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की मौजूदा मार्गदर्शीय रेखाओं को, जो एक दशक पहले तैयार की गई थी।
5. पाठ्यचर्या में अनुप्रयोग उन्मुख पाठयक्रम शामिल करके और परियोजना और कार्य-क्षेत्र के लिए अवसर प्रदान करके प्रथम डिग्री स्तर पर सभी छात्रों को कार्यजगत की जानकारी देने के प्रयास किये जाने चाहिए।
6. सभी स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में दाखिले चयनात्मक आधार पर किये जायें और उपलब्ध सीटों तक ही सीमित रखे जायें। सभी विश्वविद्यालयों के

स्नातकोत्तर विभागों को चाहिए कि वे सेमेस्टर ग्रेडिंग सतत् मूल्यांकन तथा कीर्तिमान पद्धति को धीरे-धीरे अपना लें।[1]

कार्य-योजना, 1992 में उच्च शिक्षा के समेकन एवं विस्तर हेतु निम्नलिखित कदम उठाने की परिकल्पना की गई है :

1. उच्च शिक्षा के समुचित आयोजन तथा विकास को सुनिश्चित करने के लिए सांविधिक निकायों के रूप में आठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान राज्य उच्च शिक्षा परिषेदें स्थापित की जायें।

2. राज्य उच्च शिक्षा परिषदों की स्थापना होने तक प्रत्येक राज्य सरकार को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहभागिता के साथ राज्य में उच्च शिक्षा के लिए मौजूदा सुविधाओं का एक सर्वेक्षण करना चाहिए और सन् 2,000 ई० तक उनकी कितनी आवश्यकता है, उसका पता लगाया जाय।

3. नये कॉलेजों तथा विश्वविद्यालय स्थापित होने वाले व्यय को कम करने के लिए यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि इनकी स्थापना उन स्थानों पर की जाय यहां बिजली, संचार, सड़क , परिवहन आदि जैसी बुनियादी सुविधाएं आसानी से उपलब्ध हों।

4. विशेषत: महानगरीय क्षेत्रों तथा बड़े शहरों के अतिरिक्त पारियां प्रारम्भ करके विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में मौजूदा बुनियादी सुविधाओं की अधिकतम उपयोगिता सुनिश्चित की जानी चाहिए।

5. सम्बद्धन(Affiliation) प्रदान करने, इसे जारी रखने, इसके विस्तार अथवा असम्बद्धन के लिए अन्तिम प्राधिकार केवल उपयुक्त विश्वविद्यालय प्राधिकारियों के पास ही होना चाहिए।

6. उन राज्यों में जहां घटिया सुविधाओं वाले कॉलेजों की संख्या अधिक है, नये कॉलेज खोलना तब तक स्थगित कर दिया जाना चाहिए जब तक मौजूदा कॉलेजों को न्यूनतम सुविधाएं उपलब्ध न हो।

7. कालेजों को दिए जाने वाले सहायता अनुदान की मात्रा का निर्धारण करते समय निम्न को आधार बनाया जाना चाहिए।

(I) प्रति छात्र लागत (II) अध्यापक छात्र अनुपात (III) प्रस्तुत किये जाने वाले पाठ्यक्रमों के प्रकार (IV) आन्तरिक संसाधन उत्पादन अध्यापकों के कार्य निष्पादन का मूल्यांकन।

8. सन् 1995 तक सभी विश्वविद्यालयों को स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए परीक्षाएं तैयार करनी चाहिए और शिक्षकों, पुस्तकालयों और प्रयोगशालाओं आदि की उपलब्धता को ध्यान में रखते हुए स्नातकोत्तर तथा व्यावसायिक पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए अधिकतम सीमाएं निर्धारित करनी चाहिए।

9. सरकार के निर्धारित नये केन्द्रीय विश्वविद्यालय नहीं खोलने चाहिए।[2]

1. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 119-120
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 344
2. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 124
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 347

के और 1 इंजीनियरिंग का कॉलेज था।[1]

2. प्रथम विश्वविद्यालयों का युग– सन् 1854 के 'वुड' के अनुसार –सन् 1857 में लन्दन-विश्वविद्यालय के आर्देश पर मद्रास, बम्बई और कलकत्ता में विश्वद्यिालयों का शिलान्यास किया गया। उस समय लन्दन-विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेने का कार्य करता था। अतः इन तीनों विश्वद्यिालयों का कार्य भी इसी क्षेत्र तक सीमित रहा। इन्हीं विश्वविद्यालयों के ढंग पर सन् 1882 में पंजाब विश्वविद्यालय की और सन् 1887 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना की गई।

3. नवीन विश्वविद्यालय का युग– सन् 1887 में इलाहाबाद की स्थापना के पश्चात् सन् 1916 तक किसी नवीन विश्वविद्यालय की सृष्टि नहीं हुई। किन्तु इस अवधि में कॉलेजों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती चली गई। परिणामतः कुछ समय के पश्चात् ऐसी स्थिति आ गई जब देश के 5 विश्वविद्यालयों (मद्रास, बम्बई, कलकत्ता, पंजाब और इलाहाबाद) को सब कॉलेजों का भार सम्भालना प्रायः असम्भव हो गया।

विश्वविद्यालय शिक्षा का अगला सीमा चिन्ह सन् 1917 का 'कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग है इस 'आयोग' ने उक्त प्रस्ताव की नीति का समर्थन करते हुए नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना की सिफारिश की। इसके परिणाामस्वरूप सन् 1947 तक अग्रांकित विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई-उस्मानिया विश्वविद्यालय, 1918 ढाका विश्वविद्यालय 1920, अलीगढ़ विश्वविद्यालय 1921, लखनऊ विश्वविद्यालय 1921, दिल्ली विश्वविद्यालय 1922, नागपुर विश्वविद्यालय 1923, आन्ध्र विश्वविद्यालय, 1926, आगरा विश्वविद्यालय1927, अन्नामलई विश्वविद्यालय 1929 ट्रावन कोर विश्वविद्यालय, 1937 और राजपूताना विश्वविद्यालय 1947।

स्वतन्त्रता काल में उच्च शिक्षा– उच्च शिक्षा की पद्धति विश्व में सबसे बड़ी पद्धतियों में से एक है। फिर भी इस क्षेत्र में विसतार और विकास एक समान नहीं रहे हैं। विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में अवस्थाना से सम्बन्धित सुविधाएं बहुत ही पृथक्-पृथक् हैं जिसकी वजह से अध्यापन और अनुसन्धान की कोटि में विभिन्नता आ गई है। विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदान किये गये पाठ्यक्रम अक्सर परम्परागत हैं और उनमें से बहुत कम नौकरी तथा वातावरण से सम्बन्धित हैं। मूल्यांकन पद्धति की विश्वसनीयता समाप्त होती जा रही है।[2]

---

1. History of Education in India - Nurullah & Nalik उद्धृत भा० शि० स० स० त्यागी एवं पाठक पृ० 110
2. क) भा० शि० स० स० – त्यागी एवं पाठक पृ० 111-113
   ख) भा० शि० स० – पी० डी० पाठक पृ० 337-339

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986)

उच्च शिक्षा से लोगों को इस बात का अवसर मिलता है कि वे मानव जाति की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक नैतिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में आई हुई समस्याओं पर विचार कर सकें। विशिष्ट ज्ञान और कुशलताओं के प्रसारण द्वारा उच्च शिक्षा राष्ट्र के विकास में सहायक बनती है। इसलिए समाज के जीवन मे में सहायक बनती है। इसलिए समाज के जीवन में उसकी निर्णायक भूमिका है। शैक्षिक पिरामिड के उसकी निर्णायक भूमिका है। शिक्षक पिरामिड के शोर्ष पर होने के नाते समूची शिक्षा व्यवस्था के लिए शिक्षक तैयार करने में भी इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

आज भारत के करीब 150 विश्वविद्यालय और 5000 से अधिक कॉलेज है। इन संस्थाअें में सभी प्रकार का सुधार लाने की दृष्टि से यह प्रस्ताव है। कि निकट भविष्य में मुख्य बल विद्यमान संस्थाओं को दृढ़ करने तथा उनकी सुविधाओं के विस्तार पर हो।

राज्य स्तर पर उच्च शिक्षा का नियोजन और उच्च शिक्षा संस्थाअें में समन्वय स्थापित करने के लिए शिक्षा परिषद् बनाई जायेंगी।

शिक्षक विधि को बदलने के प्रयास किये जायेंगे। श्रव्य दृश्य साधनों और इलेक्ट्रॉनिक्स उपकरणों का प्रयोग प्रारम्भ होगा। विज्ञान ताा टेक्नॉलॉजी के शिक्षा-क्रम तथा शिक्षक सामग्री के विकास पर और अनुसन्धान तथा अध्यापक प्रशिक्षण पर बल दिया जायेगा। इसके लिए अध्यापकों की सेवार पूर्व तैयारी तथा बाद के उनकी सतत् शिक्षा आवश्यक होगी।

नवीन शिक्षको के लिए विशेष रूप से निर्मित किए हुए निर्धारित कार्यक्रम शिक्षण कार्य पद्धति, शिक्षाशास्त्र, शिक्षा मनोविज्ञान इत्यदि में बनाये जायें। ऐसे अध्यापक जिनकी नई नियुक्ति हो उन्हें ऐसे कोर्स अवश्य प्रदान किये जायें। प्रत्येक शिक्षक को पांच साल में एक बार अवश्क प्रबोधन कोर्स प्रदान किया जाए। उक्त प्रकार के प्रशिक्षण हेतु अकादमिक स्टॉफ कालेज स्थापित करने के लिए कदम उठाए गए हैं। इलाहाबाद, अलीगढ़ विश्वविद्यालय आदि में इनकी स्थापना हेतु कार्य प्रारम्भ हो गया है। शिक्षकों को सेवा-पूर्व प्रशिक्षण तथा बाद में प्रबोधन कोर्सो के अतिरिक्त सेमिनार, सिम्पोजियम, वर्कशॉप आदि में भाग लेने के लिए भेजना जाय। उनके इस प्रकार से स्वयं सीरवने की आदत का विकास हो सकता है। शिक्षकों के कार्य का मूल्यांकन व्यवस्थित ढंग से किया जायेगा। सभी पद योग्यता के आधार पर भरे जायेंगे।

विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों का उच्च शिक्षा महत्त्व एवं उपयोगिताः-

विश्व की देहली पर 21वीं शताब्दी का आगमन हो रहा है।, निश्चित रूप से 20वीं शताब्दी एक महान शताब्दी रही है। इस शताब्दी में प्रौद्योगिकी की प्रगति असीम गति से

1. भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 114-115

हुई है। यह परमाणु युग की शताब्दी रही है। टैलीविजन, कम्प्यूटर तथा उपग्रहों की खोज, वैज्ञानिक ज्ञान एवं अनुसन्धान के क्षेत्र में बहु-आयामी प्रगति हुई है। इस सबका श्रेय विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों तथा अनुसन्धान संस्थाओं का ही है।

विश्वविद्यालयों की शिक्षा की उपयोगिता एवं महत्त्व विश्वविदित हैं तथा विश्वविद्यालयों को उच्च ज्ञान की प्राप्ति का केन्द्र माना जा रहा हैं विश्वविद्यालय ज्ञान रूपी प्रकाश के स्तम्भ हैं। समाज के विभिन्न क्षेत्रों मे यथा-कला, कृषि, साहित्य वाणिज्य आदि विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञान के प्रकाश को उच्च स्तर पर पहुंचाना, राष्ट्रीय जीवन के लिए योग्य नागरिकों का निर्माण करना, नागरिक शक्ति का विकास करना, योगय एवं कुशल नेतृत्त्व को तैयार करना विश्वविद्यालयी शिक्षा का कार्य एवं दायित्व हैं इन सब बातों से स्वतः ही विश्वविद्यालयी उच्च शिक्षा का महत्त्व, उपयोगिता एवं आवशकता स्पष्ट हो जाती है।

विश्वविद्यालयों में सार्वभौमिकता, मौलिकता एवं सत्य ज्ञान की खोज होनी चाहिए। मौलिक अनुसन्धान होने चाहिए। शैक्षिक 'फ्राड'से सदैव सतर्क रहने की आवश्यकता है। भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात्। तीव्र गति से उच्च शिक्षा के क्षेत्र में विकास हुआ। भारत में विश्वविद्यालय मानवता से जुड़े सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक नैतिक, आध्यात्मिक चिन्तन से जुडकर उच्च स्तरीय ज्ञान का प्रसार एवं प्रचार कर रहे हैं। त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम के आधार पर महाविद्यालयों में कला, वाणिज्य विज्ञान में स्नातक की उपाधियां प्रदान की जाती हैं। इसमें छात्र तीन विषयों का चयन करते हैं और तीन वर्ष का समय लगता है। कृषि स्नातक में चार वर्ष, इंजीनियरिंग स्नातक 4 वर्ष तथा चिकित्सा स्नातक की शिक्षा में 5 वर्ष का समय लगता हैं। कुछ महाविद्यालयों में परास्नातक, एम० फिल० तथा पी० एच० डी० की उपाधियाँ भी प्रदान की जाती है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

इसकी स्थापना सन् 1953 में की गई। सन् 1956 में इसको संसद के अधिनियम द्वारा संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रमुख कार्यक्रम एवं कार्यकलाप संक्षेप में इस प्रकार हैं।

1. स्वायत्त कालेजों की स्थापना।
2. पाठयक्रमों की पुनः संरचना।
3. शिक्षकों के प्रबोधन के लिए शैक्षिक स्टाफ कॉलजों की स्थापना।

- आर० एन० मिश्र पृ० 48-49

1. शि० प्र० स०

4. लेक्चरारों की नियुक्ति के लिए पात्रता परीक्षा का आयोजन एवं संचालन।
5. विश्वविद्यालयों को योजनागत अनुदान प्रदान करना।
6. विश्वविद्यालयों को प्रौढ़ शिक्षा तथा विस्तार, निरक्षरता उन्मूलन, सतत् शिक्षा, जनसंख्या शिक्षा तथा योजना मंचों के कार्यक्रकों की उन्नति हेतु सहायता प्रदान करना।
7. छात्रवृत्तियां तथा शिक्षा वृत्तियां प्रदान करना।
8. पर्यावरण शिक्षा में विभिन्न स्तरों के पाठ्यक्रम आरम्भ करना।
9. पत्राचार पाठ्यक्रमों को प्रारम्भ करने के लिए विश्वविद्यालयों को सहायता प्रदान करना।
10. अल्पसंख्यक समुदायों में कमजोर वर्गों के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए विश्वविद्यालयों को कोचिंग कक्षाएं चलाने हेतु सहायता प्रदान करना आदि।[1]

स्वायत्त कॉलेज

राष्ट्रीय शिक्षा नीति की कार्य योजना (1986) में सातवीं योजना में 500 स्वायत्त कॉलेज स्थापित करने की परिकल्पना की गई थी। अब तक देश में 106 स्वायत्त कॉलेज खोले जा सके। इनमें से 90 कॉलेज तामिलनाडु, मध्य प्रदेश तथा आन्ध्रप्रदेश में हैं। सन् 1991 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने सवायत्त कॉलेजों की योजना के कायान्नवयन की समीक्षा करने के लिए एक विशेषज्ञ समिति गठित की जिसकी प्रमुख सिफारिशे निम्न हैं:-

1. योजना के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए आठवीं योजना अवधि के दौरान रखा जाना चाहिए।

2. योजना के प्रभावी निरीक्षण के लिए राज्य स्तर पर एक उपयुक्त तन्त्र तैयार किया जाना चाहिए।

3. कॉलेजों की स्वायत्तता दर्जा प्रदान करने के लिए एक उपयुक्त प्रावधान बनाने के लिए विश्वविद्यालयों के अधिनियमों में संशोधन करने सम्बन्धी तत्काल कार्यवाही की जानी चाहिए।

4. राज्य सरकारों को राजकीय स्वायत्त कालेजों से शिक्षकों को स्थानान्तरित नहीं करना चाहिए।

5. राज्य सरकारों तथा विश्वविद्यालयों को समस्याओं के समाधान एवं समन्वय के लिए स्वायत्त कॉलेज के प्राचार्यों के साथ नियमित रूप से बैठकें आयोजित करनी चाहिए।

6. विश्वविद्यालयों को नये पाठ्यक्रमों तथा पाठ्यक्रमों के संयोजन में लचीलेपन के सम्बन्ध में स्वायत्त कॉलेजों के निर्णयों को स्वीकार करना चाहिए।[2]

---

1. भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 118
2. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 118-119
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 342

पाठ्यक्रम में सुधार लाने के लिए 'पांचवी पंचवर्षीय योजना' में निम्न कार्यक्रमों को स्थान देने का निश्चय किया है :-

क) व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को प्रचलित करके, स्नातकों की रोजगार-सम्बन्ध । योग्यता में वृद्धि करना।

ख) उच्च शिक्षा के प्रत्येक पाठ्यक्रम का व्यावहारिक समस्याओं एवं सामाजिक उपेयोगिता से सम्बन्ध स्थापित करना।

ग) **पाठ्यक्रम को लचीला बनाकर –** छात्रों को अधिक पाठ्यविषयों में से अपनी रूचियों के अनुकूल विषयों का चयन करने की स्वतन्त्रता प्रदान करना।

समस्या–अपव्यय- हमारे देश में उच्च शिक्षा के स्तर पर अपव्यय की समस्या अत्यन्त गम्भीर है। उसकी गम्भीरता का अनुमान राधाकृष्णन् कमीशन के शब्दों से सहज ही लगाया जा सकता है "सार्वजनिक धन का प्रति वर्ष अति महान अपव्यय हो रहा है। किन्तु, इससे भी अधिक दुःख की बात यह है कि सार्वजानिक धन की इस महान् हानि के प्रति उतनी ही उदासीनता हैं, जितनी कि छात्रों एवं उनके अभिभावकों के समय, शक्ति धन के नाश और उनकी आशाओं एवं अभिलाषाओं पर भयंकर हिमपात के प्रति।[1]

डॉ० एस० एन० मुकर्जी ने उच्च शिक्षा में अपव्यय में कुछ ऑकडे इस प्रकार दिए हैं। डिग्री कोर्स के प्रथम वर्ष में जितने छात्र प्रवेश लेते हैं, उसमें 50% से अधिक बी० ए० बी० कॉम० और बी० एस० सी० की परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण होते हैं। स्नातकोत्तर स्तर पर 20 से 30 प्रतिशत छात्र परीक्षाओं में असफल होते है।[2]

समाधान– कुछ सुझाव

क) परीक्षा-प्रणाली को परिवर्तित एवं दोषमुक्त किया जाय।

ख) बाह्य परीक्षाओं की तुलना में आन्तरिक परीक्षाओं को अधिक महत्व दिया जाय।

ग) परीक्षाओं में असफल होने वाले छात्रों के लिए परीक्षा एवं पुनः मूल्यांकन की व्यवस्था की जाय।

घ) पाठ्यक्रम में छात्रों की अभिरूचियों एवं अभिवृत्तियों के अनुसार अधिक विषयों को स्थान दिया जाय और उनको व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाय।

ड) 'सार्जेण्ट रिपोर्ट' के अनुसार, हाई स्कूल की परीक्षा में सफल होने वाले विद्यार्थियों में 15 में से केवल 1 को उच्च शिक्षा ग्रहण करने की अनुमति दी जाय।

च) "केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड" (CABE) के अनुसार केवल उन्हीं छात्रों को उच्च

1. Radhakrishnam commission Report, P. 652
2. Education in India Today & Tomorrow - S.N. Mukerji P. 195

शिक्षा प्राप्त करने की आज्ञा दी जाय जिनके लिए यह शिक्षा भविष्य में आवश्यक है।"[1]

छ) कोठारी कमीशन के अनुसार, चयनात्मक प्रवेश प्रणाली का प्रयोग करके के बल योग्य विद्यार्थियों को ही उच्च शिक्षा की संस्थाओं में प्रवेश दिया जाय।

समस्या छात्र संख्या में वृद्धिः छात्र संख्या की वृद्धि से गम्भीर समस्याएं सम्बद्ध हैं-छात्रों की बढ़ती हुई संख्या के लिए शिक्षा की सुविधाओं की व्यवस्था और शिक्षित व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था। 'कोठारी कमशीन' ने इन दोनों समस्याओं का समाधान असम्भव बताते हुए लिखा है- "हमारी देश की अर्थव्यवस्था न तो इस पैमाने पर उच्च शिक्षा के विस्तार के लिए धन जुटा सकती हैं और न उसमें लाखों स्नातकों के लिए उपयुक्त रोजगारों की व्यवस्था करने की क्षमता है।''[2]

समाधान- कुछ सुझाव- छात्रों की बढती हुई संख्या से उत्पन्न होने वाली उपर्युक्त समस्याओं का समाधान करने के लिए 'कोठारी कमीशन' ने 3 सुझाव दिए हैं।

क) चयनात्मक प्रवेश प्रणाली का प्रयोग।

ख) स्नातक-पूर्व स्तर पर कला एवं वाणिज्य की कक्षाओं में छात्र संख्या की वृद्धि पर अंकुश।

ग) स्नातक पूर्व स्तर पर कृषि, शिक्षण और इंजीनियरिंग की शिक्षा की व्यवस्था।[3]

डॉ देशमुख ने इस प्रणाली का देश के लिए शिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता एवं उपलब्ध आर्थिक साधनों के आधार पर समर्थन करते हुए कहा हैं- "यदि उच्च शिक्षा के लिए उपलब्ध सीमित साधनों की अपव्यय से रक्षा की जानी है तो विश्वविद्यायों में छात्रों का चयन के आधार पर ही प्रवेश दिया जाना चाहिए।[4]

6. समस्या- शिक्षा का निम्न स्तर- आयंगर ने चिन्ता प्रकट करते हुए कहा है हमारे ज्ञान या शिक्षा का स्तर वैसे तो[5] कभी ऊंचा नहीं था, पर अब तो यह तीव्र गति से नीचे की ओर जा रहा है।

डॉ० मुकर्जी ने लिखा है "शिक्षा का स्तर एक बार गिर जाने पर फिर[6] ऊँचा नहीं उठता है क्योकि उस पर ग्रेशम का नियम लागू हो जाता है।"

समाधान स्वयं आयोग के शब्दों में- "आरम्भ में प्रथम[7] डिग्री कोर्स में प्रवेश पाने की न्यूनतम आयु 16 वर्ष निर्धारित की जानी चाहिए

7. कारण-समस्या-छात्र-संख्या में वृद्धि- विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के अनुसार "यदि शिक्षा की सुविधाओं का विस्तार किए बिना हमारे विश्वविद्यालयों में छात्रों[8] का प्रवेश जारी रहेगा तो शैक्षिक स्तरों के लिए अधिक निम्न होने का भारी खतरा है।"

---

1. Times of India, January 19, 1959.   2. Kothari Commission Report P. 395
3. भा० शि० स० सं- जी० एस० डी० त्यागी एवं पी० डी० पाठक पृ० 136
4. Dr. C.D. Deshmukh Chairman U.G.C. 1960
5. A New Deal for air University - K.R.Y Iyengar P. 29
6. Admisnistration of Education in India, - S.N. Mukerji P. 231
7. Report on Standards of University Education, U.G.C. 1995
8. University Education Commission Report, P. 19

समाधान– "कोठारी -कमीशन" के सुझावानुसार छात्रों में प्रवेश देने के लिए चयनात्मक 'प्रवेश प्रणाली' का प्रयोग किया जाय।

8. समस्या– योग्य शिक्षकों का अभाव– डॉ कोठारी ने ठीक ही कहा है–"यह विषय अत्यन्त गम्भीर और चिन्ता का कारण है कि यद्यपि अनेक शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा कार्य बहुत अधिक होता पर उत्तम शिक्षा कार्य बहुत कम होता है।[1]

समाधान योग्य शिक्षकों की नियुक्ति– 'कोठारी कमशीन' ने कुछ अत्युत्तम सुझाव दिए हैं, जैसे उच्चतर वेतन क्रम, प्रतिभाशाली शिक्षकों को अनुसन्धान कार्य करने के लिए अनुदान, भारत सरकार के कर्मचारियों के समान शिक्षकों को सेवा निवृत्ति लाभ, त्रिमुखी लाभ योजना आदि।

९. समस्या शिक्षण का निम्न स्तर सेमुअल जॉनसन के शब्दों में– "व्याख्यान किसी समय लाभप्रद थे, पर अब जबकि सब व्यक्ति पढ़ चुके[2] हैं और पुस्तकें इतनी विशाल संख्या में हैं, व्याख्यान अनवाश्यक हो गए हैं।

समाधान–शिक्षण में सुधार- 'शिक्षा आयोग' ने शिक्षण में सुधार किए जाने पर बल दते हुए लिखा है-"उच्च शिक्षा में किए जाने वाले सबसे[3] अधिक आवश्यक सुधारों में से एक यह है कि शिक्षण में सुधार किया जाए।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा

विज्ञान की प्रगति ने मानव -जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी, जिसके परिणामस्वरूप लोगों ने आधुनिक जीवन की तैयारी के लिए साहित्यिक शिक्षा को अनुपयुक्त समझा और उस शिक्षा की मांग की जो व्यावाहारिक जीवन में उपयोग सिद्ध हो। इस दृष्टिकाणे के परिणाम स्वरूप पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने पर बल दिया गया। अतः हम कह सकते हैं- "शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति का अर्थ है-शिक्षा के पाठ्यक्रम में विज्ञानों और शिक्षा विधि में वस्तुपरक शिक्षण, इन्द्रिय प्रशिक्षण, निरीक्षण आदि पर बल देना जिससे बालक भविष्य में पूर्ण जीवन व्यतीत करने में सफल हो सके।[4]

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1886) में व्याख्यातित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु केन्द्र ने 1987-88 में विद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा में सुधार लाने की शुरुआत की जिससे विज्ञान की शिक्षा का स्तर सुधरे तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बढ़ावा मिले। इस योजना के अन्तर्गत प्राथमिक विद्यालयों में 'साइंस किट' उपलब्ध कराने, माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों मे विज्ञान प्रयोगशालाओं को आधुनिक

1. Some Aspects of University Education, P. 12
2. Quoted in Boswell's Life of Johnson - Samual johnson P. 286
3. Education Commission Report P. 721
4. शि॰ सा॰ सि॰ - त्यागी एवं पाठक पृ॰ 721

बनाने तथा अधिक उपकरण तथा सामग्री जुटाने, विज्ञान की शिक्षा के लिए जिला संसाधन केन्द्र खोलने तथा विज्ञान एवं गणित के शिक्षकों को उचित प्रशिक्षण देने के लिए राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों को अर्थिक सहायता दी जाती है। इस योजना में विज्ञान की शिक्षा के क्षेत्र में नई परियोजनाएं बनाने तथा संसाधन सम्बन्धी मदद जुटाने के काम में लगे स्वयंसेवी संगठनों को भी सहायता देना शामिल है।[1]

इस प्रवृत्ति की उन्नति के प्रमुख कारण अग्रलिखित हैं–

क) विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप योरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई जिसने विज्ञान के महत्त्व को बढ़ाया।

ख) आधुनिक जीवन की तैयारी के लिए सैद्धान्तिक एवं साहित्यिक शिक्षा को अनुपयुक्त समझा गया।

ग) मानव में कार्य के कारण को समझने के लिए प्रबल इच्छा जाग्रत होने के फलस्वरूप रूढ़िवादिता, अज्ञान, अन्धविश्वास आदि का अन्त हो गया।

घ) भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, शरीर शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र आदि विज्ञानों का बहुत विकास हुआ।

ड) जीव- विज्ञान के विकास सिद्धान्त ने मनुष्य के विचारों को पर्याप्त रूप से परिवर्तित कर दिया।

च) मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति ने विशेषतः पेस्टॉलॉजी के विचारों ने वैज्ञानिक प्रवृति के विकास में पर्याप्त सहयोग दिया।[2]

सामान्य शिक्षा में विज्ञनों का अध्ययन वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग तथा तर्क एवं प्रमाण पर आधारित करके ज्ञान को ग्रहण करना वैज्ञानिक प्रवृत्ति के द्योतक हैं। **पाल मुनरों** ने लिखा है "शिक्षा में आधुनिक वैज्ञानिक प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषताएं प्रायः वे ही हैं जो इन्द्रिय यथार्थवादी प्रवृति की हैं। प्रथम- विषय-वस्तु के महत्त्व पर बल तथा प्रकृति की घटनाओं का ज्ञान, और द्वितीय-अध्ययन की आगमन विधि के अनुभवातीत महत्त्व को स्वीकार करना।[3]

वैज्ञानिक प्रवृत्ति की उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त, अन्य विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों की मांग– वैज्ञानिक प्रवृत्ति के समर्थकों ने यह स्पष्ट कर दिया कि मानव जीवन में वैज्ञानिक विषयों की उपयोगिता अधिक है क्योंकि साहित्यिक शिक्षा मानव को भावी जीवन के लिए तैयार नहीं

---

1. भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 95
2. शि० स० सि० - त्यागी एवं पाठक पृ० 722
3. A Brief Course in the History of Education, - Paul Monroe. उद्त शि० सा० सि० - त्यागी एवं पाठक पृ० 722

1904 का भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम :–

लार्ड कर्जन की सरकार ने आयोग की सिफारिशों के आधार पर अधिनियम तैयार किया। इसे 21 मार्च, 1904 को पास कर दिया गया।

1. **विश्वविद्यालय का विस्तृत कार्य:** विश्वविद्यालयों को पढ़ाई के साथ परीक्षायें लेने का अधिकार दिया गया था।
2. **सीनेट का सीमित आकार:** सीनेट का आकार कम कर दिया गया। यह निश्चित हुआ कि फैलोज की संख्या 50 से 100 तक हो और फैलोज की अवधि 5 वर्ष हो, जबकि अवधि पहले आजीवन थी।
3. **निर्वाचन का नियम:** चुनाव का नियम लागू किया गया। पुराने विश्वविद्यालयों (बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास) के निर्वाचिन फैलोज 20 होंगे तथा नये विश्वविद्यालयों के 15 होंगे।
4. **सिंडीकेट को वैधानिक मान्यता-** सिंडीकेट को वैधानिक मान्यता दी गई और उसमें विश्वविद्यालय प्राध्यापकों को उचित प्रतिनिधित्व दिया गया।
5. **कालेजों के सम्बन्धन के लिए कठोर नियम :** कालेजों के विश्वविद्यालय के साथ सम्बन्ध के नियम कठोर किये गये। इस बात का प्रबन्ध किया गया कि सम्बन्धित कालेजों को बाकायदा सामयिक निरीक्षण सिंडीकेट द्वारा किये जाये ताकि कुशलता का उचित स्तर रखा जा सके।
6. **नियम बनाने की शक्तियां-** केवल सरकार ही सीनेट के नियम बनाने की शक्तियां रखती थी।
7. **अधिकार क्षेत्र निश्चित करने की शक्ति :** गवर्नर जनरल कौंसिल सहित विश्वविद्यालय का अधिकार क्षेत्र निश्चित करने की शक्ति रखता था।[1]

ख) उच्च अथवा विश्वविद्यालय शिक्षा से सम्बन्धित सिफारिशें

1. **कम कठोर नियंत्रण :** सरकार का विश्वविद्यालयों पर नियन्त्रण कठोर होना चाहिए।
2. **चुनाव समितियों की नियुक्ति :** विश्वविद्यालों के अध्यापाकें का चयन करने के लिए चुनाव समिति, जिसमें बाहर के विशेषज्ञ भी हों, नियुक्ति की जानी चाहिए।
3. **कोर्ट तथा कार्यकारिणी कौंसिल :** सीनेट तथा सिंडीकेट के स्थान पर कोर्ट और कार्यकारिणी कौंसिल हो।

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 11

4. **एकेडैमिक कौंसिल** : परीक्षा कोर्स तथा डिग्री का प्रबन्ध करने के लिए एकेडैमिक कौंसिल होनी चाहिए।

5. **तीन वर्षीय डिग्री कोस** : इन्टरमिडियेट स्तर के बाद डिग्री कोर्स, तीन वर्ष होना चाहिए। इसके अतिरिक्त 'पास-कोर्स' के साथ-साथ प्रतिष्ठा के तौर पर 'आनर्ज-कोर्स' भी चालू किये जायें।

6. **विविध पाठ्यक्रम-** इन्जीनियरिंग, शिक्षा, चिकित्सा, कानून, कृषि तथा टैक्नालोजीकल कोर्सों के पढ़ने का प्रबन्ध किया जाये। विश्वविद्यालयों में प्राच्य स्टडीज का प्रबन्ध होना चाहिए।

7. **मुसलमानों को शिक्षा की सुविधायें-** मुसलमान शिक्षा में पिछड़े हुए हैं अतः मुसलमानों की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाये तथा मुसलमान विद्यार्थियों के हितों को सुरक्षित रखा जाये।

8. **डायरैक्टर आफ फिजिकल ट्रेनिंग** : प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक डायरैक्टर आफ फिजिकल स्ट्रेनिंग नियुक्त करना चाहिये ताकि वह[1] विद्यार्थियों की शारीरिक भलाई तथा स्वास्थ्य की ओर ध्यान दे सकें।

ग) कलकता विश्वविद्यालय से सम्बन्धित सिफारिशें-

1. **युनिटरी शिक्षा विश्वविद्यालय**: आयोग ने यह अनुभव किया कि चूंकि कलकता विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों की संख्या इतनी बढ़ गई है। कि विश्वविद्यालय के लिए उनकी सार संभाल कुशलता से करने में कठिनाई हो रही हैं अतः इस बात की सिफारिश की गई कि ढाका में युनिटरी शिक्षा विश्वविद्यालय स्थापित किये जाये।

2. **शिक्षा साधनों का पुनर्गठन** : आयोग ने अनुभव किया कि कलकता विश्वविद्यालय के शिक्षा साधनों का पुनर्गठन किया जाये ताकि उसे एक अध्यापन विश्वविद्यालय बनाया जा सके।

3. **विश्वविद्यालय के नये केन्द्रों में वृद्धिः** आयोग ने सिफारिश की कि कलकत्ते से बाहर के कालेजों का इस प्रकार विकास[2] किया जाये कि विश्वविद्यालय के नये केन्द्रों में लगातार वृद्धि होती रहें।

उच्च शिक्षा तथा अनुसन्धान

लोकसभा (केन्द्र) को संस्थाओं तथासंघीय एजंसियों में, जिनका विवरण संघीय सूची की सूची नं०[3] 1 की एंट्री 63 से 66 तक में है काननू बनाने की एकमात्र शक्ति प्राप्त है।

समस्यांएँ व उनके समाधान

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 13
2. वही - वही पृ० 14
3. वही - वही पृ० 26

"कोठारी कमीशन" ने लिखा है "भारत में सामान्य भावना यह है कि उच्च शिक्षा की स्थिति असन्तोषजनक एवं भयप्रद भी है।।" उच्च शिक्षा के प्रति इस सामान्य भावना के कारण हैं, उसमें परिलक्षित होने वाली बहुरंगी समस्याएँ।

समस्या छात्र अनुशासनहीता : कलकत्ता विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति प्रो० एन० के० सिद्धान्त ने एक अध्ययन के आधार पर 7 प्रकार के अनुशासनहीन कार्यो का उल्लेख किया हैं- (1) उच्छृंखल व्यवहार (2) सामान्य दुर्व्यवहार (3) यौन-सम्बन्धी दुर्व्यवहार (4) परीक्षा के दुर्व्यवहार (5) स्वाधिकारों का दुरूपयोग (6) धन सम्बन्धी अनियमितता और (7) चोरी एवं सेंधमारी।[1]

"भारतीय विश्वविद्यालय प्रशासन" ने यह मत प्रकट किया है - "उच्च शिक्षा के केन्द्रों में अनुशासन बनाए रखने की समस्या प्रतिदिन अधिक गम्भीर होती जा रही है।"[2]

समाधान- 'कोठारी कमीशन' ने छात्र - अनुशासनहीनता की समस्या का समाधान करने के लिए कुछ कारणों का उल्लेख किया है जैसे -

क) छात्रों का अनिश्चित भविष्य।

ख) छात्रों एंव शिक्षकों में पारस्परिक सम्पर्क का अभाव।

ग) अनेक शिक्षकों में विद्वता का अभाव एवं छात्रों की समस्याओं में उनकी अरूचि।

घ) अनेक पाठ्य-विषयों का यांत्रिक एवं असन्तोषजनक स्वरूप।

ड) शिक्षा संस्थाओं की विशाल संख्या।

च) शिक्षा संस्थाओं में शिक्षण एवं सीखने की अपर्याप्त सुविधाएं।

छ) शिक्षा संस्थाओं के अध्यक्षों में दृढ़ता, कल्पना एवं कुशलता का अभाव।

ज) शिक्षा-संस्थाओं के कार्यो में राजनीतिक दलों का हस्तेक्षेप।

झ) कुछ कॉलेजों एंव विश्वविद्यालयों में शिक्षकों की पारस्परिक राजनीति।

ञ) देश के सार्वजनिक जीवन में अनुशासन का अभाव।

ट) वयस्कों के अनुशासन का निम्न स्तर।

ठ) वयस्कों में नागरिक चेतना एवं सच्चरित्रता का अभाव।

समस्या- निर्देशन व परामर्श का अभाव- उच्च शिक्षा की संस्थाओं में निर्देश एवं परामर्श सेवाओं का प्रायः पूर्ण अभाव है। अतः छात्र अपनी स्वयं की इच्छा से अपने अभिभावकें के दबाब से, या किसी अनुभवहीन व्यक्ति के

---

1. The problme of Disciple in India universities - N.K. Sidhanta उद्दृत
शि० प्रा० स० स० - आर० एन० मिश्र पृ० 58
भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 350
P. 98

2. India University Administration

परामर्श से पाठ्य विषयों का चयन करते हैं। इस प्रकार का चयन अनेक छात्रों के समक्ष संकटपूर्ण स्थिति उपस्थित कर देता है। पाठ्य विषयों का थोड़ा सा अध्ययन ही उनको स्पष्ट संकेत देने लगता है कि वे उनकी रूचियों के अनुकूल नही हैं, या उस पर अधिकार प्राप्त करने की उसमें क्षमता नहीं है, या वे उनके भावी जीवन की आवयश्यकताओं के अनुकूल नहीं हैं।

समाधानः 'कोठारी कमीशन' ने इस बात पर दु:ख प्रकट किया है कि हमारी उच्च शिक्षा की संस्थाओं में निर्देशन एवं परामर्श सेवाओं का एक भी चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता है। सभी संस्थाओं में इन सेवाओं की यथाशीघ्र स्थापना की जानी चाहिए। उसका सुझाव है कि प्रत्येक 1,000 छात्रों वाली संस्था में एक परामर्शदाता होना चाहिए और यदि संस्थाओं में छात्र-संख्या कम है तो दो या अधि क संस्थाओं के लिए एक परामर्शदाता हो सकता है।

'कोठारी कमीशन' के सुझाव की उपयोगिता को स्वीकार करके दिल्ली और बनारस जैसे कुछ विश्वविद्यालयों[1] ने अपने छात्रों के लिए निर्देशन एवं परामर्श का कार्यक्रम आरम्भ कर दिया है।

समस्या– दोषपूर्ण पाठ्यक्रम– "राधाकृष्णन कमीशन" के अनुसार– "जो पाठ्यक्रम वैदिक काल में उपयोगी[2] था, उसे 20वीं शताब्दी में बिना परिवर्तन किए प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

समाधान– पाठ्यक्रम में सुधार– "राधाकृष्णन कमीशन" के विचार से सहमत होने के कारण "कोठारी कमीशन" ने उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तन एवं सुधार लाने के लिए कुछ सुझाव दिए हैं–

क) उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम को विद्यालय पाठ्यक्रम से कठोरापूर्वक सम्बद्ध नहीं किया जाना चाहिए।

ख) स्नातक-पूर्व स्तर पर पाठ्यक्रम उससे अधिक लचीला होना चाहिए, जितना कि इस समय है।

ग) उक्त स्तर पर छात्रों को पाठ्य-विषयों का चयन करने के लिए अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की जानी चाहिए।

घ) उक्त स्तर पर सामान्य, विशिष्ट एवं आनर्स पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

ड) स्नाताकोत्तर स्तर पर पाठ्यक्रमों को परिवर्तित करके अधिक लचीला बनाया जाना चाहिए।[3]

भारत सरकार ने 'कमीशन' के सुझाव को स्वीकार करके, उच्च शिक्षा के

---

1. Kothari Commission Report 650
2. Radhakrishan Commission Report P .44
3. Kothari Commission Report P. 652

कर सकती है। वैज्ञानिक विषयों द्वारा व्यक्ति को व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार किया जा सकता है इस दृष्टि से उन्होंने वैज्ञानिक विषयों-शरीर-विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, रसायन एवं भौतिक विज्ञान, भूगोल, गणित आदि को पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने की मांग की।

2. विषय-वस्तु पर बल- इस प्रवृत्ति के समर्थकों ने विषय वस्तु पर अधिक बल दिया है। उसका मत है कि ज्ञान की प्राप्ति तभी हो सकती है जब हम विषय-वस्तु को जान लेते हैं और विषय वस्तु की सार्थकता एवं उपयोगिता तभी है जब हम उसे जीवन में प्रयोग में लाते हैं।

3. आगमन विधि पर बल- यह प्रवृत्ति, शिक्षण में आगमन विधि के प्रयोग पर बल देती है, क्योंकि इसमें विश्लेषण, स्वयं कार्य शीलन तथा सत्यान्वेषण पर अधिक बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें सीखने वाला स्वयं निष्कर्ष निकालता है।

4. सैद्धान्तिक व साहित्यिक शिक्षा का विरोध- इस प्रवृत्ति के समर्थकों ने सैद्धान्तिक एवं साहित्यिक शिक्षा का घोर विरोध किया और इसके विपरीत व्यावहारिक शिक्षा पर बल दिया, जिसके द्वारा भविष्य में पूर्ण जीवन को सफलतापूर्वक व्यतीत किया जा सके।

5. विज्ञान द्वारा प्रकृति का वास्तविक ज्ञान- इस प्रवृत्ति के समर्थकों ने यह विचार प्रतिपादित किया है कि प्रकृति का वास्तविक ज्ञान विज्ञानों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

6. उदार शिक्षा का नवीन अर्थ- विज्ञान की उन्नति ने समाज की संस्कृति को परिवर्तित किया। इस परिवर्तन ने उदार शिक्षा के दृष्टिकोण को भी बदला। प्राचीन काल में ग्रीक, लैटिन साहित्य कला, दर्शन आदि के अध्ययन को उदार शिक्षा के नाम से पुकारा जाता था। परन्तु वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने उसके अर्थ को नवीन रूप प्रदान किया। इस सम्बन्ध में पॉल मुनरों ने लिखा है- "उदार शिक्षा वह है, जो मनुष्य को अपने पेशे के लिए, नागरिक के रूप में अपने जीवन के लिए और अपने जीवन की समस्त क्रियाओं को करने के योग्य बनाती है[1]

व्यावहारिक शिक्षा

शिक्षा के व्यावसायीकरण की आवश्यकता:-

1. आर्थिक समस्याओं का समाधान- आज भारत को कई आर्थिक समस्याओं का समाना करना पड़ रहा है जैसे- बेकारी, गरीबी, अकाल आदि। अतः शिक्षा का व्यावसायीकरण अत्यन्न आवश्यक है क्योंकि वे बल इसी प्रकार की शिक्षा से ही हम इस समस्या का समाधान कर सकते हैं। महत्मा गांधी ने ठीक कहा

1. शि० स० सि० - त्यागी एवं पाठक पृ० 723

है- "सच्ची शिक्षा बच्चों के लिए रोजगार के बीमे के समान होनी चाहिए।"

2. आनन्द की प्राप्ति - शिक्षा का सच्चा लक्ष्य आनन्द प्रदान करना है, परन्तु मनुष्य को वास्तविक आनन्द तब मिलता है जब उसे अपनी रूचि का व्यवसाय मिल जाता है। एक खुश एवं सन्तुष्ट व्यक्ति समाज की भी अच्छी सेवा करता है।

3. सामाजिक निपुणता की प्राप्ति - शिक्षा के व्यावसायीकरण से विद्यार्थी को आर्थिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक निपुणता प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। सामाजिक निपुणता उन प्रयासों की उपज है जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी रोटी कमाता है और दूसरों पर बोझ नहीं बनता।

4. सामाजिक रूप से अनुपयोगी स्थानों पर लगे हुए व्यक्तियों की संख्या कम करना- शिक्षा का व्यावसायीकरण ठीक व्यक्ति को ठीक स्थान प्राप्त करने में सहायता देता है। इस प्रकार वह अनुपयोगी स्थानों पर काम कर रहे व्यक्तियों की संख्या को कम करने में सहायात करता है और मानवीय प्रतिभा तथा साधनों के अपव्यय को रोकता है।

5. शिक्षा प्रक्रिया को उद्देश्यपूर्ण बनाना: व्यावसायीकृत शिक्षा उद्देश्यपूर्ण होगी और सीखने में सहायता होगी। इस से बच्चा सीखने की प्रक्रिया में सक्रियता भाग लेता है। इससे बच्चों की रूचियों अभिरूचियों तथा आदतों को सक्रिया से प्रयुक्त किया जा सकता है।

6. नैतिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विकास : जहां तक शिक्षा के व्यावसायिक पक्ष का सम्बन्ध है, यह केवल रोजी कमाने से सम्बन्धित है। इसी कारण मनुष्य में उच्च, नैतिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विकास सम्भव हो सकता है। यदि शिक्षित व्यक्ति आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में असफल रहता है तो उसके व्यवहार में नैतिकता आ सकती है, उसकी प्रतिभा का ह्रास हो सकता है और वह सांस्कृतिक रूचियों की उपेक्षा कर सकता है।[1]

शिक्षा के व्यावसायीकरण पर सैकण्डरी शिक्षा आयोग के सुझाव-

1. कोर्सो का विभिन्नीकरण- विभिन्न कोर्सो की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि सामान्य कोर-विषयों के साथ-साथ विशिष्ट व्यांवहारिक विषयों की व्यवस्था की जाये तो विद्यार्थियो के सर्वतोन्मुखी विकास में बहुत सहायता मिल सकती है। उन्हें उत्पादनशील, सहयोगी, सु-सन्तुलित तथा समाज की उपयोगी सदस्य बनाया जा सकता है।

2. बहु उद्देश्यी स्कूल : विभिन्न कोर्सो की व्यवस्था के लिए बहु-उद्देश्यीय स्कूल स्थापित किए जाने चाहिए। बहु- उद्देशीय स्कूलों के मुख्य

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 501

लाभ निम्नलिखित हैं:

क) व्यक्ति गत विभिन्नता को दूर करना– इससे विभिन्न कोर्सों के लिए तैयार किए जा रहे विद्यार्थियों में भेद-भाव समाप्त किया जा सकता है।

ख) शैक्षिक निर्देशन को सुविधापूर्ण बनाना- इससे शिक्षा के विविधसाधनों की व्यवस्था की जा सकती है। अतः अध्ययन के चुनाव के लिए शैक्षिक निर्देशन को सुविधापूर्ण बनाया जा सकता है।

ग) गलत प्रकार से वर्गीकृत बच्चों की समस्या का समाधान करना: विद्यार्थियों को गलत वर्गों में रखे जाने की समस्या का भी समाधान किया जा सकता है क्योंकि एक ही स्कूल में विद्यार्थियों को एक वर्ग से दूसरे वर्ग में बदलना आसान है।

3. सैकण्डरी– स्कूलों में कृषि–शिक्षा– सभी प्रान्तों को देहाती इलाकों मे कृषि शिक्षा के अवसर प्रदान करने चाहिए। कृषि का शिक्षण केवल सैद्धान्तिक नहीं होना चाहिए बल्कि इसे विद्यार्थियों को वास्तविक स्थितियों में काम करने के अवसर प्रदान करने चाहिए।[1]

4. तकनीकी शिक्षा:

क) तकनीकी स्कूल- अधिक संख्या में या तो पृथक् या बहु- उद्देश्यीय स्कूलों के भाग के रूप में तकनीकी स्कूल खोले जाने चाहिएं। इनमें तकनीकी एवं सामान्य शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

ख) केन्द्रीय तकनीकी संस्थान– बड़े-बड़े नगरों में केन्द्रीय तकनीकी संस्थानों की स्थापना की जानी चाहिए जो कई स्थानीय स्कूलों की आवयकताओं को पूरा करे।

ग) तकनीकी स्कूलों की जगह– जहां तक सम्भव हो सके तकनीकी स्कूल किसी औद्योगिक केन्द्र के निकट स्थापित किए जाने चाहिए और उन्हें सम्बन्धित उद्योगों के सहयोग में काम करना चाहिए।

घ) व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए कानून– औद्योगिक केन्द्रों को विद्यार्थियों के लिए सुविधाएं प्रदान करने के लिए कानूनी रूप से बाध्य किया जाना चाहिए।

ड) निकट सम्पर्क– सभी स्तरों पर तकनीकी तथा टैक्नॉलोजीकल प्रशिक्षण को आयोजित करने के लिए वाणिज्य तथा उद्योग के प्रतिनिधियों का शिक्षा शास्त्रियों के साथ निकट सम्पर्क स्थापित होना चाहिए ताकि स्तर स्थापना में उनके विचारों का ध्यान रखा जा सके।

च) औद्योगिक–शिक्षा कर : उद्योगों पर औद्योगिक शिक्षा कर लगाना चाहिए और उससे प्राप्त आय को तकनीकी-शिक्षा के विकास में खर्च करना चाहिए।

छ) अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद्– सैकण्डरी स्तर पर तकनीकी कोर्सों की सुचारू रूप से व्यवस्था करने के लिए अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा-परिषद् तथा उसके अधीन काम करने वाली संस्थाओं का पूरा उपयोग करना चाहिए।[2]

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 503
2. वही - वही पृ० 504

शिक्षा के व्यावसायीकरण पर कोठारी– आयोग के सुझाव–

लोयर सैकण्डरी स्तर : जो विद्यार्थी VII या VIII में स्कूल छोड़ दें, उनके लिए अग्रलिखित कोर्सो की व्यवस्था होनी चाहिए–

क) दाखिले की आयु में कमी करना– औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाओं में उन व्यक्तियों के लिए कुछ कोर्सो की व्यवस्था हैं जिन्होंने प्राइमरी शिक्षा पास की हुई हैं यदि उनमें दाखिले की आयु 15 से हाटाकर 14 कर दी जाए तो उनमे बहुत से प्राइमरी–शिक्षित व्यक्ति प्रवेश कर सकते हैं।

ख) तकनीकी स्कूलों में अन्तिम कोर्स : तकनीकी हाई स्कूलों तथा जूनियर तकनीकी स्कूलो द्वारा विद्यार्थियों को औद्योगिक कार्यो के लिए तैयार किया जाना चाहिए। प्रत्येक कोर्स की समय अवधि अलग–अलग होनी चाहिए तथा उनमे प्रयोगात्मक कार्य तथा व्यावहारिक विज्ञान पर बल देना चाहिए। इनमें से कुछ चुने हुए स्कूल गुणात्मक संस्थाओं के रूप में विकसित किये जाने चाहिए।

ग) व्यापक अंश कालिक कोर्स : अधिकांश विद्यार्थी अपने पारिवारिक व्यापारों में काम करने या अपना कोई छोटा मोटा काम आरम्भ करने के लिए सातवीं या आठवीं पास करने के पश्चात् पढ़ना छोड़ देते हैं। उनके लिए व्यापक अंश कालिक कोर्सो की व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसे विद्यार्थियों को प्रशिक्षण के पर्याप्त अवसर स्थापित करने चाहिए और उन्हें तकनीकी प्रशिक्षण के साथ साथ कुछ असामान्य शिक्षा भी प्रदान करनी चाहिए।

घ) व्यावसायिक निपुणता एवं सामान्य शिक्षा को सुधारना: अधिकांश ग्रामीण लड़के अपने पारिवारिक खेतों में काम करते हैं उनकी व्यावसायिक निपुणता तथा सामान्य शिक्षा को सुधारने के लिए उन्हें शिक्षा प्राप्ति के अवसर प्रदान करने चाहिए।

ड) लड़कियों के लिए गृह विज्ञान: अधिकांश लडकियां इसी स्तर पर स्कूल छोड देती हैं। उनका विवाह हो जाता है। ऐसी लड़कियों के लिए सामान्य शिक्षा के मिश्रित गृह–विज्ञान के कोर्स की व्यवस्था होनी चाहिए।[1]

हायर सैकण्डरी स्तर पर

क) उद्योग सम्बन्धी पूर्णकालिक एवं अंशकालिक व्यावसायिक कोर्स : कृषि एवं इन्जीनियरिंग पॉलीटैकनिकल में औद्योगिक प्रशिक्षण के लिए पूर्ण कालिक सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए और उद्योग में अंशकालिक व्यावसायिक कोर्सो की व्यवस्था की जानी चाहिए।

ख) लघु संयुक्त कोर्स– कृषि एवं इन्जीनियरिंग पॉलीटैकनिकल संस्थाओं में उन व्यक्तिंताओं की कुशलताओं को विकसित करने के लिए लघु संयुक्त कोर्सो की व्यवस्था की जानी चाहिए जो पहले ही काम में लगे हुए हैं। इन कोर्सो द्वारा पहले से ही प्रशिक्षित व्यक्तियों को पुनर्प्रशिक्षण भी प्रदान किया जा सकता है।

---

1. आ० भा० शि० स० – जे० एस० वालिया पृ० 505–506

ग) **औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाओं में कोर्सों का विस्तार–** औद्यागिक प्रशिक्षण संस्थाओं में कई ऐसे कोर्सों की व्यवस्था है, जिनके लिए X तक की शिक्षा अनिवार्य है। ऐसे कोर्सों को तेजी के साथ विस्तृत करना चाहिए।

घ) **अन्य कोर्सों का विकास-** उपर्युक्त कोर्सों के अतिरिक्त स्वास्थ्य, वाणिज्य, प्रशासन आदि विभिन्न कोर्सों की व्यवस्था करनी चाहिए। इन कोर्सों में डिपलोमा या सर्टिफिकेट प्राप्त करने के लिए 6 महीने से लेकर तीन साल तक की अवधि होनी चाहिए। ये कोर्स अशंकालिक रूप से या पत्राचार द्वारा स्थापित किये जा सकते है।

5) **कोर्सों के गठन के लिए विशेष सैक्शन-** प्रान्तीय-शिक्षा विभागों को पूर्णकालिक या अंशकालिक आधार पर इन कोर्सों के गठन के लिए विशेष सैक्शन स्थापित करना चाहिए।

ऐसे कोर्सों के गठन के समय मानव शक्ति की आवश्यकताओं पर भी ध्यान देना चाहिए और व्यावसायिक निर्देशन तथा उद्योग स्वामियों के साथ भी सम्पर्क स्थापित रखना चाहिए।

6. **केन्द्रीय अनुदान:** आयोग ने सैकण्डरी शिक्षा के व्यावसायीकण पर बहुत बल दिया है। इसके लिए यह सुझाव दिया है कि केन्द्रीय सरकार को प्रान्तीय सरकारों को अनुदान देना चाहिए।[1]

अंशकालिक व्यावसायिक शिक्षा :

1. **लोयर सैकण्डरी स्तर–** अंशकालिक कोर्सों की व्यवस्था उन विद्यार्थियों के लिए की जानी चाहिए जो प्राइमरी स्कूल के पश्चात् अपनी शिक्षा जारी नहीं रख सके और वे हाई स्कूल परीक्षा में बैठने के इच्छुक हैं। अंशकालिक शिक्षा व्यावसायिक प्रकृति की भी होनी चाहिए। यह उन व्यक्तियों के लिए है जो अपनी व्यावसायिक योग्यता को विकसित करना चाहते हैं। अग्रलिखित दो प्रकार के कोर्स अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

क) **कृषि–सम्बन्धी कोर्स–** उन विद्याथियों के लिए अंशकालिक कृषि-कोर्स की व्यावस्था की जानी चाहिए जिन्होंने प्राइमरी स्कूलों में ही पढाई छोडकर कृषि का काम आरम्भ कर दिया है। इन कोर्सों का मुख्य उद्देश्य नवयुवकों को खेती बाडी के नये तरीकों से परिचित कराना है परन्तु इन कोर्सों में सामान्य शिक्षा के कुछ तत्त्व भी सम्मिलित होने चाहिए।

ख) **लड़कियों के लिए विशिष्ट कोर्स-** चौदह वर्ष की आयु में प्राइमरी स्कूल छोड़ने वाली लडकियों के लिए गृह विज्ञान या सिलाई बुनाई, शिल्प, मुर्गी-पालन आदि के अंशकालिक कोर्सों की व्यवस्था की जानी चाहिए। लम्बी अवधि के पूर्ण

---

1. आ० भा० शि० स० – जे० एस० वालिया पृ० 507

कालिक कोर्स या अंशकालिक कोर्स भी उपयोगी एवं लोकप्रिय सिद्ध हो सकते हैं।

हायर सैकण्डरी– स्तर परः

क) **पूर्ण–कालिक ढांचे पर अल्पकालिक कोर्स :** उन व्यक्तियों के लिए जो हायर-सैकण्डरी की परीक्षा पास करना चाहते हैं।

ख) **कृषि में अंशकालिक कोर्सः** उनके लिए जिन्होंने कृषि व्यवसाय को अपनाया है।

ग) **उद्योग के लिए अंशाकालिक कोर्सः** उनके लिए जिन्होंने उद्योग व्यवसाय को अपनाया है।

ड) **लड़कियों के लिए विशिष्ट कार्य :** लोयर सैकण्डरी स्तर के लिए दिए गए सुझावों पर आधारित, परन्तु हायर सैकण्डरी स्तर पर ये बेहतर शिक्षा के लिए आयोजित किये जाने चाहिए।

च) उन व्यक्तियों के लिए अंश कालिक कोर्स जो अपना काम करना चाहते हैं।

आयोग के विचारानुसार लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के लिए अंशकालिक शिक्षा की बहुत जरूरत हैं क्योंकि लड़कियां घरों के लिए अधिक उपयोगी होतीहैं और उन्हें लड़कों से पहले स्कूलों से निकाल लिया जाता है। अधिकांश लड़कियां 14 वर्ष की आयु में स्कूल छोड़ देती हैं, वे अंश कालिक कोर्सो से बहुत लाभ उठा सकती है।[1]

व्यावहारिक जीवन की शिक्षा

मान्टेसरी स्कूल में बालकों को व्यावहारिक शिक्षा दी जाती हैं। दैनिक कार्य, हाथ-मुंह धोना, नाक, दांत, नेत्र तथा कपड़े आदि स्वच्छ रखना उन्हें सिखलाया जाता है। अध्यापिका उनसे मां के समान व्यवहार करके कार्य सिखाती है। जिससे स्कूल 'प्यार का घर' बन जाता है। बालक को कमरा व्यवस्थित करना सिखाया जाता है। बालक की क्षमतानुसार ही उसको कार्य दिया जाता हैं स्वास्थ्य के लिए शारीरिक व्यायाम भी कराया जाता है।[2]

धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा

धर्म और शिक्षा

'धर्म और शिक्षा' का सम्बन्ध प्राचीनकाल से बहुत घनिष्ठ रहा है।

---

1. आ॰ भा॰ शि॰ स॰ - जे॰ एस॰ वालिया पृ॰ 508
2. स्व॰ स॰ शि॰ प॰ - डॉ॰ वि॰ के॰ जवली पृ॰ 193

समय-समय की धार्मिक विचारधारा ने शैक्षिक विचारधारा को सैदव प्रभावित किया है। परन्तु मध्यकालीन यूरोप में और वर्तमान भारत में देश के राष्ट्रीय जीवन में धर्म ने इतनी विषमता भर दी है कि शिक्षाशास्त्री धर्म को शैक्षिक क्रिया से अलग करना ही अच्छा समझने लगे हैं। आज शिक्षा में धर्म का उतना महत्त्व नहीं है। जितना कि पहले था।[1]

शिक्षा और धर्म का अटूट सम्बन्ध है। बिना धर्म के शिक्षा निर्मूल है। शिक्षा की कोई भी योजना बिना धर्म के पूरी नहीं हो सकती है। ई॰ डी॰ बर्टन का मत है कि "शिक्षा और धर्म स्वाभाविक मित्र हैं। दोनों का सम्बन्ध भौतिक के ऊपर उठ कर आध्यात्मिक से है। दोनों व्यक्ति का उसके पर्यावरण से सम्पर्क द्वारा नहीं बल्कि पर्यावरण से उसके स्वामित्व द्वारा उन्नयन करना चाहते हैं। यथार्थतः धर्म व्यक्ति को एक ऐसी शक्ति देता है जो व्यक्ति को उन्मुक्त करता हैं उसे सीमाओं में अथवा संकीर्ण धारणाओं में नहीं बांधता। महात्मा गांधी ने धर्म को ऐसी ही शक्ति माना है। उनका कहना था कि, "जो व्यक्ति को प्रतिकूल परिस्थितियों में सत्याग्रह के लिए बाध्य करती है। शिक्षा व्यक्ति उन्मुक्त हो, संकीर्ण सीमाओं, धारणाओं से ऊपर उठ जाता है। इसलिए हमारे देश में शिक्षा को मुक्ति प्रदान करने का साधन माना है। राधाकृष्णन के शब्दों में, "वह जो व्यक्ति को मिलाता है धर्म हैं।"[2]

धर्म' और 'शिक्षा' का धनिष्ठ सम्बन्ध सदैव से रहा है प्राचीन भारत की शिक्षा मुख्यतः धर्म पर आधारित थी। शिक्षा का ध्येय आध्यात्मिक था और शिक्षा ऋषियों के आश्रम में ही दी जाती थी। इसी प्रकार यूरोप में भी शिक्षा और धर्म एक दूसरे पर प्रभाव डालते थे। धर्म-मानव जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक पहलु से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार शिक्षा भी व्यक्ति के आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन पर प्रभाव डालती है। शिक्षा द्वारा मानव के व्यवहार में, आदर्शों के प्रकाश में परिवर्तन लाया जाता है। नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श शिक्षा को धर्म द्वारा मिलते हैं, अतएव हम कह सकते हैं कि दोनों का सम्बंन्ध बहुत[3] घनिष्ठ है। यही कारण है कि हम धर्म को शिक्षा से अलग नहीं कर सकते।

---

1. शि॰ दा॰ स॰ आ॰ - डॉ॰ एस॰ एस॰ माथुर पृ॰ 398
2. शि॰ रूप॰ - एच॰ एस॰ बैस पृ॰ 104
3. शि॰ दा॰ सा॰ आ॰ - डॉ॰ एस॰ एस॰ माथुर पृ॰ 399

भारतीय दर्शन में धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं। यह लक्षण संसार भर के सब देशों के लिए और सब युगों के लिए अपरिवर्तनशील हैं। ये लक्षण हैं।

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।[1]

(धैर्य, क्षमा, दस, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय, निग्रह, ज्ञान, विवेक, सत्य और अक्रोध-ये दस धर्म के लक्षण हैं)

यह लक्षण स्पष्ट कर देते हैं कि हमें धर्म की शिक्षा में किन बातों पर बल देना चाहिए। हमें चाहिए कि धैर्य रखें, क्षमा, आत्मदान, चोरी करना शरीर और मन को पवित्र रखना सीखें। इन्द्रियों को वश में रखें, विवेकशील रहें, विद्या ग्रहण करें, सत्य व्यवहार करें और कभी क्रोध न करें।[2]

धर्म व्यक्ति के जीवन का एक मुख्य अंग हैं। इस लिए बालक को ध ार्मिक व्याख्या से सचेत कराया जाता है। सामान्यतः विद्वानों का मत है कि धर्म की शिक्षा की व्यवस्था मन्दिर गिरजा व मस्जिद में दी जाए और यदि विद्यालयों में दी जाए तो बालक की अर्न्तात्मा की आवाज के आधार पर बालकों को धर्म की कक्षाओं में बैठने के लिए बाध्य न किया जाये।

राधाकृष्णन आयोग के अनुसार सभी शिक्षा संस्थाओं के कार्यारम्भ के पूर्व कुछ देर मौन मनन किया जाए। प्रथम उपाधि कक्षाओं में बडे धार्मिक नेताओं की जीवनियां पढाई जाएं और तीसरे वर्ष में धार्मिक दर्शन के केन्द्रीय प्रश्नों का अध्ययन हो। सीतारात चतुर्वेदी का त है कि धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत सूक्ष्म रूप से यदि हम किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय के कर्मकाण्ड को न लें। तो धार्मिक शिक्षा के संकुति भाव हम व्यापक बना सकते हैं। धार्मिक महापुरुषों के त्याग, वीरता, सच्चरित्र, बलिदान, आत्मत्याग, सेवा, परोपकार आदि की कथाएं संसार के सभी धार्मिक ग्रन्थों से लेकर सब धर्मा में मान्य सिद्धान्तों को हम धार्मिक शिक्षा के अन्तर्गत रख सकते हैं।[3]

सन् 1959 में श्री प्रकाश समिति ने राधाकृष्णन आयोग की अनुशंशाओं को स्वीकार करते हुए सुझाव दिया कि "नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा तथा देशभक्ति सेवा, त्याग व सदाचार के विकास पर बल देना चाहिए।" प्राथमिक स्तर पर सामूहिक गान, धर्म प्रवर्तको को जीवनियां और सदाचार की शिक्षा दी जाये। माध्यामिक स्तर पर प्रार्थना महान धर्मो का सामान्य अध्ययन, विभिन्न ग्रन्थों का सामान्य एवं तुलानात्मक अध्ययन किया जाए। भारतीय शिक्षा आयोग ने 1964-66 में सुझाव

1. म० स्मृ० (प्, 82)
2. शि० दा० स० आ० - डॉ० एस० एस० माथुर पृ० 401
3. शि० रूप० - एच० एस० वैस पृ० 106

दिया कि प्रत्यक्ष रूप से धार्मिक व नैतिक शिक्षा के लिए सप्ताह में दो घन्टे निधारित किये जायें वे परोक्ष रूप से शाला के वातावरण को उच्च बनाकर पाठ्यक्रमोर क्रियाओं द्वारा धार्मिक मूल्यों को सिखाया जाये।[1]

भारतीय विद्यालयो में धार्मिक और नैतिक शिक्षा की लम्बी परम्परा होने के कारण यहां के निवासी परतन्त्र और स्वतन्त्र भारत की धर्मविहीन शिक्षा से रंचमात्र भी सन्तुष्ट नहीं हुए। अतः उन्होंने अपने स्वयं के प्रयास से ऐसी अनेक शिक्षा संस्थाएं स्थापित कीं, जिनमें धार्मिक और नैतिक शिक्षा को उपयुक्त स्थान प्रदान किया गया। इतना ही नहीं, **हन्टर कमीशन** (1882) से लेकर **'कोठारी कमीशन'** (1964) तक नियुक्त किये जाने वाले सभी आयोगों और समितियों ने शिक्षा -संस्थाओं में धार्मिक और नैतिक शिक्षा प्रदान किये जाने का समर्थन किया, उदाहरणार्थ-'शिक्षा-आयोग' ने लिखा हैं "सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा के लिए सचेत और संगठित प्रयास किये जाने चाहिए।[2]

उपर्युक्त विवेचन से शिक्षा, धर्म और नैतिकता का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। शिक्षा को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता है, क्योंकि **जैसा कि ह्वाइटहेट** (A.N. White head) ने लिखा है।"शिक्षा का सार तत्त्व यह है कि वह धार्मिक होती है।"[3]

जिस प्रकार शिक्षा को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार शिक्षा को नैतिकता से भी पृथक् करना असम्भव है। हरबार्ट(herbart) का कथन है- "समग्र रूप से, नैतिक शिक्षा-शिक्षा से पृथक् नहीं है।"

जहां तक धर्म और नैतिकता की बात है इन दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर है। इसी बात को हम स्प्रिंग (G. Spring) के इन शब्दों में कह सकते हैं- धर्म के बिना नैतिकता का और नैतिकता के बिना धर्म का अस्तित्व नहीं है।[4]

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि शिक्षा, धर्म और नैतिकता एक-दूसरे में इस प्रकार गुथें हुए हैं कि उनका सम्बन्ध विच्छेद करना असम्भव है। अतः शिक्षा-धार्मिक भी होनी चाहिए और नैतिक भी।

धर्म और शिक्षा में हमेशा निकट का सम्बन्ध रहा है। आधुनिक शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति का केवल शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक, सामाजिक, सांस्कृतिक

---

1. शि० रूप० - एच० एस० वैस पृ० 107
2. क) Education commission Report. p. 206
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 313
3. शि० स० सि० - त्यागी एवं पाठक पृ० 246
4. भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 618

एवं सौन्दर्यात्मक विकास ही नहीं बल्कि उसका नैतिक एवं धार्मिक विकास भी हैं। यही कारण हैं कि आजकल नैतिक एवं धार्मिक शिक्षा पर इतना बल दिया जा रहा है। आपत्ति में मनुष्य को धर्म द्वारा ही आध्यात्मिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। रॉस के शब्दों में, 'हमें संसार को अंधकार से बचाने के लिए धर्म की शिक्षा का आधार बनाया चाहिए।' धर्म मनाव की प्रगति में सहायता देता है, उसे उच्च स्तर की ओर उठाता है, अतः अच्छे नैतिक चरित्र में उसकी सहायता करता है। धर्म के बिना व्यक्ति सत्यं, शिवं सुन्दरम् में विश्वास नहीं कर सकता। धर्म सच्चे मानवतावाद का आधार यह आत्मा की संस्कृति को शक्ति प्रदान करता हैं संस्कृति और सभ्यता के उच्च स्तर को प्राप्त करने के लिए शिक्षा को धर्म पर आधारित होना चाहिए। विश्वशान्ति और आध्यात्मिक सन्तुष्टि के लिए भी धार्मिक शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। हमारे देश में विवेकानन्द, महात्मा गांधी डा॰ राधाकृष्णन् पं॰ मदन मोहन मालवीय, रवीन्द्र नाथ टैगोर, विनोबा भावे, अरबिन्दु आदि महान् व्यक्तियों ने शिक्षा में, धर्म की आवश्यकता को अनुभव किया।[1]

कोठारी आयोग का मत है कि विद्यालयी पाठ्यचर्या मे एक गंभीर त्रुटि यह है कि उसमें सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा की व्यवस्था नहीं की गई है। अधिकांश भारतीयों के जीवन में धर्म एक बडी अभिप्रेरक शक्ति के रूप विद्यमान हैं और चरित्र के निर्माण तथा नैतिक मूल्यों की शिक्षा से उसका आन्तरिक सम्बन्ध है। अतः बड़े-बड़े धर्मो के नीति सम्बन्धी उपदेशों की सहायता से सामाजिक, नैतिक और अध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा देने का जागरूक और संगठित प्रयास करना चाहिए।[2]

धार्मिक व नैतिक शिक्षा की आवश्यक निम्नलिखित तत्त्वों पर आधारित है :

1. सर्वागीण व्यक्तित्व का विकास- विद्यालय पर बालक के व्यक्तित्व के सर्वागीण विकास करने का उत्तर-दायित्व है। वह अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह तभी कर सकता है, जब वह उसे धार्मिक और नैतिक शिक्षा प्रदान करे।

2. चरित्र का निर्माण- मनुष्य के भाग्य का निर्माण उसका चरित्र करता है। चरित्र ही उसके जीवन में उत्थान और पतन, सफलता और विफलता का सूचक है। अतः यदि हम बालक को सफल व्यक्ति, उत्तम नागरिक और समाज का उपयोगी सदस्य बनाना चाहते हैं, तो उसके चरित्र का निर्माण किया जाना परम आवश्यक है,[3] यह तभी सम्भव है, जब उसके लिए धार्मिक और नैतिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

---

1. भा॰ शि॰ स॰ - पी॰ डी॰ पाठक पृ॰ 619
2. आ॰ भा॰ शि॰ स॰ - बी॰ बी ॰ अग्रवाल पृ॰ 386-387
3. शि॰ स॰ सि॰ - त्यागी एवं पाठक पृ॰ 248

3. उचित मूल्यों का समावेश– पाश्चात्य देशों के समाजों में धार्मिक और नैतिक शिक्षा के अभाव के कारण अनेक गम्भीर दोष उत्पन्न हो गये हैं। अतः वहां के अनेक महान् विचारकों की यह धारण बन गई है कि धार्मिक और नैतिक शिक्षा के द्वारा छात्रों में उचित मूल्यो का समावेश किया जाना अनिवार्य है। क्योंकि भारतीय समाज में भी पाचात्य समाजों के कतिपय दोष दृष्टिगोचर होने लगे हैं, अतः उनका उन्मूलन करने के लिए पाश्चात्य विचारकों की धारणा के अनुसार यहां भी कार्य किया जाना आवश्यक है।

4. अनन्त मूल्यों की प्राप्ति- सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् अनन्त मूल्य समझे जाते हैं। ये सबसे अधिक मूल्यवान वस्तुएं हैं जो स्वतः अपना अस्तिव रखती हैं, और हमारे आदर एवं निष्ठा की पात्र हैं हम केवल धर्म और नैतिकता के माध्यम से ही इन मूल्यों को खोजकर और प्राप्त करके अपने जीवन को पूर्ण बना सकते हैं।[1]

5. अच्छे गुणों व आदतों का निर्माण : अर्नेस्टचेव के अनुसार "बालकों को धार्मिक और नैतिक शिक्षा दी जानी इसलिए आवश्यक है क्योंकि वह अनेक अच्छे गुणों और आदतों का निर्माण करती है, यथा-उत्तरदायित्व की भावना, सत्य की खोज, उत्तम आदर्शो की प्राप्ति, जीवन दर्शन का निर्माण, आध्यात्मिक, मूल्यों की अभिव्यक्ति इत्यादि।

6. पाठ्यक्रम के दोष का निवारण : 'शिक्षा-आयोग' के शब्दों में- "विद्यालय-पाठ्यक्रम का एक गम्भीर दोष है-' सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा की व्यवस्था की अनुपस्थिति।"[2]

7. संस्कृति का पोषण- डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार- "शिक्षा का एक महत्त्वपर्णू कार्य हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का पोषण और आधुनिक आवयश्कताओं के अनुसार उसका पुननिर्माण करना है।

8. सभ्यता की सुरक्षा : यदि हम अपनी सभ्यता को सुरक्षित और विकसित करना चाहते हैं तो प्रत्येक शिक्षा-संस्था में धार्मिक और नैतिक शिक्षा का उपयुक्त आयोजन किया जाना आवश्यक है।[3]

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने धार्मिक शिक्षा पर बल दिया है कि "धर्म का प्रभाव गम्भीर होता है, यह जीवन का एक धार्मिक गुण है और सर्वोच लक्ष्य हैं। धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धार्मिक निरक्षरता नहीं। आयोग का कहना है कि विद्यार्थियों बनाया जा सकता को नैतिक एवं धार्मिक पुस्तकें पढा कर नैतिक एवं धार्मिक नहीं

---

1. भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 620
2. भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 249-250
3. भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 621-622

निरक्षरता नहीं। हमें विद्यार्थियों को सुझाव एवं प्रेरणा देनी चाहिए। हमें उन पर कोई चीज ठोसनी नहीं चाहिए। अपना व्यक्तिगत उदाहरण, दैनिक जीवन एवं कार्य और दिन प्रतिदिन पढ़ी जाने वाली पुस्तकें सुझाव देने की सबसे अच्छी विधियां है।"[1]

केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों को अपनी सभी संस्थाओं में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के सुझावों के अनुसार नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा आरम्भ करनी चाहिए। धार्मिक शिक्षा के सामान्य कार्यक्रमों को अभिन्न अंग बनाने के अतिरिक्त, टाईम टेबल में भी इसके लिए कुछ पीरीयड निश्चित किये जाने चाहिए। इन पीरीयडों के लिए विशिष्ट रूप से अध्यापक भर्ती नहीं करने चाहिएं बाल्कि सामान्य अध्यापकों द्वारा ही ये पीरीयड लिए जाने चाहिए। विश्वविद्यालयों के इन विभागों को उन साधनों पर विचार करना चाहिए जिनके द्वारा नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का प्रभावशाली ढंग से शिक्षण दिया जा सके। इन विभागों के शिक्षकों एवं शिष्यों के लिए उपयोगी साहित्य भी तैयार करना चाहिये।[2]

नैतिक शिक्षा का धर्म के साथ गहरा सम्बन्ध है। भारत की जनता विभिन्न सम्प्रदायों में फंसी हुई है। जो एक दूसरों के विरूद्ध है। धार्मिक शिक्षा का अर्थ किसी धर्म की शिक्षा प्रदान करना नहीं। इस प्रकार की शिक्षा हमारे स्कूलों में नहीं दी जा सकती। इस कठिनाई को दूर करने के लिए धर्म को भारत की विभिन्न धार्मिक पुस्तकों में से लिये गये सामान्य नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित करना चाहिए। पाठ्य पुस्तकों के अभाव के कारण विभिन्न धर्मो की बुनियादी समानताओं पर प्रकाश डाला गया है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए सरकार को भारत की विभिन्न पुस्तकों से सामान्य नैतिक सिद्धान्तों का पाठ्य-पुस्तकों के रूप में संकलन करना चाहिये और उन्हें विभिन्न शिक्षा स्तरों के पाठ्य क्रमों में लगाना चाहिये। हमारे जहां ऐसे अध्यापकों का अभाव है जिनका नैतिक चरित्र ऊंचा हो। कुछ थोड़े से अध्यापकों में ही जीवन के उच्च नैतिक गुण विद्यमान होते हैं। हमें नैतिक गुणों से सम्पन्न अध्यापकों की आवश्यकता हैं जो अपना उदाहरण प्रस्तुत करके विद्यार्थियों के जीवन का निर्माण कर सकें। इसके लिये आवश्यक है कि स्कूलों तथा कालेजों के अध्यापकों का चुनाव सावधानी से किया जाये। विश्वविद्याय शिक्षा आयोग, श्री प्रकाश कमेटी तथा भारतीय शिक्षा आयोग द्वारा प्रस्ताविक नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा की व्यवस्था पर बहुत खर्च करना पड़ता है। हो सकता है कि हमारी सरकार यह खर्चा करने की स्थिति में न हो। परन्तु कम महत्त्वपूर्ण विकास कार्यो में से बचत करके इस दिशा में लगाना उपयोगी होगा। किसी भी कीमत पर नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा की अवहेलना नहीं की जानी चाहिए।[3]

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 453
2. वही - वही पृ० 461-462
3. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया 465-467

नैतिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य संवेगात्मक शक्तियों को समुचित रूप से विकसित एवं नियंत्रित करना है, इससे छात्रों में सदाचारिता, कर्त्तव्य परायणता, सामाजिकता तथा उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है, इससे बन्धुत्व एवं प्रेम की भावना का सृजन होता है जिससे हमारे दैनिक व्यवहार प्रभावित होते हैं। जैसे- छात्रों में नैतिक गुणों का विकास, विविध धर्मों के प्रति समभाव विकसित करना, देशभक्ति एवं राष्ट्रीय एकीकरण की भावना का विकास करना, लोकतांत्रिक जीवन शैली का विकास करना, छात्रों में अच्छी आदतों का निर्माण करना, छात्रों में व्यक्ति की गरिमा के प्रति समादर तथा मौलिक मानव आधिकारों के प्रति आस्था विकसित करना।[1]

प्रायः सभी शिक्षाशास्त्रियों ने स्वीकारा है कि शिक्षा का उद्देश्य नैतिक विकास भी होना चाहिए। हमारे यहां तो यही मान्यता रही है कि विद्या ददाति विनयम्। विनय के अन्तर्गत शील, सचरित्रता, आदि सब गुण आते हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य के नैतिक व्यवहारों से हैं। अरस्तू के अनुसार, "नैतिकता व्यक्ति में निहित है जो उसे यह निर्णय लेने में सहायक होती है कि कौन सा कार्य उचित है या अनुचित। वस्तुतः नैतिक शिक्षा का संबंध चरित्र से है। चरित्र का शिक्षा के अन्तर्गत समाज के नैतिक नियमों का पालन करना चरित्र शिक्षा का विशेष अंग होता है। इसका अर्थ है नैतिक शिक्षा को व्यक्तिगत व सामाजिक, दोनों ही पक्षों को समाहित करना चाहिए। व्यक्ति संयत रूप से अपने जीवन को जी सके और साथ ही शिष्टता के साथ स्वार्थ छोड़ कर अपने अन्य सार्थियों के प्रति व्यवहार करे, अपने से बडों का आदर करे और इस प्रकार का व्यवहार करें जिससे राष्ट्र, देश तथा समाज को नीचा न देखना पड़ें।[2]

स्पेन्सर का विश्वास था कि बालक का स्वभाव बुरी प्रवृत्तियों से युक्त होता है। अतः शिक्षा द्वारा उसकी बुरी प्रवृत्तियों को परिष्कृत एवं परिमार्जित करना चाहिए। इसके लिए शिक्षा द्वारा उसमें ऐसे संस्कारों और आदतों का निर्माण करना चाहिए जो सामाजिकता एवं सस्कृति की दृष्टि से उत्तम हों। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शिक्षा द्वारा बालक का नैतिक विकास करना चाहिए। स्पेन्सर नैतिक विकास के लिए दण्ड का सहारा नहीं लेता। वह दण्ड का विरोध करता हैं। इसके स्थान पर वह प्रेम और सहानुभूति का सहारा लेता है।[3] इनके अतिरिक्त उसने प्राकृतिक परिणामों को नैतिक शिक्षा का आधार बनाया।

---

1. भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 622
2. शि० रूप० - एच० एस० बैस पृ० 107
3. शि० शा० सि० - त्यागी एवं पाठक पृ० 727

तृतीय अध्याय

शिक्षण पद्धति

क) स्मृति एवं उपनिषद् कालीन शिक्षण-पद्धति

ज्ञान प्राप्त करना और उसे दूसरे को हस्तान्तरित कर देना ये शिक्षण के दो पक्ष हैं जिनहे क्रमशः अध्ययन और अध्यापन कहा गया है। अध्यापन भी ज्ञानप्राप्ति का ही एक साधन है। शिक्षण का संबंध बुद्धि से है और ऐसा कोई समय सृष्टि में नहीं जब बुद्धि का अभाव हो, अतः ज्ञान की परम्परा भी सृष्टि के समान अनादि है।[1]

इस काल में साहित्य और शिक्षा के क्षेत्रों में बहुत विकास हुआ था। साहित्य के विभिन्न रूप, ग्रन्थ, रचना प्रकार, शिक्षण संस्थाए, आचार्य और अन्तेवासी छात्र, शिक्षण प्रणाली ये सब बातें ऐसी व्यवस्थित और पद्धति मूलक थी। इस काल की शिक्षा और ग्रन्थ रचना प्रणाली ने एक बौद्धिक विकास का युग उपस्थित किया था, जिसका प्रभाव जनजीवन के विकास पर भी पड़ा।

विद्यार्थी ब्रह्मचारी होता था, उसकी शिक्षा में ज्ञान संचय के साथ आन्तरिक जीवन निर्माण पर बहुत बल दिया जाता था। गुरु और शिष्य दोनों ही का विद्या में अभंग सम्बन्ध था। वे शिष्य आचार्यों के अन्तेवासी के रूप में उनके साथ रहते और उनके जीवन से प्रभावित थे।[2]

एक संस्था 'ब्रह्मचारी-चरण' होती थी। जहां विद्यार्थी अन्य ब्रह्मचारियों के साथ रहकर विद्याध्ययन करते थे। इन चरणों का शिक्षा प्रसार में बड़ा हाथ था, इस समय विद्यार्थी 'वर्णो' कहलाते थे। इसका अर्थ था कि वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णो के होते थे। ब्राह्मणों में और वेदों में यह नाम अज्ञात था। साध ारणतया विद्यार्थी छात्र कहलाते थे। छात्र का अर्थ था- 'छत्र शीलमस्य' छत्र के समान गुरु के जीवन पर छाया हुआ।[3]

छात्र दो प्रकार के होते थे-एक दण्ड माणव दूसरे अन्तेवासी। दण्ड माणव को केवल 'माणव' भी कहते थे। ये छात्र ऊपर पाइमरी के छात्र जैसे होते थे। उनका यज्ञोपवीत नहीं होता था।[4] दण्ड धारण करने के कारण वे दण्ड माणव कहलाते थे। जब वेद पढ़ने का समय नजदीक आता था तब छात्र का उपनयन संस्कार होता था। इस संस्कार को आचार्यकरण कहते थे। अब वह गुरु का अन्तेवासी होता

---

1. आ० वै० इ० - आचार्य प्रियव्रत शर्मा पृ०1
2. भा० सं० इ० - आचार्य चतुर्सेन पृ० 503-504
3. भा० सं० इ० - आचार्य चतुर्सेन पृ० 505
4. अनूचो मानवे वहृचश्चणारख्यायामिति। - म० भा० V/4/15

था। उपनयन होने के बाद गुरु और शिष्य दोनों का अटूट सम्बन्ध हो जाता था।[1] गुरु की सेवा करके छात्र विद्याध्ययन करता था। छन्द का अध्ययन करने वाला छात्र शुश्रूष होता था। क्योंकि वेद छन्द लिखे नहीं होते थे। वह श्रुति को कान से सुनकर याद करता था। पिता से पढने वाले छात्र पितुरन्तेवासी कहलाते थे। आचार्य पुत्र का महत्त्व होता था। वह 'राजपुत्र' की भांति विशेष सम्मान का भाजन होता था।[2]

स्मृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि श्रुतियों और स्मृतियों का अध्ययन मौखिक रूप में होता था। वेदों को श्रुति कहने का अभिप्राय यह है कि वे गुरु-परम्परा से सुने जाते थे। अतः उन्हें श्रुति अर्थात् सुना गया कहा जाता था। उन्हें श्रवण परम्परा से ही शिष्यों को पढाया जाता था। इसी प्रकार स्मृति का अर्थ है, जो स्मरण किया जाय या याद रखा जाए। इससे स्पष्ट है कि धर्मशास्त्र ग्रन्थ भी शिष्यों को स्मरण कराए जाते थे और मौखिकपरम्परा से ही इन्हें शिष्यों को प्रदान किया जाता था। अतएव स्मृतिहीन एवं मन्दबुद्धि व्यक्तियों को श्रुति और स्मृति न पढाने का विधान था। ब्राह्मण श्रुति और स्मृति को समदृष्टि से पढ़े। स्मृतिहीनों को वेद आदि शोभा नहीं देते हैं।[3]

उपनयन संस्कार के बाद सर्वप्रथम ओम् (प्रणव), व्याहृतियां (भूः भुवः स्वः) तथा गायत्री पढ़ायी जाती थी। इसके पश्चात् शिष्य को वेद के अन्य भाग पढाए जाते थे। उनयन के पश्चात् शिष्य को विधिपूर्वक मनु आदि धर्मशास्त्र और वेद पढ़ावें।[4] प्रारम्भिक शिक्षा के विषय में मनु और गौतम का कथन है कि गुरु पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठता था। शिष्य उसके दाहिनी ओर या उत्तराभिमुख बैठता था। शिष्य प्रारम्भ में आचार्य का चरणस्पर्श, तीन बार आचमन और अंगस्पर्श करता था। शिष्य-गुरु से निवेदन करता था कि शिक्षा दीजिए। तब आचार्य उससे ओम का उच्चारण करवाते थे। तदनन्तर तीन प्राणायाम करवाकर शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। अध्ययन की समाप्ति पर भी ओम कहा जाता था इसके पश्चात शिष्य गुरु के चरण स्पर्श करके प्रस्थान करता था। शिष्य के लिए आवश्यक था कि वह प्रातः और सायं सन्ध्या, उपासना और गायत्री का जप करें साथ ही प्राणायाम भी करे।[5] मनु के अनुसार गायत्री मन्त्र के जप से विद्यार्थी के पाप नष्ट होते हैं और उसकी बुद्धि प्रखर होती है। एक मास तक एक साहस्र गायत्री जप करने वाले के सभीपाप आदि नष्ट हो जाते हैं।[6]

---

1. आचार्य उपनयनमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः - अ० वे० XI/5/3
2. भा० स०इ० - आचार्य चतुर्सेन पृ० 506
3. श्रुति स्मृत्योः समः स्मृतः।
   स्मृतिहीना न शोभन्ते ।। - बृ० सं० पृ० 226-227
4. वेदमध्यापयेद् यत्नाच्छास्त्रं मन्वादिकं तथा। - वही पृ० 2225
5. क) म० स्मृ० (II, 70-75)
   ख) गौ० स्मृ० (I, 40-58)
6. म० स्मृ० (II, 78-81)

प्राचीन परम्परा में शिक्षण कार्य पुस्तकों की सहायाता के बिना ही होता था। विशेष रूप से वेदों की शिक्षा के लिए सुन्दर और व्यवस्थित नियम थे। वेदों के लिए पद, क्रम, जटा, धन आदि के रूप में अध्ययन और अध्यापन होता था। उदात्त आदि स्वरों के विषय में विशेष ध्यान दिया जाता था। शुद्ध उच्चारण शिक्षा का विशेष अंग था। अतः पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि मन्त्रों के पाठ में वर्ण और स्वरों की अशुद्धि नहीं होनी चाहिए, अर्थ का अनर्थ हो जाता है।[1]

शिक्षण विधि मौखिक थी और छात्रों को आचार्य द्वारा बताई गई सभी बातों को कंठस्थ करना होता था। प्रत्येक पाठ के आरम्भ में छात्र गुरु का चरण स्पर्श करते थे और उससे पाठ प्रारम्भ करने की प्रार्थना करते थे। गुरु गम्भीर वाणी से मन्त्रों का उच्चारण करते थे और छात्र उसका अनुसरण करते थे। गुरु उच्चारण किये गए मंत्रों की व्याख्या भी करते थे। शिक्षण समाप्त होने पर छात्र गुरु के चरणों का स्पर्श करके विदा लेते थे।[2]

शिक्षण विधि मौखिक थी और छात्रों को आचार्य द्वारा दिये गये ज्ञान को कंठस्थ करना पडता था। गुरु गम्भीर वाणी में मन्त्रों का उच्चारण करते थे और छात्र उसका अनुसरण करता था। गुरु उच्चारण किये गए मन्त्रों की व्याख्या करते थ। प्रश्नोत्तर तथा शंका समाधान भी साथ-साथ चलते थे। स्वाध्याय शास्त्रार्थ उपदेश या भाषण मनन व चिन्त इत्यादि शिक्षण विधियां थीं। श्रवण, मनन व निदिध्यासन तीन प्रमुख पद्धतियों का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में पाया जाता है।[3]

शिक्षा का माध्यम- भृगुस्मृति का कथन है कि वेद, वेदांग और स्मृतियों को सदा संस्कृत में नहीं पढावें। कभी भी अपभ्रंश या देशभाषा में न पढ़ावें। संस्कृत के माध्यम से पढाने से विद्या विकसित होती है और अपभ्रंश से भ्रष्ट होती है।[4]

सेवा से विद्या : सेवा और परिश्रम से ही विद्या प्राप्त होती है। मनु ने इसका सुन्दर उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार कुदाल आदि से भूमि खोदने वाला खोदते हुए भूमि से जल प्राप्त करता है, उसी प्रकार गुरुसेवा एवं परिश्रम से शिष्य गुरु की समस्त विद्या प्राप्त कर लेता है।[5]

---

1. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
   स वाग्यज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुःस्वरतोऽपराधात्- - पा० शि० पृ० 52
2. भा० शि० इति० -बी० पी० जौहरी एवं -पी० डी० पाठक पृ० 19
3. आ० भा० शि० स० -बी० बी० अग्रवाल पृ० 5
4. भृ० स्मृ० (VII,33)
5. यथा खनन् खनित्रेण, नरो वार्यधिगच्छति।
   तथा गुरुगतमां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति।। -म० स्मृ० (II, 218)

अनध्याय– मनु, याज्ञवल्क्य, गौतम आदि स्मृतियों में अनध्याय के विषय में सविस्तार वर्णन है। इनमें विशेष अनध्याय के दिन हैं-प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या। इन दिनों वेदाध्ययन बन्द रखा जाता था। आंधी, तूफान, बिजली गिरना, भंयकर उत्पात, चोर, डाकू आदि के आने पर, भूकम्प, अतिवृष्टि, उल्कापात, सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण होने पर, राजा, गुरुजन, भाई, भतीजे आदि एवं माता-पिता और आचार्य की मृत्यु पर अनध्याय रहता था।[1]

शिक्षक– आधुनिक युग में शिक्षण संस्थाओं और विश्वविद्यालयों को जो महत्व प्राप्त है। प्राचीन भारत में वही महत्त्व शिक्षक का था।[2] शिक्षक के लिए दो प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है। आचार्य एवं गुरु। अज्ञान रूपी अन्धकार को रोकने के कारण शिक्षक को गुरु कहा जाता है और सदाचार की स्थापना करने के कारण एवं स्वयं आचरण करने के कारण आचार्य पद की प्राप्ति होती है।[3]

गुरु शब्द तो अति महत्त्वपूर्ण है। गु+रु=गुरु। गु=अज्ञान, रू = अवरोधक। अर्थात् जो अज्ञान को नाश कर ज्ञान प्रदान करे उसे गुरु कहते हैं।[4]

भवसागर के कर्णधार गुरु : जैसे ज्ञान-विज्ञान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार सद्गुरु से सम्बन्ध हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। गुरु इस संसार सागर से पार उतारनेवाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान नौका के समान बताया गया है। मनुष्य उस ज्ञान को पाकर भवसागर से पार और कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे नौका और नाविक दोनों की अपेक्षा नहीं रहती।[5]

---

1. क) म॰ स्मृ॰ (IV, 102-128)
   ख) याज्ञ॰ स्मृ॰ (I,44-51)
   ग) गौ॰ स्मृ॰ (XVI)
2. प्रा॰ भा॰ शि॰ प॰ -डॉ॰ अ॰ स॰ अलतेकर पृ॰ 437
3. आचार्यो वेदसंपन्नों विष्णुभक्तो विमत्सरः। मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदामन्त्राश्रयः शुचिः।।
   गुरु भक्ति समायुक्तः पुराणज्ञो विशेषवित्। एवं लक्षणसंपन्नों गुरुरित्यभिधीयते।।
   आतिनोचि हि शास्त्रार्थनाचारस्थानादपि। स्वयमाचरते यस्तु तस्मादाचार्य उच्यते।।
   गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्द्स्तनिरोधकः। अन्धकार निरोधित्वादगुरुरित्यभिधीयते।।
   गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परागतिः। गुरुरेव परम विद्या गुरुरेव परम धनम्।।
   गुरुरेव परः कामः गुरूरेव परायणः। यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुः।।
   यस्सकृदुच्चारणः संसार विमोचणो भवतिः। सर्वपुरुषार्थ-सिद्धि र्भवति। न च पुनरावर्तते।।
   न च पुनरार्तवत इति। य एवं वेदेत्युपनिषत्।। - द्वयो॰ उ॰ (I-7 श्लोक)
4. क॰ -शि॰ पृ॰ 250
5. न विना ज्ञान विज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्। न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः।।
   गुरु प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते। विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत्।।
   महा॰ शान्ति॰ 326 22-23

शिक्षक का महत्त्व–

शिक्षक छात्र को अज्ञान के अन्धकार से निकालकर ज्ञान के प्रकाश में ले जाता हैं, वह अपरिपक्व बुद्धि के बालकों का भार अपने ऊपर लेकर उन्हें योग्य और उपयोगी नागरिक बनाता है। अतः समाज में उसका आदर होना स्वभाविक ही है। एक मनीषी का कथन है कि ज्ञान रूपी दीपक एक प्रकार के आवरण से आच्छन्द रहता है। गुरु इस आवरण को हटा देता है और तब प्रकाश की किरणें फूट निकलती है। अतः गुरु के प्रति[1] कृतज्ञ होना और उसका अधिक से अधिक सम्मान करना शिष्य का कर्त्तव्य है।

गुरु माता-पिता से अधिक आदर का पात्र हैं क्योंकि माता पिता से हमें केवल पार्थिव शरीर ही मिलता है परन्तु गुरु से बौद्धिक उन्नति व विकास। वैदिक काल से ही आचार्य को शिष्य का मानस पिता माना गया हैं।[2] उसकी सहायता और मार्ग दर्शन के बिना शिक्षा सम्भव नहीं है। इसलिए ज्ञान के लिए गुरु अपरिहार्य है। गुरु के इस सम्मान से हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि सभी मानते हैं कि स्कूल की इमारत और सजावट का छात्रों पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना एक योग और सदाचारी अध्यापक का जो कि उनको उपदेश और प्रेरणा देते हैं।

आचार्य से उपदेश प्राप्त करने का इतना महत्व है कि जो व्यक्ति आचार्य से उपदेश ग्रहण करता है। वह सत् का ज्ञानी है और मोक्ष प्राप्ति कर सकता है।[3]

गुरु-प्रेरित शिक्षा अनियमित अथवा सुनियोजित तथा सोद्देश्य होती हैं। सुनियोजित तथा सोद्देश्य शिक्षा को ही शिक्षा पद्धति के नाम से व्यवहार मे लाया जाता है।[4]

प्राचीन शिक्षा के केन्द्र ऋषिलोग थे। महर्षि दुर्वासा का चलता फिरता विश्वविद्यालय प्रायः दस हजार शिक्षार्थियों से पूर्ण था। वाल्मीकि, वसिष्ठ, अघोर, अङ्गिश भरद्वाज आदि प्राचीन कुलपति थे। सांदीपनि ऋषि भगवान् श्रीकृष्ण और सुदामा के गुरु थे। तक्षशिला, राजगृह, नालन्दा आदि प्राचीन शिक्षा केन्द्र थे।[5]

---

1. यथा घटप्रतिच्छन्न रत्नराजा महाप्रभाः।
   अकिंचित्करतां प्राप्तास्तद्वद्विधारचतुर्दश।। –याज्ञ० स्मृ० (I, 212)
2. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। –अ० वे० (XI, 5,3)
3. एवमेवेहाचार्यवान्पुरूषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोत्र्येऽथ सम्पत्स्य इति।।
   स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्वम् तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेकेतो इतिभूय
   एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच।। –छा० उ० (VI, 2-3)
4. क० शिक्षा० पृ० 78
5. वही पृ० 79

हमारे यहां गुरु को साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् परब्रह्म तक महनीया बताया गया है। प्राचीन युग में गुरु बनने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही मिला था, जो अन्य विद्याओं के साथ साथ शास्त्रविद्या, युद्धनीति तथा अर्थ शास्त्र भी पढ़ाते थे। किन्तु यह छूट अवश्य थी कि यदि ब्राह्मण गुरु ने मिले तो क्षत्रिय गुरु से भी विद्याप्राप्त की जा सकती थी और ब्रह्मविद्याता किसी भी अधिारी से प्राप्त की जा सकती थी। आगे चलकर इन गुरुओं के दो भेद हो-गए एक शिक्षा गुरु, दूसरे दीक्षा गुरु। जो विद्वान केवल विभिन्न शास्त्र मात्र पढाता था। वह शिक्षा गुरु कहलाता था और जो उपयन के पश्चात् छात्र को अपने साथ रखकर उसे आचार विचार भी सिखता था, उसे दीक्षा गुरु कहते हैं, ये दीक्षा गुरु अपने भोजन की व्यवस्था भी करते थे। इतना ही नहीं, यदि कोई छात्र किसी दूसरे आचार्य से कोई विद्या पढना चाहता था तो उसे दूसरे गुरु के पास जाकर पढ़ने की सुविधा भी देते थे।

स्मृतियों में चार प्रकार के शिक्षक माने गए हैं -कुलपति, आचार्य, उपाध्याय और गुरु। जो ब्रह्मर्षि विद्वान दस सहस्र मुनियों (विद्या का मनन करने वाले ब्रह्मचारियों) को अन्न, वस्त्र आदि देकर पढ़ाता था, वह 'कुलपति' कहलाता था। जो अपने छात्रों को कल्प (यज्ञ करने की विधि और रहस्य (उपनिषद्) के साथ वेद पढ़ाता था वह 'आचार्य' कहलाता था जो विद्वान मन्त्र और वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, निरूक्त, ज्योतिष, व्याकरण और छन्द) पढ़ाता था, वह उपाध्याय कहलाता था और जो विद्वान अपने छात्रों को भोजन देकर वेद वेदांग पढाता था वह गुरु कहलाता था। उस समय यही विश्वास था कि विद्या-दान से बढ़कर कोई दान नहीं है क्योंकि विद्या पढ़ाने से जीवन की मुक्ति हो जाती है। इसलिए अनेक विद्वान सब प्रकार की तृष्णा को त्यागकर लोक-कल्याण की कामना से छात्रों को विद्या दान करते ही रहते थे।[1] गुरु पूज्य होता था उसे 'आचार्यदेवोभव' की संज्ञा से विभूषित किया जाता था।[2] याज्ञवल्क्य ने भी गुरु की महत्ता का उल्लेख किया है। उनके अनुसार गुरु वह होता है जो उपनयन तक की क्रियाएं कराके ब्रह्मचारी को वेद की शिक्षा देता है।[3] वेद मात्र उपनयन-संस्कार करके वेद की शिक्षा देने वाले को आचार्य कहते थे। वेद के एक भाग या अंग की शिक्षा देने वाले को उपाध्याय और यज्ञ-कर्म कराने वाले को ऋत्विज् कहते थे।[4] ये सभी क्रमानुसार पूजनीय थे।

पृ० 114

1. क० शि० (I, 11)
2. तै० उ० (I, 34)
3. याज्ञ० स्मृ० (I, 35)
4. क) वही- (II/6/12)
   ख) वि० पु० (62, 21)
   ग) म० पु०

गुरु एवं उनके परिवार की भोजनादि सम्बन्धी दैनिक आवयश्कताएं शिष्यों द्वारा लाई गई भिक्षा से होती थी। अध्यापक को वेतन नहीं मिलता था। शिक्षा समाप्त होने पर विद्यार्थियों द्वारा तथा त्यौहार एवं उत्सवों पर गांव वालों से जो भी दान-दक्षिणा मिलती थी। उसी पर वे निर्भर थे। इसके अतिरिक्त समृद्ध लोग अपने बालकों के पढ़ायें जाने के उपलक्ष्य में विद्याध्ययन के अन्त में जो धनराशि उन्हें देते थे वह भी उनकी जीविका का सहारा था। फलतः इनकी कोई निश्चित आय नहीं थी।[1]

याज्ञवल्क्य के अनुसार तद्युगीन समाज में पैसा लेकर पढ़ाने वाले अध्यापक तथा शिष्य दोनों हेय-दृष्टि से देखे जाते थे।[2] विद्याध्ययन के बाद जो कुछ गुरु को दिया जाता था। वह उसके विद्या देने की फीस नहीं थी, इसके पीछे यह भावना थी कि ज्ञानदान का भुगतान पैसे में नहीं किया जा सकता। इसका एक और मन्तव्य यह था कि परिवार की आर्थिक क्षमता पर बालक की शिक्षा निर्भर नहीं थी।[3] यह इसका आदर्श था और इसका व्यवहारतः पालन भी होता था। गुरु-शिष्य अथवा उसके अभिभावक से जो दक्षिणा-प्राप्त करते थे आधुनिक अर्थ में उसे ही उनके श्रम का पारिश्रमिक कहा जा सकता है। पर इसे वेतन कहना भ्रामक होगा। सम्भव है कि कुछ गुरु जो राजकुमारों एवं अभिजात वर्ग के बच्चों को विद्याध्ययन कराते थे, वे अधिकांशतःसामान्य गुरुओं की तुलना में आर्थिक दृष्टि से अधिक समृद्ध रहे हों।[4]

शिष्य को किसी प्रकार का आघात न पहुंचे ऐसी ताड़ना गुरु करे, अशक्त को रस्सी, वैत वांस वा हाथ आदि से शिक्षा करें।[5] स्मृतिग्रन्थों में अध्यापक के लिए आचार्य, उपाध्याय और गुरु शब्द प्राप्त होते हैं। मनुस्मृति में इन तीनों में भी अन्तर किया गया है। आचार्य का लक्षण दिया गया है कि जो द्विज शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करे उसे कल्प (यज्ञविद्या) और रहस्यों (उपनिषदों) सहित वेद को पढाता है, उसे आचार्य कहते हैं।[6] उपाध्याय का लक्षण दिया गया है कि जो द्विज वेद के एक अंश तथा वेदांगों को आजीविका के लिए पढ़ाता है, उसे उपाध्याय कहते है।[7]

---

1. एजू० ए० ऐं० इ० -अ० स० अलतेकर पृ० 57
2. क) याज्ञ० स्मृ० (I, 223)
   ख) म० स्मृ० (III, 156)
   ग) महा० शान्ति, पृ० 260
3. सो० आर्ग० - पी० एन० प्रभु पृ० 126
4. रघु० सर्ग (V)
5. शिष्यशिष्टि रवधेनाशक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्याम्।। - गौ० स्मृ० (द्वितीयोऽध्याय)
6. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
   सकल्पं सरहस्यं च, तमाचार्य प्रचक्षते।। -म० स्मृ० (II, 140)
7. एकदेशं तु वेदस्य, वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
   योऽध्यापयति वृत्तर्थमुपाध्यायः स उच्यते।। -वही (II, 141)

गुरु का लक्षण दिया गया है कि जो विधिपूर्वक गर्भाधान आदि संस्कारों को कराता है और छात्र अन्य आदि के द्वारा पालन. पोषण करता है उसे गुरु कहते हैं,[1] इससे स्पष्ट है कि आचार्य चारों वेदों और शास्त्रों को पढ़ाता था। उपाध्याय विद्या को आजीविका का साधन मानता था। वह वेद या वेदांग में से किसी एक विषय का विशेषज्ञ होता था। गुरु 16 संस्कारों को कराता था और गरुकुल में छात्रों के भरण पोषण की व्यवस्था करता था। याज्ञवल्क्य वशिष्ठ और बृहस्पति ने उपनयन संस्कार करके वेद पढाने वाले को आचार्य कहा है। उन्होंने मनु के तुल्य ही वेद के एक अंश को पढाने वाले को उपाध्याय कहा है और संस्कार करके वेदोपदश करने वाले को गुरु कहा है।[2] जो (गर्भाधानादि उपनयन संस्कार) सम्पन्न करके इसे (ब्रह्मचारी को) वेदज्ञान दे वह गुरु होता हैं और जो (केवल) उपनयन-संस्कार करके वेद(ज्ञान) दे वह आचार्य होता है।[3]

जो शिष्य को यज्ञोपवीत करा कर वेद पढता है उसे गुरु कहते हैं और जो कुछ द्रव्य लेकर पढ़ाता है उसे उपाध्याय कहते हैं[4]

शिक्षक का महत्त्व

गुरु की सहायता और मार्ग दर्शन के बिना शिक्षा सम्भव नहीं है। इसलिए ज्ञान के लिए गुरु अपरिहार्य हैं। गुरु के इस सम्मान से हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि सभी मानते हैं कि सकूल की इमारत और सजावट का छात्रों पर उतरा प्रभाव नहीं पड़ता जितना एक योग्य और सदाचारी अध्यापक का जो कि उनको उपदेश और प्रेरणा देते हैं।

आचार्य से उपदेश प्राप्त करने का इतना महत्त्व है कि व्यक्ति आचार्य से उपदेश ग्रहण करता है, वह सत् का ज्ञानी है और मोक्ष प्राप्ति कर सकता है।[5]

---

1. निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथा विधि।
   सम्भावयति चन्नेन, स विप्रो गुरूरूच्यते।। -वही (II, 142)
2. क) स गुरुर्यः क्रियः कृत्वा, वेदमस्मै प्रयच्छाति।
   उपनीय यदद् वेदमाचार्यः स उदाहृतः।। - वही (I, 34-35)
3. स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।
   उननीय ददद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः।। -याज्ञ० स्मृ० I, 34
4. क) स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।
   भृतकाध्यापको यस्तु उपाध्यायः स उच्यते।। -शं० स्मृ० (III, 2)
   ख) याज्ञ० स्मृ० (I, 35)
5. एवमैवहाचार्यवान्पुरूषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।।
   स य एषोऽणिमैतदाम्यमिदूं सर्वम् तत्सत्यॅं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सौम्येति होवाच।। - छा० उ० IV, 2-3

आचार्य को ब्रह्म की मूर्ति बताया गया है[1] और पूज्यता की दृष्टि से आचार्य, माता और पिता को एक श्रेणी में रखा गया हैं। अतएंव आचार्य, माता और पिता की सेवा से समस्त तप की सफलता मानी गई हैं।[2] आचार्य और पिता में आचार्य को अधिक महत्त्व दिया गया है। क्योंकि वह विद्यादान देता है। विद्यादान ही इस जीवन और परलोक को सुधारता है।[3] आचार्य को दस उपाध्यायों के बराबर आदर दिया गया हैं। जन्म से ही बालक का पालन-पोषण करने के कारण पिता और माता को आदरणीय बताया गया है, अतः पिता को सौ आचार्यों के बराबर और माता को एक सहस्र पिता के बराबर कहा हैं[4] आचार्य का यह भी महत्त्व है कि वह विद्या और तप के साथ ही छात्र की जाति का निर्णय करता है। वह छात्र की, स्नातक होते समय, जो जाति निश्चित करता है, वही जीवन भर उसकी जाती मानी जाएगी।[5] मनु ने ज्ञान को अत्यधिक महत्त्व दिया है और इसलिए ज्ञान दाता का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना है।[6] मनु का कथन है कि मूर्ख व्यक्ति बालक माना जाता है। और ज्ञानदाता पिता होता है।[7] मनु ने ऋषियों का मत दिया है कि जो वेदवित् और ज्ञानी है, वही सर्वश्रेष्ठ है। धन, आयु आदि के कारण व्यक्ति समाज में महान् नहीं होता है।[8] मनु का कथन है कि जिसने थोडा या अधिक जो भी ज्ञान प्राप्त किया है कि वह गुरु है। वह पूजनीय है।[9]

गुरु की अनिवार्यता

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति गुरु की अनिवार्यता को प्रतिपादित करती है। गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

---

1. आचार्यो, ब्रह्मणो मूर्तिः, पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
   माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वा मूर्तिरात्मनः।। - म०स्मृ० II, 226.
2. तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
   तेष्वेवं त्रिषु तुष्टेषु, तपाः सर्व समाप्यते।। - वही II, 228
3. उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
   ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य, प्रेत्य चेह च शाश्वतम्।। - वही II, 146
4. उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता पिता।
   सहस्रं तु पितृन् माता, गौरवेणातिरिच्यते।। - वही II, 145
5. आचार्यस्त्वस्य यां जातिं, विधिवद् वेदपारगः।
   उत्पादयित सावित्र्या, सा सत्या साऽजराऽमरा।। - वही II, 148
6. विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं, क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।। - वही IIए 155
7. अज्ञो भवति वै बालः, पिता भवति मन्त्रदः।
   अज्ञं हि बालमित्याहुः, पितेत्येव तु मन्त्रदम्।। - वही II, 153
8. न हायर्यैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
   ऋषयश्चक्रिरे धर्म योऽनूचानः स नो महान्।। म० स्मृ० (II, 154)
9. अल्पं वा बहु वा यस्य, श्रुतस्योपकरोति यः।
   तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया।। -वही (II, 149)

"पुस्तकों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है और गुरु की सेवा में रहकर जो अध्ययन नही किया गया, उस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य उसी प्रकार शोभित नहीं होता, जिस प्रकार जार के गर्भ को धारण करके स्त्रियां शोभित नहीं होतीं।[1]

भारतीय शिक्षा-पद्धति में गुरु की महिमा को स्वीकार किया गया है। गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। आचार्य अपने शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसको अपने गर्भ में धारण करता है।[2] इस प्रकार वह अपने शिष्य का ने केवल शैक्षिक गुरु है, आध्यात्मिक गुरु भी है। वह अपने शिष्य को सभी प्रकार की विद्यायें सिखाता है। शिष्य आचार्य के कुल में ही निवास करता है अतः वह अन्तेवासी कहलाता है।

वैदिक संस्कृति के प्रारभिक काल में शिक्षा-पद्धति में मौखिक शिक्षा का बहुत अधिक महत्व रहा था। वेदों की शिक्षा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक गुरु द्वारा शिष्य को दी जाती रही। इस शिक्षा में स्वरों के शुद्ध उच्चारण और छन्दों की लय पर विशेष ध्यान दिया गया। गुरुमुख से विद्याध्ययन होने पर ही यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसको सिखाने में गुरु ही समर्थ है।[3] इसीलिये मनु ने शिक्षा-पद्धति में सावित्री को माता और आचार्य को पिता कहा।

'कठोपनिषद्' में कहा गया हैं कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए अध्यापक का होना अनिवार्य है।[4] मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि विद्यार्थी को चाहिये कि वह ज्ञान को प्राप्त करने के लिए श्रुति(वेद) को जानने वाले ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास समित्पाणि होकर जावें।[5]

शिक्षा को प्राप्त करने के लिए केवल एक ही गुरु पर्याप्त नहीं हैं, अपितु अनेक गुरुओं की आवश्यकता है। एक ही गुरु सब विषयों का विशेषज्ञ नहीं होता। विभिन्न विषयों की शिक्षा को प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ गुरुओं की सेवा में उपस्थित होते हैं। यह भी हो सकता है। कि एक ही गुरु के

---

1. पुस्तकप्रत्याधीतं नाधींत गुरु सन्निधौ। — ना० स्मृ० (I, 154)
   भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः।। —अ० वे० (XIए 5, 3)
2. आचार्य उपनयमानः कृणुते ब्रह्मचारिणं गर्भमन्तः।। —म० स्मृ० (II, 170)
3. तत्राऽस्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्चते।। —कठो० उ० II, 8
4. नरेणावरेण प्रोक्त एषः सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
5. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। —मु० उ० I, 2, 12

. अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
  तेभ्शेऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां बाल्मीकि पार्श्वादिह पर्यटामि।। —उ०रा०च० II, 3

पास रहते हुए शिक्षा में कोई विघ्न उपस्थित होने पर विद्यार्थी किसी अन्य गुरु की सेवा में चला जावे। 'उत्तररामचरित' नाटक में वर्णन हैं कि वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में अध्ययन करने वाली एक तापसी, अध्ययन में विघ्न उपस्थित हो जाने[1] पर वहां से अगस्त्य ऋषि के गुरुकुल में विद्याध्ययन करने के लिए चली गई।

आपस्तंब का कथन है कि अनेक गुरुओं के होने पर शिष्य उस गुरु के प्रति प्रणत होता है, जिसको वह श्रेष्ठ समझता है।[2] शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि शिष्य यदि एक गुरु को अपनी मनोवांछित विद्या प्राप्त कराने में असमर्थ समझता है, तो अन्य गुरु की सेवा में जा सकता है।[3]

शिक्षक का सम्मान

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति में अतिगुरु पद का भी उल्लेख मिलता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो सामान्य गुरुओं की तुलना में अधिक श्रेष्ठ समझे जाते हैं, उनको अतिगुरु कहा गया था। प्राचीन शास्त्रकारों के आचार्य को अतिगुरु भी कहा है। भारतीय समाज में माता को प्रथम गुरु, पिता को द्वितीय गुरु और आचार्य को अंतिम गुरु माना गया है। अतिगुरु तीन हैं- माता, पिता और आचार्य।[4]

प्राचीन समय में अध्यापक को उच्च सम्मान दिया जाता था। वेदों की पढ़ाई उस समय मौखिक होती थी। उनके स्वरोच्चारण पर बड़ा ध्यान रखा जाता था। जो ठीक ढंग से योग्य गुरु से ही सीखे जा सकते थे। उपनिषद् काल में रहस्यवादी दर्शन के चिंतन से गुरु की[5] महिमा और बढ़ गई क्योंकि मुक्ति के लिए मार्गदर्शन उस पर ही निर्भर था।

उपनिषद् काल मे देश में रहस्यवादी दर्शन का जन्म हुआ। उपनिषदों का विश्वास है कि मुक्ति का मार्ग तो गुरु ही दिखला सकता हैं। दर्शन के क्षेत्र में गुरु की महिमा बढने के साथ-साथ समाज में साधारण अध्यापकों का सम्मान भी बढ़ने लगा क्योंकि ये बिना किसी शुल्क के बंधन या लोभ के समाज की सेवा करते थे। उस युग में पुस्तकें मंहगी और दुर्लभ थीं। इसलिए उस काल के विद्यार्थी आज की अपेक्षा अपने गुरुओं पर अधिक निर्भर रहा करते थे।[6] अतः विद्यार्थियों

---

1. गुरु समवाये भिक्षायामुत्पन्नायां यमनबद्धस्तदधीना भिक्षा।। - आ० ध० सू० I, 2,7,14
2. अन्तेवास्यन्तेवासी भवति विनिहितात्मा गुरावनैपुण्यमापद्यमानः। - वही Iए 2,8,26
3. त्रयः पुरूषस्यातिगुरवो भवन्ति। माता पिता आचार्यश्च।। -वि० स्मृ० (XXXI, 1-2)
4. क) क० उ० (11,9)
   ख) मु० उ० (I/2/3)
5. क) नैषमतिस्तर्केणापनेया प्रोक्तान्येव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। -कठो० उ० (X, 9)
   ख) तद्विज्ञानार्थ स गुरुमेवाभिगच्छेत्सामित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् - मु० उ० (I,12)
6. पुस्तकं प्रत्याधीतंनाधीतं गुरू सन्निधौ।
   भ्राजते न सभा मध्ये जारगर्भइव स्त्रियाः। -परा० स्मृ० (XIII, 8)

के मन पर गुरु के गुण कीर्तन का बड़ा प्रभाव बाल्यावस्था में सुचारू रूप से हमेशा पड़ता है। इसलिए अध्यापक का सम्मान होता था।

वेदों के अनुसार गुरु ही परमधर्म है, गुरु ही परमगति हैं। एक अक्षर के ज्ञानदाता गुरु को भी जो आद्रित नहीं करता, उनका पढ़ा हुआ, उनकी तपस्या, उनका ज्ञान धीरे-धीरे ऐसे ही क्षीण होकर समाप्त हो जाता है, जैसे कच्चे घड़े से जल। जिसकी देवताओं में परमभक्ति होती है तथा जैसे देवताओं में वैसे ही गुरु में होती है, वह ब्रह्मज्ञानी परमपद की प्राप्ति करता है, ऐसा वेदानुशासन है, वेद की आज्ञा है।[1]

शिक्षकों की योग्यता और उनका सम्मान

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति का अध्ययन करते हुए यह जानना आवश्यक हैं कि प्राचीन काल में शिक्षक के लिए किन योग्यताओं को अनिवार्य समझा गया था तथा समाज में उनको किस प्रकार का सम्मान प्राप्त था।

प्राचीन भारतीय-शिक्षा पद्धति में शिक्षाविदों ने शिक्षक की योग्यता पर विशेष बल दिया था। 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में अध्यापक की योग्यता पर निम्न प्रकार से उपदेश हैं।

"यदि कोई विद्वान अध्यापक बनना चाहता है, तो उसको प्रथम तो स्वीकृत पाठ्यक्रम का भली प्रकार से अध्ययन करना चाहिये और दूसरे ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर ब्रह्मचारी के सब नियमों का पालन करना चाहिये।[2]

'प्रश्नोपनिषद्' के अनुसार शिक्षक का ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्मनिष्ठ होना आवश्यक है।[3]

शिक्षक की योग्यता का विस्तृत विवरण प्राचीन साहित्य में है। आचार्य और गुरु को अपने विषय का प्रकांड पंडित होना चाहिए। "आपस्तम्ब धर्मसूत्र" के अनुसार शिक्षक अपने विषय का प्रकांड पंडित होता हैं। वह वंशपरंपरागत होता है और धर्म के पालन को अपना कर्त्तव्य समझता है।[4] आचार्य केवल एक विषय ही नहीं अपितु अनेक विषयों का पंडित होता है। ज्ञान के अभिलाषी छात्र उसको घेरे रहते हैं। विषय का ज्ञान होने के साथ ही यह भी आवश्यक है। कि शिक्षक अपने विषय का प्रतिपादन करने में तथा छात्रों को समझने में समर्थ हो। गुरु की वाणी उपदेश देने में कुशल होती है।

---

1. एकाक्षर प्रदातारं नाभिनदति। तस्य श्रुत तपो ज्ञान स्त्रवत्यामघटाम्बुयत्।।
   यस्त देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। सब्रह्मवित्परं प्रयादिति वेदानुशासनम्।।
   -शट० उ० (39-40 श्लोक)
   15 अध्याय
2. ऋ०प्राति०
3. ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति
   नेह समित्पाणयों भगवन्तं पिप्लादमुपसन्नाः। - प्र० उ० (1, 1)
   1,1,1,12-17
4. आ० ध० स०

आचार्य तथा शिक्षक के नैतिक गुणों को भी बहुत महत्व दिया गया था। उसको अल्पवक्ता, धैर्यशाली, विद्या में पारंगत, दयालु, आस्तिक, पवित्र आचरण वाला, स्वाध्यायशील और जितेंद्रिय होना चाहिये। आचार्य के लक्षण हैं-यशील और जितेंद्रिय होना चाहिये।[1] आचार्य के लक्षण हैं वृद्ध, लोभरहित, दंभ न करने वाला, विनम्र और मृदुस्वभाव।

आचार्य को पक्षपात से रहित होना चाहिये। उसे चाहिये कि सब शिष्यों को समान भाव और दृष्टि से देखे। सबको समान रूप से विद्या प्रदान करे। अनुशासन के प्रति आचार्य सावधान रहता है। यह ऐहलौकिक और पारलौकिक परंपराओं के विरूद्ध कार्य करने से अपने शिष्यों को रोकता है। शिष्यों की योग्यता को देखकर उसे प्रयत्न होना चाहिय। परन्तु गलत मार्ग पर चलने वाले शिष्य पर अंकुश रखना आचार्य का कर्त्तव्य है।[2]

गुरु का आदर और सम्मान

समाज में गुरु को सबसे अधिक आदर और सम्मान दिया गया था। उसको साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश और परम ब्रह्म माना गया था।[3] गुरु का स्थान पिता से भी ऊपर है। पिता तो मनुष्य के भौतिक शरीर को उत्पन्न करता है परन्तु आचार्य उसको बुद्धि (ज्ञान) प्रदान करता है। अतः वह गुरु कहलाता है।[4]

राजा भी गुरुजनों का आदर करते थे। उनके आदेश का उल्लंघन नहीं किया जा सकता था। यदि कोई आचार्य किसी ऊंचे प्रशासनिक पद पर पहुंचता था, तो भी अपने अध्यापन के कार्य को नहीं छोडता था। प्राचीन काल में कौटिल्य (चाणक्य) को ऐसा ही स्थान और चरित्र था। 'मुद्राराक्षस' नाटक में कौटिल्य के इसी प्रकार के चरित्र का वर्णन है। वे मौर्य साम्राज्य के प्रतिष्ठापक थे और सम्राट चन्द्रगुप्त के महामंत्री थे। महामंत्री के पद पर रहते हुए भी उन्होंने राजकीय वैभव को स्वीकार नहीं किया। वे अपनी वर्णकुटीर में छात्रों को नियमित रूप से पढ़ाते भी रहे। उनके वैभव का वर्णन विशाखदत्त ने निम्न प्रकार से किया है।[5] राजाओं

---

1. वृद्धाश्चाऽलोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदाम्भिकाः।
   सम्यग्विनीताः मृद वस्तानाचार्यान् प्रचक्षते।। -म० पु० 145, 29
2. भा० प्रा० शि० प० - अ० स० अल्तेकर पृ० 55-56
3. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुगुरुर्देवो महेश्वरः।
   गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।। -रामा० 113,3
4. पिता ह्येनं जनयति पुरूषं पुरुषर्षभ।
   प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुरूच्यते।। -वही 113,3
5. मुद्रश० (III. 15)

के भी अधिराज महामंत्री की यह विभूति है।

"यह उपलों को फोड़ने वाला पत्थर का टुकडा है यह विद्यार्थियों द्वारा लाया गया कुशाओं का ढेर है, यह सूखती हुई समिधाओं के ढेर से झुकी हुई छत के किनारों वाला पुरानी दीवारों का घर भी दिखाई दे रहा है।"

भवभूति ने राम को शिक्षा देने वाले आचार्य विश्वामित्र के गुणों का वर्णन किया है।[1]

वे मानों चतुर्थ अग्नि, पंचम वेद, गतिशील धर्म और सभी विद्याओं के निधान है।, उनसे वार्ता करने पर तमोगुण का विनाश होकर अन्तःकरण को शान्ति मिलती है। प्रसन्नचित्त होकर वे जो कुछ कहते हैं, वह सत्य हो जाता है। वह अनंत फल को देने वाला है।"

गुरुजन शास्त्रों का नीति की और लोक-व्यवहार का उपदेश देते हैं। उनका आदेश पालनीय होता है। गुरु के अपमान को सहन नहीं किया जा सकता। गुरुका निरादर करना महान् पाप है। गुरुद्रोही की निन्दा की गई है। जो गुरुजनों की निंदा करते हैं या उनको अपमानित करते हैं, उनका हृदय लज्जा से फट जाना चाहिये।[2]

आचार्य की योग्यता

यहां गुरु अथवा आचार्य की योग्यता कही है आचार्य ऐसा होना चाहिए, जिसमें स्मरणशक्ति तथा बुद्धि की धारण उत्तम हो, जो वेद में वर्णित परमेश्वर की भक्ति करने वाला हो। वेद का ज्ञाता और वेदमंत्रों का प्रवचन करने वाला हो।

इसी प्रकार यहां आचार्य कहता है कि मेरा शरीर कार्य करने की शक्ति से युक्त हो, निरोग, ओजस्वी, तेजस्वी और बलवान हो, आलस्यरहित हो, सदा स्फूर्ति से कार्य करने का सामर्थ्य मुझमें हो। अतः आचार्य की वाणी बड़ी मीठी होनी चाहिए, कड़वी या तीखी नहीं। अगर वेद मंत्रों का प्रवचन करना हो अथवा सर्वसाधारण बातचीत करनी हो तो उस समय मनुष्य की वाणी मधुर, स्नेहमयी और प्रेमपूर्ण रहनी चाहिए।[3] ऐसे श्रेष्ठ आचार्य ही शिष्यों में ज्ञान का प्रसार कर सकते हैं।

आचार्य का जीवन छात्रों के लिए आदर्श है। समाज में अध्यापक की बड़ी प्रतिष्ठा है। इसलिए उससे अनेक गुणों की अपेक्षा की जाती है। अध्यापक को शान्त स्वभाव का होना चाहिए उसे किसी भी छात्र का पक्षपात नहीं करना

1. महा० च० 1, 10-12
2. ये सत्यमेव हि गुरुनतिपातयन्ति। III. 33
तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा।। - मुद्रा० (5 अनु)
3. तै० उ०

चाहिए। उसे अपने शास्त्र में पारंगत होना चाहिए। उसे स्वाध्याय न छोड़ना चाहिए। उसे वाक्चतुर, वक्ता, प्रत्युत्पन्नभति, तार्किक, रोचक कथाओं का ज्ञाता तथा कठिन से कठिन पुस्तकों का तत्काल अर्थ कर देने वाला होना चाहिए।[1]

अध्यापक उच्च चरित्रवाला आदर्श व्यक्ति होता था। वह शान्त स्वभाव का और निष्पक्ष तथा अपने विषय में पारंगत होता था। साथ ही जीवन पर्यन्त स्वाध्याय अनवरत रखता था। उसे वाक्चतुर, वक्ता, प्रत्युत्पन्नमति, तार्किक, रोचक कथाओं का ज्ञाता तथा कठिन से कठिन पुस्तकों का तत्काल अर्थ कर देने वाला होना आवश्यक था।[2] आचार्य को विद्वान ही नहीं अपितु पटु अध्यापक भी होना चाहिए[3] तथा उसे अपनी पवित्रता, चरित्र, विद्वता और सदाचारी जीवन द्वारा विद्यार्थियों पर स्थायी प्रभाव डालना पड़ता था।

प्राचीन समय में स्नातकों को अध्यापक के योग्य बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा आवश्यक नहीं समझी जाती थी। शिक्षक विद्यार्थियों को पढ़ाते समय हर एक को पृथक्-पृथक् शिक्षा देते थे। अपने अध्ययन काल में ही विद्यार्थियों को शास्त्रार्थों की कठिन अग्नि परीक्षा में सम्मिलित होना पड़ता था, जहां उन्हें अपर पक्ष का, विद्वतापूर्ण खंडन तथा स्वपक्ष का मंडन करना पड़ता था। अतः अध्ययन की समाप्ति तक उनकी तर्क और वादविवाद की शक्तियां विशेष रूप से पुष्ट हो जाती थीं। ज्येष्ठ और योग्य विद्यार्थियों को नये छात्रों को पढ़ाने का अवसर भी दिया जाता था।[4]

प्राचीन काल में शिक्षक प्रशिक्षण– प्राचीन भारत में शिक्षा केवल उच्च वर्गों के व्यक्तियों तक ही सीमित थी। शिक्षकों के पास कम मात्रा में छात्र होने के कारण छात्रों की देखरेख उन्हीं शिक्षकों के अनुसार ही होती थी। कुछ शिक्षकों की ख्याति एंव कुशलता के कारण उनके पास ज्ञानार्जन के लिए इतने अधिक छात्र आते थे कि उनके लिए प्रत्येक छात्र का व्यक्तिगत रूप से निर्देशन करना असम्भव था। अतः वे शिक्षण कार्य के छात्रों की सहायता एवं सहयोग प्राप्त करते थे डा० श्रीधरनाथ मुखोपध्याय ने इस विषय मे लिखा है कि "आचार्य या गुरु सबसे ऊपर के वर्गों के छात्रों को पढ़ाते थे। ये विद्यार्थी अपने से निम्न वर्ग के छात्रों को सिखाते थे और वे अपने से नीचे वालों को भी।"[5]

1. प्रवृत्तवाक् चित्रकथः ऊहवान् प्रतिभानवान्।
   आशु ग्रंथस्य वक्ता च यः स पंडित उच्चते।। –म० भा० (XXXXXV,33)
2. प्रवृत्तवाक् चित्रकथः ऊहवान् प्रतिभानवान्।
   आशु ग्रंथस्य वक्ता च यः स पंडित उच्चते।। –म० भा० V/33/33
3. मालवि० प्रथमांक
4. क) प्रा० भा० सा० आ० सं० –डॉ० कैलाशचन्द्र जैन पृ० 167
   ख) प्रा० भा० शि० प० –डॉ० अ० स० अल्तेकर पृ० 39-40
5. भा० शि० इति० (आधुनिक काल) –श्रीधर मुखोपाध्याय पृ० 41

उच्च कक्षाओं में अग्रिम छात्रों या नायकों (Monitors) द्वारा निम्न कक्षाओं के छात्रों या नायकों की यह प्रणाली "कक्षा नायकीय पद्धति" (Monitorial system) कहलाती थी, इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में शिक्षक प्रशिक्षण में सैद्धान्तिक ज्ञान का कोई स्थान नहीं था। इसके विपरीत, उसमें व्यावहारिक शिक्षण (Practical Teaching) की प्रधानता थी और करके सीखना (learning by Doing) विधि को अपनाया जाता[1] था। प्राचीन भारत में इसी को शिक्षक प्रशिक्षण का अप्रत्यक्ष आरम्भ माना जाता है।

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति का यह एक प्रमुख बिंदु हैं कि शिक्षक को किस वर्ण का होना चाहिये। आर्यो की वर्ण-व्यवस्था में अध्यापन ब्राह्मण का कार्य हैं।[2] सामान्यतः ब्राह्मण ही अध्यापक होते थे। दूसरे शब्दों में कहा जावे तो जो अध्यापन करता था। वह ब्राह्मण होता था। डॉ॰ वेदमित्र के इस संबंध में डॉ॰ महेन्द्रप्रताप का कथन है।

"ब्राह्मण केवल ब्रह्मविद्या और दर्शन के ही शिक्षक नहीं थे, अपितु वे राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, युद्धविद्या, राज्य का संचालन, ललित कलाओं एवं अन्य क्रियात्मक विषयों का भी अध्यापन करते थे"[3]

प्राचीन ग्रंथों में परशुराम, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि ब्राह्मण शिक्षकों का वर्णन मिलता है, जो युद्धविद्या और शस्त्रसंचालन की शिक्षा के प्रसिद्ध आचार्य थे। अपने क्षत्रिय शिष्यों को उन्होंने ये विद्यायें सिखाई। भीष्म, कर्ण, पांडवों और कौरवों ने ब्राह्मण गुरुओं से युद्धविद्या सीखी थी। द्रोण और द्रुपद ने भी, जो क्रमशः ब्राह्मण और क्षत्रिय थे, अग्निवेश के गुरुकुल में ब्राह्मण गुरुओं से युद्धविद्या सीखी थी।

कालांतर में जबकि वर्णव्यवस्था जन्म के साथ ही अधिक रूढ़ हो गई, ब्राह्मण का संबंध केवल वेद आदि शास्त्रों के साथ जुड़ गया। वेदों का अध्यापन केवल ब्रह्मण ही कर सकता था। हारीत[4] और मनु[5] ने कहा कि वेदों के अध्यापन का अधिकार केवल ब्राह्मण को है। ब्राह्मण ही वेदों का अध्यापन कर सकता है,

---

1. भा॰ शि॰ स॰ स॰ - त्यागी एवं पाठक पृ॰ 144
2. अध्यापनं चाध्ययनं यजनं याजनं तथा।
   दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।। - म॰ स्मृ॰ I, 87
3. एजु॰ इ॰ ए॰ इ॰ - वेदमित्र पृ॰ 42
4. अध्यापनं चाध्ययनं याजनं यजनं तथा।
   दानं प्रतिग्रहश्चैति षट्कर्माणीति प्रोच्यते। - हा॰ स्मृ॰ (I, 18)
5. ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः।
   राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत् कर्म विधीयते। - म॰ स्मृ॰ (II, 190)

क्षत्रिय नहीं।[1] अन्य वर्ग वेदों का अध्ययन कर सकते हैं,[2] परन्तु अध्यापन नहीं कर सकते। अलबरूनी ने अपने यात्रा विवरणों में लिखा है।

"क्षत्रिय को ब्राह्मण वेद पढ़ाते है। क्षत्रिय वेद को पढ़ तो सकते हैं। परन्तु पढ़ा नहीं सकते। वे ब्राह्मण को भी वेद पढ़ा नहीं सकते।" परन्तु ऐसा नहीं लगता कि सदा से ऐसी स्थिति रही होगी।[3] धर्मशास्त्रों में यद्यपि ब्राह्मण को ही आचार्य बनने का अधिकार दिया गया था, तथापि आपत्ति काल में ब्राह्मणेतर को भी आचार्य बनाया जा सकता था।[4] आपत्ति काल में क्षत्रिय और वैश्य शिक्षकों से ब्राह्मण अध्ययन कर सकते थे।[5] परन्तु इसके साथ शास्त्रकारों का यह भी निर्देश है कि यदि कोई ब्राह्मण छात्र ब्राह्मणेतर अध्यापक से विद्याध्ययन करता है तो उसे अपने शिक्षक को उचित आदर तथा सम्मान देना चाहिए। जब तक विद्याध्ययन होता रहे, उसका अनुगमन करना चाहिये तथा उसकी सेवा करनी चाहिये।[6]

प्राचीन भारत के शिक्षणालयों में समाज के सभी वर्णो को समान रूप से विद्याध्ययन का अधिकार था और वे सभी प्रकार की विद्याओं का अध्ययन करते थे। क्षत्रिय और वैश्य भी वेदों का अध्ययन करते थे। अतः वे अवश्य ही इस विद्या में पारगंत रहे होंगे। उनकी विद्वत्ता और प्रतिभा के कारण उस युग को मनीषियों ने कहा कि आपत्ति काल में वे भी वेदों के अध्यापक हो सकते हैं। तथापि ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात के कारण उनके आपत्काल में ही वेदों के अध्यापन का अधिककार दिया गया।[7]

ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों में अनेक क्षत्रिय राजाओं–जनक, अजातशत्रु, अश्वपति का उल्लेख हैं, जिन्होंने ब्राह्मणों को भी ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। कारक संहिता में इस प्रकार के कर्मकाण्डों का उपदेश है, जिनकों करके ब्राह्मणेतर भी वेदों के अध्यापक के रूप में उचित सम्मान और प्रभाव प्राप्त कर सकते हैं। उपनिषदों के युग में अनेक क्षत्रिय विद्वानों ने भारतीय दर्शनों के विकास में योग दिया था। वे अनेक रहस्यमयी विद्याओं के ज्ञाता थे। ब्राह्मण भी उनसे उन विद्याओं को बिना कठिनाई के सीख सकते थे।[8] अश्वपति, चरक, प्रवाहण आदि क्षत्रिय विद्वानों

---

1. अधीयींस्त्रयों वर्णाः स्वकर्मस्थाः द्विजातयः।
   प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः।। - वही (X, I)
2. एजुकेशन एन एंशिएंट इण्डिया। - वेदमित्र पृ० 143
3. ब्राह्मण आचार्यः स्मर्यते तु।। - आ० ध० सू० (II, 2. IV, 24)
4. आपदि ब्राह्मव्येन राजन्ये वैश्ये चाध्ययनम्।। - वही II, 2. IV, 25
5. आपत्कल्पों ब्राह्मणस्याऽब्राह्मणाद् विद्योपयोगः।। - गौ० ध० सू० I, 1
6. अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते। अनुब्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः।- म० स्मृ० II, 14
7. भा० प्रा० शि० प० - अ० स० अल्तेकर पृ० 57
8. क) छा० उ० V, 3,7
   ख) बृ० उ० II , 1,5

ने अनेक ब्राह्मण छात्रों को दर्शन और धर्म का उपदेश दिया था। इस संबंध में सत्यकाम जाबालि का उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है। एक शूद्रा (जबाला) का पुत्र होते हुए भी वह वेद वेदांग का अध्ययन करने का अधिकारी हुआ। वह ब्रह्मविद्या का प्रसिद्ध आचार्य हुआ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ब्राह्मण अध्यापक न कवेल ब्रह्मविद्या, वेद, दर्शन, धर्म आदि का ही अध्यापन करते थे, वे अन्य विद्याओं को भी पढ़ाते थे। पांडवों और कौरवों ने द्रोणाचार्य और कृपाचार्य से धनुविद्या का अध्ययन किया था। विश्वामित्र और वसिष्ठ ने राम को शस्त्र-संचालन सिखाया था। जातक साहित्य के अनुसार तक्षशिला विश्वविद्यालय के ब्राह्मण आचार्य अनेक विद्याओं का अध्यापन करते थे। इन विद्याओं में चिकित्सा, शल्यक्रिया, वनस्पतिविज्ञान, सर्पविद्या, राजनीति, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद, संगीतशास्त्र आदि सम्मिलित थे। इन आचार्यों के शिष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी वर्णों के थे। मनु का कथन है कि अब्राह्मण अध्यापक हाथी, ऊंट गौ, अश्व, नक्षत्र, पक्षी, युद्ध आदि सभी[1] विद्याओं का आचार्य हो सकता है परन्तु वह श्राद्धकर्म में भाग नहीं ले सकता

अध्यापक के कर्त्तव्य

हिंदू और बौद्ध दोनों सम्प्रदायों[2] के विचारकों ने गुरु और शिष्य के बीच पिता-पुत्र के संबंध की कल्पना की हैं। अतः अध्यापन के अतिरिक्त आचार्य के और भी कर्त्तव्य हो जाते हैं। उसे शिष्य का मानस पिता माना[3] गया अतः नैतिक दृष्टि से शिष्य के समस्य दोषों का उत्तरदायित्व उस पर था। शिष्य के चरित्र पर सर्वदा ध्यान रखना उसका कर्त्तव्य था आचार्य अपने शिष्य को यह भी बतलाया है कि उसे किन स्थानों में जाना चाहिए कौन सी आदतें छोड़नी चाहिए। कौन सी आदतें डालनी चाहिए। अतः अपना स्वाध्याय ठीक करने के लिए उसे कैसे सोना चाहिए, क्या खाना चाहिए यदि शिष्य निर्धन मिले तो स्थानीय प्रतिष्ठित और सम्पन्न नागरिकों से मिलजुल कर उसके लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्था भी उसे ही करनी चाहिए। छात्रों के भोजन वस्त्र का प्रबंध अध्यापक ही करते। छात्र की रूग्नावस्था में पिता[4] की भांति उसकी चिकित्सा और शुश्रूषा का भार भी उसे ही वहन करना पड़ता।

"लोकों मे मैं यश प्राप्त करूं, धन भी कमाऊं और मुझे श्रेय भी मिलें।" सहस्र प्रकार का धन मुझे प्राप्त हो। मैं शुद्ध होकर धन में निवास करूं। अर्थात् मेरे चरों और पर्याप्त धन रहे, धन की न्यूनता किसी तरह न हो। मेरे पास ज्ञान सीखने के लिए ब्रह्माचारी आएं। जैसे जल प्रवाह चलते हैं और जैसे दिन एक के पीछे एक[5] आते हैं, वैसे ब्रह्मचारी मेरे पास आते रहें और ज्ञान सीखते रहें। मेरा संरक्षण हो।

---

1. हस्तिगोऽश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति। पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव-च ।।- म०स्मृ० (III, 162)
   - आ० ध० सू० (I, 2,8)
2. पुत्रमिवैनमभिकांक्षन्। - पंच० I, 21
3. अतीत्य बंधूनवलंहय शिष्यानाचार्य मा गच्छति शिष्य दोषः।
   - डॉ० अ० स० अल्तेकर पृ० 42
4. प्रा० भा० शि० प० पृ० 74-75
5. तै० उ० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

आचार्य का कर्त्तव्य था कि वह विद्यार्थी को वेद की शिक्षा के साथ आचार की शिक्षा दे।[1] आचार्य छात्र के भोजन की व्यवस्था करता था और छात्र को पुत्रवत् मानता था।[2] यदि विद्यार्थी गुरु को छोड़ता था तो वह उसको कठोर दण्ड देता था। कठोर दण्ड में वध (कठोर ताड़ना) और बन्ध (रस्सी आदि से बांधकर रखना) का भी विधान था।[3] विद्यार्थी के वस्त्रादि की व्यवस्था करना भी गुरु का कार्य था।[4]

शिक्षकों का पारिश्रमिक

प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति में शिक्षकों का कोई विशेष वेतन या पारिश्रमिक नहीं था। शिक्षक प्रायः पुरोहित ही होते थे। उनको उपहार में धनराशि प्राप्त होती ही रहती थी। इनकी आय के साधन थे- त्यौहारों, धार्मिक-कर्मकांडों और यज्ञों के अवसरों पर प्राप्त उपहार तथा शिष्यों द्वारा दी गई गुरु-दक्षिणा। आय के इन सब साधनों में देने वाले की कोई अनिवार्यता नहीं थी। भक्तजन और शिष्यगण स्वेच्छा से जो दे दें वही पुरोहित या शिक्षक की आय थी।[5]

प्राचीन धर्मशास्त्रों में निर्देश है कि शिष्य द्वारा गुरु के लिए गुरु-दक्षिणा दी जावे। "गौतम धर्मसूत्र" में विधान है कि शिष्य जब गुरुकुल से जाने लगे तो गुरु-दक्षिणा में गुरु के लिए धन प्रदान करे।[6] परन्तु आपित्तकाल में गुरु को अनुमति थी कि वह यज्ञ करावे, अध्यापन करे और चारों वर्णो से यथासंभव धन प्राप्त करें।[7]

छात्र का यह धार्मिक कर्त्तव्य था कि वह विविध विद्याओं को प्राप्त करके अपनी क्षमता के अनुसार गुरु दक्षिण दे।[8] परन्तु आपत्ति काल में गुरु अपने उग्र और शूद्र शिष्य से भी गुरु दक्षिणा ले सकता है।[9]

भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति में शिक्षा का कार्य परम पवित्र और पुण्य देनेवाला समझा जाता था। इसके लिए धन की मांग करना पापा माना जाता था। कालिदास लिखते हैं।

---

1 म० स्मृ० (II, 171)

2. आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहाद् दत्त भोजनम्।
नात्रान्यत् कारयेत् कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत्।। - ना० स्मृ० (V, 16)

3. शिक्षयन्तमदुष्टं च, य आचार्य परित्यजेत्।
बलाद् वासयितव्यः स्याद् वधबन्धौ च सोऽर्हति - वही (V, 17)

4. ऋत्विग्भिर्ब्राह्मणैः शिष्यमभिषिच्याऽथ देशिकः।
कौपीनं कटिसूत्रं च तथा वस्त्रं च धारयेत्।। - बृ० हा० स्मृ० (VII, 240)

5. भा० प्रा० शि० प० - कृष्णकुमार पृ०52

6. विद्यान्ते गुरुरर्थेन निमन्त्रयः।। - गौ० ध० सू० (II, 15)

7. याजनाध्यापनप्रतिग्रहास्सर्वेषु ।। - वही (VII, 4)

8. कृत्वा विद्यां यावतीं शक्नुयाद् वेद दक्षिणामाहरेद् धर्मतो यथाशक्ति।। आ० ध० सू० (1,2,7,19)

9. विषमगतेत्वाचार्य उग्रतः शूद्रतो वा हरेत् - आ० ध० सू० (1.2.7.20)

"जिसने शास्त्रों का अध्ययन केवल जीविका के लिए किया है, उसको ज्ञानरूपी पुण्य को बेचने वाला वणिक् कहते हैं।"[1]

"विष्णु स्मृति में वेतन लेकर अध्यापन करने की निंदा की गई है तथा इसकी गणना उपपातकों में हैं।"[2] यह जानना रोचक होगा कि जिस समय भारतवर्ष में विद्या के अध्यापन के लिए ऋषियों ने वेतन लेने या शुल्क के लिए मोल भाव की निंदा की थी, उस समय ग्रीस देश में भी शिक्षा के लिए फीस लेना निंदास्पद माना गया था। सुकरात और प्लेटो कोई फीस नहीं लेते थे। सबसे पहले सोफेस्टो ने फीस लेकर कोई विषय पढ़ाना प्रारम्भ किया था। प्रारंभ में जनता ने इस प्रथा की निंदा की। परन्तु शोघ्र ही तीसरी शताब्दी ईसवी में सभी संस्थाअें ने फीस लेना आरंभ कर दिया। प्लेटों के शिष्य स्पेन्सियस ने अपने शिष्यों से फीस लेना प्रारंभ कर दिया था। लूथर का कहना था कि ईमानदारी से विद्यार्थियों को शिक्षा देने वाले अध्यापक के पारिश्रमिक का बदला नहीं हो सकता। उसके ऋण को धन से चुकाया नहीं जा सकता।[3]

शिक्षा के लिए शुल्क के निर्धारित न होने पर भी अध्यापक के जीवन निर्वाह का प्रबंध तो होना ही चाहिए। इसके लिए मनीषियों ने सामान्यतः व्यवस्था कर दी थी कि विद्याध्ययन के अनंतर समावर्तन संस्कार के समय शिष्यगण अपने गुरु के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुसार गुरु दक्षिणा अर्पित करें। इस तथ्य से स्पष्ट प्रमणित है कि राज्य की ओर से शिक्षण संस्थाओं को प्रचुर धन प्राप्त होता था, जिससे कि वहां के अध्यापक जीवन निर्वाह की चिंताओं से मुक्त होकर अध्यापन के कार्य को सुचारु रूप से निष्पन्न कर सकें।

विद्याध्ययन के अनंतर छात्र प्रायः अपने गुरूजनों के लिए गुरु दक्षिण अपिर्त करते थे। जनक ने याज्ञवल्क्य के लिए गुरु दक्षिणा में एक हजार गौयें, एक हाथी और एक बैल देना था। तब याज्ञवल्क्य ने कहा थाः-

"मेरे पिता ने कहा था कि शिष्य को पूर्ण रूप से विद्याध्ययन कराये बिना उससे गुरु-दक्षिणा नहीं लेनी चाहिए।[4]

प्राचीन समय में शिष्य अपने आचार्य कुल में निवास करते हुए शिक्षा ग्रहण करते थे। वे अपने गुरुजनों की सेवा में सदा निरत रहते थे। अनेक बार विद्याध्ययन

---

1. यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति। - मालवि० I, 17
2. भृतकाध्यापनम् । भृताच्चाध्ययनादादानम। - वि० स्मृ० (XVII, 18,19,26)
   देवर्षिपितृऋणानामनयां क्रिया।। - कृष्णकुमार पृ० 62-63
3. प्रा० भा० शि० प० (IV 12)
4. बृ० उ०

के अनंतर गुरुजन अपने शिष्य की सेवा को ही पर्याप्त समझ कर उसी को गुरु दक्षिणा मान लेते थे और शिष्यों को घर जाने की अनुमति दे देते थे। शिष्य के कार्यों और व्यवहार से प्राप्त प्रसन्नता ही वास्तविक गुरु दक्षिणा समझ ली जाती थी।[1] गुरुजन यह समझ लेते थे कि शिष्य इतना निर्धन है कि वह धन के रूप में गुरु-दक्षिणा नहीं दे सकता। तथापि शिष्यों का यह आग्रह रहता था कि वे कुछ न कुछ धन गुरु दक्षिणा के रूप में गुरु के लिए अवश्य दें।

अनेक बार शिष्यों के आग्रह से अप्रसन्न होकर गुरुजन ऐसी गुरु दक्षिणा मांग लेते थे, जिसका प्रबंध करना शिष्य के लिए सामान्यतः संभव नहीं होता था। तथापि गुरु के आदेश को शिष्य किसी प्रकार प्राणपण से भी अवश्य पूरा करते थे। 'महाभारत' के वर्णनों के अनुसार उत्तंक ने गुरु के आदेश से तक्षक की महारानी कर्णावती का कर्णफूल मांग कर गुरु दक्षिणा पूरी की थी। द्रोणाचार्य ने एकलव्य से उसके दायें हाथ का अंगूठा ही मांग लिया था। उन्होंने कौरवों और पांडवों से कहा था कि गुरु-दक्षिणा के रूप में वे पांचालराज को पकड़ कर उनके चरणों में उपस्थित करें। कालिदास ने 'रघुवंश' के पांवचें सर्ग में वरतन्तु कौत्स की कथा का वर्णन किया। वरतन्तु ने कौत्स से कहा- "उसकी चिरकाल की सेवा ही गुरु दक्षिणा के रूप में पर्याप्त है।"

परन्तु कौत्स के निरंतर आग्रह से कुपित होकर वरतन्तु ने गुरु दक्षिणा की यह धन राशि चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं में मांग ली।[2] निर्धन कौत्स ने इस धनराशि को सम्राट रघु से मांग कर गुरु के लिए अर्पित किया।

भारत में शिक्षा प्रदान करने के बदले में धन लेना सामान्यतः निंदित ही समझा जाता था। शिष्य से उपहार लेना निंदित नहीं था, परन्तु विद्याध्ययन के निमित्त से धनराशि को निर्धारित करके उसको लेना निंदित ही था। मनु, मेधातिथि, 'स्मृतिचन्द्रिका' आदि ग्रथों मे इसी प्रकार के वचन मिलते हैं। भारतवर्ष में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के अनंतर भी हजारों संस्कृत विद्यालयों मे विद्वान् मनीषी अध्यापक निःशुल्क ही पढ़ाते रहे हैं। आज भी संस्कृत विद्यालयों और महाविद्यालयों मे अध्यापन का कोई शुल्क छात्रों से नहीं लिया जाता इसके साथ ही उनके भोजन, वस्त्र, निवास आदि का भी निःशुल्क प्रबंध करने का प्रयत्न होता है। सैंकड़ों गुरु कुल भी इस प्रकार के प्रस्थापित हैं। जिनमें शिक्षा का शुल्क नहीं है।

---

1. दक्षिणापरितोषो वै गुरुणां सद्भिरूच्यते। म० भा० आश्वमेधि पर्व - (XXXXXVI, 21)
2. समाप्तविधेन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै स में चिरायाडस्खलितोपचारां तां भक्तिमेवाडगणयत् पुरस्तात्।। निर्बन्ध सञ्जातरूषाडर्थकार्यमचिन्तयित्वा गुरुणाडहमुतः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया में कोटिश्चतस्रो दश चाहरेति।। - रघु० V, 20-21

परन्तु वर्तमान समय में भी भारतवर्ष में ऐसे हजारों विद्वान अध्यापक हैं जो छात्रों से प्रत्यक्ष रूप से धन लेना पाप समझते हैं। वे बिना कोई शुल्क लिये छात्रों को पढाते हैं और अध्ययन सम्बन्धी निर्देश देते हैं। तथापि आज के युग में यह प्रवृत्ति कम ही होती जा रही है।[1]

शिष्य के कर्त्तव्य

मनु का कथन है कि शिष्य का प्रमुख कर्त्तव्य वेदों का अध्ययन है। शिष्य तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए एवं व्रतों का पालन करते हुए, उपनिषदों सहित सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करे।[2] द्विज वेदों का अनिवार्य रूप से अध्ययन करें। वेदों का अध्ययन ही द्विज का सर्वोत्तम् तप है। द्विज की सर्वोच्चता यही है कि वह शक्ति भर प्रतिदिन स्वाध्याय करता रहे।[3] जो द्विज होकर वेदाभ्यास को छोड़कर अन्य शास्त्रों में परिश्रम करता है। वह जीता हुआ ही अपने परिवार सहित शूद्र हो जाता है।[4] यज्ञ, तप और शुभकर्मों मे वदोध्ययन ही द्विज के लिए सर्वश्रेष्ठ मोक्ष का साधन है।[5] मनु ने विध ान किया है कि यदि चारों वेदों का अध्ययन संभव न हो तो द्विज विशेषरूप से अपने पूर्वजों की शाखा के वेद का अध्ययन करे। इस प्रकार एक वेद और उसकी शाखाओं का अध्ययन करे, संभव हो तो अन्य शाखाओं को भी पढे।[6] एक-एक वेद को पढने के लिए बारह वर्ष का समय निर्धारित किया है।[7]

राजा, माता-पिता तथा देवता की भांति गुरु का सम्मान और आदर करना उसका कर्त्तव्य माना जाता है उससे शिष्टाचार और सदाचार के नियमों के अनुकूल आचरण करने की आशा की जाती है प्रातः समय से उठकर आचार्य का अभिवादन करना, सर्वदा उनसे नीचे आसन पर बैठना, भड़कीले वस्त्र न पहनना उसका कर्त्तव्य है। इसमें गाली गलौज और चुगलखोरी की तीव्र निंदा की गई है। बुद्ध और आपरसतम्ब दोनों गुरु के प्रति उच्च सम्मान का आदेश करते हैं पर साथ ही यह भी व्यवस्था देते है किया दम्र बुराइया हों तो शिष्य उनकी ओर एकान्त में गुरु

---

1. प्रा॰ भा॰ शि॰ प॰ — कृष्णकुमार पृ॰ 55
2. तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितै।
   वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना।। -म॰ स्मृ॰ (II, 165)
   (II, 166-167)
3. म॰ स्मृ॰
4. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरूते श्रमम्।
   स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।। - वही (II, 168)
5. यज्ञानां तपसां चैव, शुभानां चैव कर्मणाम्।
   वेद एवं द्विजातीनां, निःश्रेयसकरः परः।। - याज्ञ॰ स्मृ॰ (I, 40)
6. वेदानधीत्य वेदौ वा, वेदं बाऽपि यथाक्रमम्।
   अविप्लुत ब्रह्मचर्यो, गृहस्थाश्रममावसेत्।।, - म॰ स्मृ॰ (III, 2)
   - गौ॰ स्मृ॰ (II, 51)
7. क) द्वादशवर्षाव्येकवेदे ब्रह्मचर्य्यं चरेत्॰।।
   ख) याज्ञ॰ स्मृ॰

का ध्यान आकर्षित करे तथा यदि उसकी दृष्टि बुरे कार्यों में लग गयी हो तो शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह आचार्य को बुरे रास्ते पर जाने से रोके। यदि आचार्य धर्माचरण[1] से च्युत हो जाए तो शिष्य उसकी आज्ञा मानने या न मानने के लिए स्वतंत्र है। आचार्य को इस बात का भी अधिकार नहीं है कि वह शिष्य को कोई आज्ञा दे जिसके पालन से उसका जीवन खतरे में पड़ जाए या जो धर्म या देश के विधान के प्रतिकूल हो।

'मेरा शरीर कर्त्तव्य कर्म करने में समर्थ हो। मेरी जिह्वा मीठी हो, मेरा भाषण मधुर हो। मैं कानों से बहुत उपदेश सुनूं और अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करूं।[2] यह इच्छा प्रत्येक शिष्य में होनी चाहिए जो यहां कहा गया और है वह सत्य है कि यदि विद्यार्थी का शरीर कर्म करने के लिए जैसा चाहिए वैसा सुदृढ कार्यक्षम न रहा, तो उससे कुछ भी नहीं हो सकेगा। इसलिए विद्यार्थी के लिए यह उचित है कि वह अपने शरी को कार्यक्षम करने के लिए सूर्य नमस्कार, आसन आदि व्यायाम और अपना शरीर फूर्तिला रखे। शिष्य की वाणी मीठी होनी चाहिए। यदि कटु हुई तो नाना प्रकार के झगड़े उत्पन्न होते हैं। मीठे शब्द प्रेम बढ़ाते हैं। इसलिए अपना भाषण मीठा करना प्रत्येक का कर्त्तव्य है। प्रयत्न से यह साध्य होने वाली बात है। कटु शब्द का प्रयोग और गाली का उपयोग मैं नहीं करूंगा। कठोर आवाज में मैं नहीं बोलूंगा, मैं प्रेम पूर्ण वचन ही बोलूगा, ऐसा निश्चय करना हर एक को उचित हैं कानों से मैं सदुप्रदेश सुनूं। ऐसा निश्चय करके जहां अच्छा उपेदश सुनने के लिए मिले वहीं पर जाऊं। मैं अपने पास उत्तम ज्ञान का संग्रह[3] करूं। जिन अच्छे ग्रन्थों को पढ़ने से उत्तम ज्ञान मिले वैसे सद्ग्रन्थों को मैं पढ़ूं।

जिस प्रकार कोई पुत्र पिता की, दास की, अपने स्वामी की सेवा करता है, उसी प्रकार बौद्धविहारों और हिन्दू गुरुकुलों के छात्रों का अपने आचार्य को प्रतिदिन सेवा करना कर्त्तव्य माना गया है। आचार्य को प्रतिदिन समय से जल, दातौन पहुंचाना, उनका आसन उठाना, स्नान के लिए जल की व्यवस्था करना शिष्य का कर्त्तव्य माना गया है। अतः आवश्यकता पडने पर उसे आचार्य के बर्तन और वस्त्र भी साफ करने पडते हैं प्राचीन[4] काल में लोगों का विश्वास था कि बिना गुरुसेवा के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती हैं।

---

1. क) आचार्यधीनो भवति अन्यत्राधर्माचरणात्।
   गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।। - गो॰ ध॰ सू॰ (III,1,15)
   ख) उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम्।। - म॰ भा॰ (1,140,58)
2. मे शरीरं विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम।। - तै॰ उ॰ पृ॰ 73-74
3. क) गुरु शुश्रूषया ज्ञानं शान्ति योगेन विन्दति। - म॰ भा॰ (V, 36,52)
   ख) म॰ स्मृ॰ (II, 200) ग) चरक संहिता - (XIII,4)
4) क) प्रा॰ भा॰ स॰ आ॰ सं॰ - कैलाशचन्द्र जैन पृ॰ 169
   ख) माता पिता गुरुश्चैव पूजनीयाः सदा नृणाम। क्रियास्तस्याफलाः सर्वा यस्यैते नाहतास्त्रयः।। शंख स्मृ॰ (III,3)

अतः चार आश्रमों का वर्णन करते हुए ब्रह्मचारी आश्रमों को भी चार प्रकार का बताया गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य विद्या ग्रहण करता है। इस प्रकार विद्यार्थी चार प्रकार के हो जाते हैं[1]

गुरु सेवा की भी एक सीमा निर्धारित की गई थी। छात्रों को कोई ऐसा काम नहीं सौंपा जाता था जिससे कि उनके अध्यापन में कोई बाधा पहुंचे। जो विद्यार्थी शिक्षा शुल्क देते थे उन्हें नाममात्र को ही ये कार्य करने पडते थे। गरीबी के कारण किसी भी विद्यार्थी को पढाने से इन्कार नहीं किया जा सकता था। केवल सेवा के लिए निर्धन विद्यार्थियों को आचार्य अपना शिष्यत्व प्रदान कर देते थे। अतः गुरुसेवा का कर्त्तव्य विशेषतया उन्हीं बालकों पर लागू था जो अध्ययन शुल्क न देते थे। जातकों से मालूम होता है कि तक्षशिला में जो छात्र गुरु-दक्षिणा अग्रिम चुका देते थे आचार्य के घरों में वह उनके ज्येष्ठ पुत्रों की भांति रहते थे। ऐसे छात्रों से गृहस्थी का कोई काम न लिया जाता था। इस प्रकार समावर्त्तन के अनन्तर किसी भी छात्र से किसी प्रकार की सेवा लेने का अधिकार आचार्य को न था। परस्पर पठन-पाठन करने वाले अध्यापको में भी कोई एक दूसरे की सेवा न करता था।[2]

शिष्य के लिए अंतिम उपदेश यह दिया है कि "सत्यपालन कर, धर्माचरण कर, स्वाध्याय कर, अपने अभ्युदय के लिए प्रयत्न कर, सुप्रजा निर्माण कर, ऐसे उत्तम उपदेश हैं, अतः संतति का धागा टूटना नहीं चाहिए, यह उपदेश सन्यास धर्म का उपदेश नहीं देता, ब्रह्मचर्य से एकदम यति बनने का जो बौद्धों ने अतिरेक किया, वह ठीक नहीं है, यतिधर्म की कल्पना समाज व्यवस्था का उच्छेद करने वाली है। वह कल्पना स्नातक के मन में न बैठे, इसलिए यहां प्रजातन्तु को न तोड़ दो, ऐसा उपदेश विशेष बल देकर कहा है।[3]

---

1. हरि ॐ। अथातश्चत्वार आश्रमाः षोऽशभेद।
भवन्ति तत्र ब्रह्मचारिणश्चतुर्विधा भवन्ति गायत्रो।
ब्राह्मणः प्राजापत्यो बृहन्निति। य उपनयादूर्ध्व
त्रिरात्रमक्षारलवणाशी गायत्रीमंत्रों स गायत्रः। योऽष्टाचत्वारिंशर्षाणि वेद ब्रह्मचर्यं चरेत्प्रतिवेदं द्वादश वा यावदग्रहणान्तं वा वेदस्य स ब्राह्मणः। स्वदारनिरत ऋतुकालाभिगामी सदा परदारवर्जी प्राजापत्यः। अथवा चतुर्विंशतिकर्षाणि गुरुकुलवासी ब्राह्मणोऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षवासी च प्राजापत्यः। आ प्राणायद्गुरोरपरित्यागी नैष्ठिको बृहन्निति।। (1-2 श्लोक)
- आश्र० उ०
2. न समावृत्ते समादेशों विद्यते। ब्रह्मणि मिथोविनियोंगे न गतिर्विद्यते। ब्रह्मवर्धत इत्युपदिशान्ति। (1,4,13,17)
- आ० ध० सू०
- श्रीपाददामोदर सातक्लेकर पृ०80
3. क) तै० उ०
ख) आश्र० उ०

छात्र-जीवन अत्यन्त संयमित और नियबद्ध होता था। उसे मधु एवं मांस खाना, सुगन्धित वस्तुओं का लेप, अंजन, किसी का जूठा खाना (गुरु के अतिरिक्त), कठोर वचन बोलना, स्त्री, जीव-हिंसा, उदय एवं अस्त के समय सूर्य-दर्शन, मिथ्याभाषण आदि ब्रह्मचारी के लिए वर्जित थे। मनु तथा बौधायन ने भी इसका समर्थन किया है।[1] वेद का अध्ययन, अग्नि का अभिषेक, भिक्षावृत्ति, आचार्य की सेवा और गुरु की अनुपस्थिति में उनके पुत्र या ज्येष्ठ ब्रह्मचारी की सेवा करना आदि ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य थे।[2]

याज्ञवल्क्य के अनुसार गुरु की आदि के बाद जो समय बचता था उसमे वह ऋचाओं, यजुस्मन्त्रों, वेदों, पुराणों तथा इतिहास आदि विद्याओं का अध्ययन करता था। इससे उसके पितर एवं देवता प्रसन्न होते थे तथा उसके ज्ञान की वृद्धि होती थी।[3]

याज्ञवल्क्य ने दो प्रकार के ब्रह्मचारियों का उल्लेख किया है- उपकुर्वाण और नैष्ठिक। उपकुर्वाण ब्रह्मचारी वे होते थे जो गुरुकुल में 10-15 वर्ष रहकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए वापस घर लौटते थे। ऐसे ब्रह्मचारी यथाशक्ति गुरु दक्षिणा प्रदान कर गुरु की आज्ञा लेकर अपने घर लौटते थे[4]

त्याज्य एवं निषिद्ध कर्म: शिष्य के लिए निषिद्ध कार्यो का वर्णन मनु, गौतम, याज्ञवल्क्य और औशनस स्मृति में दिया गया है।[5] शिष्य के लिए निषिद्ध कर्मो में विशेष उल्लेखनीय कार्य हैं- असत्य भाषण न करे, सूर्य की ओर न देखे, मद्द्य, मॉस, स्त्री सम्पर्क, हिंसा, चुगली आदि को छोड़े। काम, क्रोध, भय, निद्रा, गीत, वाद्य, जुआ, जीव हिंसा स्त्री की ओर देखना और उनसे वार्तालाप करना आदि

---

1. क) मधु मासांज्जनोच्छिष्टशुक्तस्त्रीप्राणिहिंसनम्।
   भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादिवर्जयेत्।। - याज्ञ० स्मृ० (I, 33)
   ख) म० स्मृ० (II, 177-179)
   ग) बौ० गृ० सू० (I, 2,21-25)
   घ) आ० ध० सू० (I, 1, 3-10)
   ड) प्रा० भा० सा० आ० सं० - कैलाशचन्द्र जैन पृ० 170
   च) गौ० स्मृ० (द्वितीयोऽध्याय)
2. अर्थशास्त्र - (I, 3)
3. याज्ञ० स्मृ० (I, 41-46)
4. वही- (I,51)
5. क) म० स्मृ० II, 177-181, 199-200
   ख) गौ० स्मृ० II 13-29
   ग) याज्ञ० स्मृ० I. 33
   घ) औश० स्मृ० III 2-28

कार्यो को छोडे। एकान्त में स्त्री से बात न करे। व्यर्थ विवाद न करे। बासी अन्न न खावे। क्षुद्र पुरुष की सेवा, अश्लील बातचीत, आसव सेवन न करे। नियम और संयम न तोड़े। स्त्री सम्पर्क से दूर रहे। गुरु की चाल-ढाल, वाणी और क्रियाओं की भद्‌दी नकल न करे। गुरु की निन्दा कभी न सुने। यदि गुरुनिनदा हो रही हो तो उस स्थान से हट जाए या कान बन्द कर ले। शिष्य को अपने गुरु, गुरुपुत्र, गुरुपत्नी, दीक्षित, अन्य गुरु पिता, माता,[1] चाचा, मामा, हितेच्छु, विद्वान श्वशुर, पति और मौसी के नाम नहीं लेने चाहिए।

ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचर्य जीवन यात्रा का प्रथम आश्रम था। 'ब्रह्मचर्य' दो शब्दों से बना है 'ब्रह्म' और 'चर्य'। 'ब्रह्म' का तात्पर्य महान है एवं चर्य का अर्थ विचरण करना है। इन दोनों का सम्मिलित अर्थ है ''ब्रह्म के मार्ग पर चलना'' ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ 'वेद' मार्ग पर चलना भी है। 'ब्रह्म' और 'वेद' का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कहा भी है '' ब्रह्म वेद इति श्रुतेः।'' नियम संयम[2] का पालन करते हुए वेद का अध्ययन करना ब्रह्मचारी का मुख्य उद्‌देश्य था।

याज्ञवल्क्य के अनुसार उपनयन-संस्कार के बाद ही व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश कर पाता था। सभी द्विजातियों के उपनयन[3] संस्कार क्रमशः जन्म से आठवें, ग्यारहवें एवं बारहवें वर्ष में सम्पन्न किये जाते थे। उपनयन की ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए सामान्यतः यही अवस्था स्वीकृत थी, किन्तु याज्ञवल्क्य ने अन्यत्र यह संकेत किया है कि[4] इनका उपनयन सोलह, बाईस और चौबीस वर्ष की आयु तक हो जाना चाहिए। यह सम्भवतः उपनयन की अन्तिम सीमा थी और इस आयु सीमा तक यह संस्कार सम्पन्न नहीं हो पाया तो सम्बद्ध व्यक्ति संस्कारहीन हो जाता था और धर्म कार्य के[5] अयोग्य हो जाता था। याज्ञवल्क्य ने ऐसे संस्कारहीन व्यक्ति को शूद्र सम कहा है।

ब्रह्मचारी के लिए यज्ञोपवीत धारण करना अत्यन्त आवश्यक था। इसके

---

1. स्मृ० ना० - डॉ० भारती आर्य पृ० 81-83
2. प्रा० भा० सा० इति० - जयशंकर मिश्र पृ० 176
3. क) याज्ञ० स्मृ० (I, 14)
   ख) म० स्मृ० (II, 36)
   ग) शंख स्मृ० (II, 17)
   घ) पा० गृ० सू० (II, 2)
4. क) याज्ञ० स्मृ० (I, 37)
   ख) म० स्मृ० (II, 38)
5. याज्ञ० स्मृ० (I, 38)

अतिरिक्त उसे मेखला, दण्ड तथा कृष्ण मृगचर्म भी धारण करने का निर्देश था।[1] ब्राह्मण ब्रह्मचारी की मेखला मूंज की क्षत्रिय की अथस खण्डयुक्त मूंज की तथा वैश्य की ऊन ही होती थी[2]

यज्ञोपवीत होने के उपरान्त[3] बालक गुरुकुल में निवास करे और कर्म, मन, वाणी से गुरु के कुल में प्रीति रखे। गुरु के घर में वास करने के समय ब्रह्मचारी, पृथ्वीपर शयन, अग्निहोत्र करता रहे और गुरु के लिए जल का घड़ा और ईधन (लकड़ी) और गायों के निमित्त घास दें[4] ब्रह्मचारी विधिपूर्वक वेद को पढे और जो बिना विधि से अध्ययन करता है उसे अध्ययन (पढ़ने) का फल प्राप्त नहीं होता।[5]

जो कोई दुरात्मा विधि को छोड के धर्म को आचरण करता है, वह विधिभ्रष्ट पुरुष धर्म को आचरण करके भी उसके फल को प्राप्त नहीं होता।[6]

इस कारण स्वाध्याय की (पढ़ने की) सिद्धि के निमित्त गुरुकुल में वेद के व्रत्तों को करे और गुरु के समीप से सम्पूर्ण शौचादि के आचरण सीखें।[7]

जो ब्रह्मचारी वेद पढ़ने में प्रसन्न और गुरु के आधीन तथा गुरु का हितकारी होता है और जो मृत्युकाल तक शुरू के यहां ही निवास करता है उसी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं[8]

प्रातः काल के समय ही व्रत[9] (महानाम्न्यादि) करे। अग्निहोत्र करें, इसके उपरान्त गुरु के चरणों में प्रणाम करें।

---

1. क) यज्ञोपवीत परमं पवित्रं -याज्ञ० स्मृ० (I, 29)
   ख) बौ० गृ० सू० (XXV, 7-8)
2. क) वही (XXVए 213) ख) आ० गृ० सू० (I, 33-36)
   ग) वही (I, 9,11) घ) गौ० गृ० सू० (I, 15)
3. उपनीतो माणवको वसेद्गुरूकुलेषु च।
   गुरोः कुले प्रिंय कुर्य्योत्कर्मणा मनसा गिरा।। - लघु० स्मृ० (II, 1)
4. ब्रह्मचर्यमधः शय्याः तथा वह्नेरूपासना।
   उदकुंभान्गुरोर्दद्यादगोग्रासं चेंधनानि च।। -वही (III, 2)
5. कुर्यादध्ययनं चैव ब्रह्मचारी यथाविधि।।
   विधिं त्यक्त्वा प्रकुर्वाणो न स्वाध्यायफलं लभेत्।। -वही (III, 3)
6. यः कश्चित्कुरूते धर्म्मं विधिं हित्वा दुरात्मनान्।
   न तत्फलमवाप्नोति कुर्वाणोऽपिविधिच्युतः।। -वही (III, 4)
7. तस्माद्वेदव्रतानीह चरेत्स्वाध्यायसिद्धये।
   शौचाचारमशेषं तु शिक्षयेदूगुरूसन्निधौ।। -वही (III, 5)
8. वेदस्वीकरणे दृष्टो गुर्वधीनों गुरोर्हितः।
   निष्ठां तत्रैव यो गच्छेनैष्ठिकः स उदाहृतः।। - वि० स्मृ० (I, 24)
9. अग्निकार्य ततः कुर्यात्प्रातरेव व्रंत चरेत्।।
   गुरवे तु ततः कुर्यात्पादयोर भिवादनम्।। - वही (I, 19)

समिधा(हवनादि के अर्थ लकड़ी), कुशा और जल का घडा गुरु के लिए लाकर हाथ जोड़कर भलीभांति जितेन्द्रिय हो गुरु के सम्मुख बैठकर गुरु की स्तुति करके सावधानी से रहा करें इस प्रकार से सर्वदा नियम पालन करें।[1]

नैष्ठिक ब्रह्मचारी उन्हें कहते थे जो जीवन पर्यन्त गुरु के यहां निवास करते थे। गुरु की अनुपस्थिति में उनके पुत्र के समीप, पुत्र के अभाव में (गुरु) भार्य के समीप एवं इन सबके अभाव में अग्निहोत्र की अग्नि के समीप निवास करते थे। नियम संयम का विधिवत पालन करते हुए कठिन तपस्या से वह इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करता था।[2] उसका पुनर्जन्म नहीं होता था। इसका समर्थन मनु ने किया है।[3]

ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम में रहकर विद्याध्ययन करते थे। यह काल प्रशिक्षण का काल था जिसमें हर व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का परिपालन करते हुए शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक समझा जाता था। गुरु के आश्रम में विद्यार्थी विषयों से दूर रहता था। इसके लिए उसे प्रतिपल कार्यरत रखा जाता था। इससे उसकी चेतना नियंत्रित रहती थी। कौटिल्य ने इसे सतदयुगीन शिक्षा का मुख्य उद्देश्य माना है।[4] इस आश्रम का मुख्य उद्देश्य शारीरिक मानसिक एंव आध्यात्मिक गुणों को विकसित करना था।

याज्ञवल्क्य ने गुरु के सान्निध्य में रहकर विद्यार्जन की व्यवस्था की है। गुरुकुल में छात्र विभिन्न विषयों एवं शौच के नियमों की शिक्षा ग्रहण करता था। गुरुकुल का एकान्त वातावरण शान्त था जहां विद्या का अध्ययन सुव्यवस्थित रूप से होता था। मन, वाणी, शरीर और कार्यों द्वारा छात्र को गुरु के अनुकूल कार्य करना पड़ता था।[5] मनु के अनुसार व्यक्ति के ज़ीवन का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य आश्रम है-जिसमें व्यक्ति गुरु गृह में रहकर अध्ययन करता था।[6] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया गया है।[7]

---

1. समित्कुशांश्चोदकुंभ माहृत्य गुरवे व्रती।। —वही (I, 20)
   प्रांजलिः सम्यगासीन उपस्थाय यतः सदा।। (I, 49-50)
2. याज्ञ० स्मृ० (II, 242-244, 247)
3. क) म० स्मृ० - लक्ष्मीदत्त ठाकुर पृ० III
   ख) प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, (VIII, 18)
   ग) अत्रि० स्मृ० (I/3, XII, 1-2)
4. अ० शा० (I, 15-27)
5. याज्ञ० स्मृ० (IV, 1)
6. म० स्मृ० (2/9/21/1)
7. आ०ध० सू०

याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्रह्मचारी भिक्षां मांग कर लाता और उसे गुरु के समाने लाकर रखता था।[1] मनु के कथनानुसार वह सूर्योपासना के बाद ही भिक्षा मांगता था।[2] ब्रह्मचारियों को भिक्षा देना प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य था।[3] ब्रह्मचारी केवल सायं और प्रातः दो बार ही भोजन करता था, इसके बीच भोजन करना उसके लिए निषिद्ध था।[4] वह गुरु की आज्ञा से मौन रहकर भोजन करता था।[5]

प्रत्यूषकाल में उठकर प्रयत(मलमूत्रादिक करके शुद्ध) हो स्नान और होम करने के उपरान्त भक्तिपूर्वक गुरुओं को नमस्कार करें।[6]

इसके बाद गुरु की आज्ञा से ब्रह्मांजलि को करके गुरु के मुख को दर्शन कर नम्रभाव से वेद को पढ़ें।[7]

वेद पढ़ने के प्रारम्भ और अन्त में ॐकार का उच्चारण करें और अनध्याय के दिन यत्नपूर्वक न पढ़ें।[8]

जो ब्रह्मचारी सावधान होकर विधिपूर्वक गुरु की सेवा करता हुआ पृथ्वी में भ्रमण करता है वह अत्यन्त दुर्लभ और कल्याण रूप विद्या को प्राप्त होकर उस विद्या के सुलभ फल हो प्राप्त होता है।[9]

गुरु को देखकर कंठ रोक लें, घुटने फैलाकर बैठना, पैरों को फैलाना, थूकना, हंसना, जंभाई लेना, अंग को हाथ से बजाना इनका भी त्याग कर दें, स्त्री को देखना, स्पर्शकरना तथा मैथुन की शंका, जुआ, नीच की सेवा, बिना दिये लेना, हिंसा, आचार्य और आचार्य के पुत्र, स्त्री तथा दीक्षित इनका नाम लेना, सूखी वाणी, मदिरा का पीना इन सब कार्यों को एक ही बार त्याग दें, ब्राह्मण को सर्वदा पृथ्वी पर शयन करना उचित है, गुरु से प्रथम उठे, नीचे आसन पर बैठें और गुरु के

---

1. याज्ञ॰ स्मृ॰ (I, 26-27)
2. म॰ स्मृ॰ (II, 48)
3. गौ॰ ध॰ सू॰ (IV, 16)
   ख) वि॰ पु॰ (III, 95)
4. म॰ स्मृ॰ (II, 56)
5. याज्ञ॰ स्मृ॰ (I, 31)
6. क) प्रयतः कल्य उत्थाय स्नातो हुतहुताशनः।
   कुर्वीत प्रणतो भक्तया गुरुणामभिवादनम्।। -शंख स्मृ॰ (III, 4)
   ख) आ॰ भा॰ शि॰ स॰ - बी॰ बी ॰ अग्रवाल पृ॰ 5
7. अनुज्ञातस्तु गुरूणा ततोऽध्ययनमाचरेत्।
   कृत्वा ब्रह्मांजलिं पश्यन्गुरोर्वदनमानतः।। - शंख स्मृ॰ (III, 5)
8. ब्रह्मावसाने प्रारंभे प्रणवं च प्रकीर्तयेत्।
   अनध्यायेष्वध्ययनं वर्जयेञ्च प्रयतन्तः।। - शंख स्मृ॰ (III, 6)
9. यो ब्रह्मचारी विधिना समाहितश्चरेत्पृथिव्यां गुरूसेवने रतः।
   संप्राप्य विद्यामतिदुर्लभां शिवां फलञ्च तस्याः सुलभं स विंदति।। -लघु॰ स्मृ॰ (III, 17)

सो जाने पर पीछे शयन करें, वाणी, भुजा और उदर इनको अपने वश में रखे, मान अर्थात् आदर सहित गुरु का नाम और गोत्र उच्चारण करें, सब भांति से पूजने योग्य और श्रेष्ठ मनुष्य के साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार करें, गुरु की शय्या, आसन और स्थान का त्याग करें, नीचे बैठकर अथवा नम्रभाव से स्थित होकर गुरु के वचनों को श्रवण करें और गुरु के वचन के अनुसार चलें गुरु को देखते ही उठें, उनके चलने पर पीछे-पीछे चलें, यदि गुरु किसी बात को पूछे तो उनको यथार्थ उत्तर दें, वह जब पढ़ने के लिए बुलावें तभी जाकर पढ़ें और सर्वदा उनका प्रिय और हितकारी कार्य करता रहें और उच्छिष्ट भोजन, स्नान करना, प्रसाधन, पैर धोना, उबटन चरणों का स्पर्श इनके अतिरिक्त उनकी स्त्री पुत्रों के भी चरण स्पर्श करे, कोई-[1]कोई ऐसा भी कहते हैं कि गुरु की युवती स्त्रियों के साथ उक्त व्यवहार न करें।

आलस्य रहित होकर[2] गुरु की सेवा करें, प्रातः काल और संध्या काल में विवाहाग्निकी उपासना करें।

शौच और आचार के जानने के निमित्त धर्मशास्त्र[3] को भी पढे और गुरुदेव के तथा धर्मशास्त्र के कर्म को भले प्रकार से कहे।

इसके पीछे वृद्धो को नमस्कार करके भली भांति[4] से सावधान हो पढ़े और सर्वदा गुरु के हित के निमित आचरण करता रहे।

यदि किसी समय गुरुदेव तिरस्कार भी करे तो उनके सन्मुख कुछ न बोले, और गुरु की ताडने करने पर भी वहां से न भागें, वैर (किसी[5] के साथ शत्रुता), पैशुन्य (चुगलपन), हिंसा, उदयकाल में सूर्य का दर्शन न करें।

---

1. क) गुरुदर्शने कंठ प्रावृतावसक्थि का पाश्रयण पादप्रसारणानि निष्ठी वितहसितजृंभिता स्फोटनानि स्त्रीप्रेक्षणलंभने मैथुनशंकायां द्यूतं हीन सेवामदत्तादानं हिंसा आचार्य तत्पुत्र स्त्री दीक्षित नामानि शुष्कां वाचं मद्यं नित्यं ब्राह्मणः अधः शय्याशायी पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी वागुदरकर्म्मसंयतः नामगोत्रे गुरोः समानतो निर्दिशेत्। अर्चिते श्रेयसि चैवम्।। शय्यासनस्थानानि विहाय प्रतिश्रवणमभिक्रमं वचनाद्दृष्टेन अध ःस्थानासनस्तिर्यग्वा त्त्सेवायां गुरुदर्शने चेत्तिष्ठेत्। गच्छंतमनुव्रजेत कर्म्म विज्ञाप्याख्याऽऽहूताध्यायी युक्तः प्रियहितयोसतद्भार्यापुत्रेषु चैवम्, नोच्छिष्टाशन सपन प्रसाधन पाद प्रक्षालनोन्मर्दनोपसंग्रहजाणा विप्रोष्योपसंग्रहणं -गौ० स्मृ० (द्वितीयोऽध्याय)
   गुरु भार्याणां तत्पुत्रस्य च नैके युवतीनाम्।।
   ख) हस्तौ तु संयतौ धार्यौ जानुभ्यामुपरि स्थितौ। -अथस०स्मृ० (I, 10)
   गुरोरनुमतं कुर्यात्पठन्नान्मयतिर्भवेत्
2. गुरुशुश्रूषणं चैव यथान्यायमतंद्रितः। -लघु० स्मृ० (I, 26)
   सायंप्रातरूपासीत विवाहाग्निं द्विजोत्तमः।
3. शौचाचारविचारार्थं धर्मशास्त्रमपि द्विजः। -व्या० स्मृ० (I, 26)
   पठेत गुरुतः सम्यक्कर्म तद्दिष्टमाचरेत्।।
4. प्रक्षालनोन्मर्दनोपसंग्रहजानि विप्रोष्योपसंग्रहणं। - गौ० स्मृ० द्वितीयोऽध्याय
   गुरु भार्याणां तत्पुत्रस्य च नैके युवतीनाम।।
5. क) हस्तौ तु संयतौ धार्यौ जानुभ्यामुपरि स्थितौ। - अथस० स्मृ० (1, 10)
   गुरोरनुमतं कुर्यात्पठन्नान्यतिर्भवेत्।। (I, 27-28)
   ख) व्या० स्मृ०

शद्र के अतिरिक्त तीनो वर्णों के लोगों को शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा थी। वे किसी भी गुरु के शिष्य हो सकते थे। शिष्यत्व उपनयन से आरम्भ होता था। उपनयन संस्कार ही बालक का दूसरा जन्म माना जाता था। इसके पूर्व सवर्ण बालक भी शुद्ध माना जाता था। इस संस्कार के बाद ही उसे द्विजत्व प्राप्त होता था।[1] शिष्यत्व इस काल को ब्रह्मचर्य आश्रम कहते थे। शिक्षा के लिए इस आश्रम की आवश्यकता इसलिए थी कि वह एकाग्रचित होकर ज्ञान प्राप्त कर सके। इससे उसमें सतोगुण की वृद्धि होती थी। शिक्षा के इस काल में विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करने की सलाह दी गई है।[2]

याज्ञवल्क्य ने मन, वाणी तथा शरीर से गुरु के अनुकूल कार्य करना और उनकी आज्ञा से भोजन करना आदि ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य माना हैं।[3] उन्होंने ब्रह्मचारी के लिए मधु, मांस, लेप, अंजन, जूठा- भोजन, कठोर वचन, स्त्री, जीव हिंसा, सूर्यदर्शन, अश्लील-भाषण आदि बातें निषिद्ध मानी हैं।[4] मनु उसे शरीर, वचन, बुद्धि, इन्द्रियों और मन को वश में कर, गुरु के सम्मुख खड़े होकर उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा करने की सलाह देते हैं उसे सर्वदा अपना दाहिना हाथ बाहर किए हुए सदाचारपूर्वक संयमित होकर गुरु की आज्ञा से बैठने का निर्देश था। उसे गुरु के उठने के पूर्व उठ जाना था तथा गुरु की आज्ञा का विधिवत् पालन करना पड़ता था उसे गुरु से निम्न आसन पर बैठना तथा गुरु के नाम का उच्चारण भी नहीं करना था। वह न तो गुरु की निन्दा सुनता और न स्वयं ही करता था।[5]

यह सम्भव है कि मनु प्रतिपादित शिष्य के उपर्युक्त कार्य याज्ञवल्क्य के समय भी उसी प्रकार मान्य एवं प्रचालित रहे हों। इसलिए उन्होंने इनका उल्लेख कम किया है किन्तु किन्हीं स्थितियों में शिष्य को धर्मच्युत गुरु की आज्ञा का पालन न करने की स्वतन्त्रता थी।[6]

याज्ञवल्क्य स्मृति अध्ययन काल में शिष्य और पुत्र को लाड़ प्यार करने की अपेक्षा ताड़ना पर विशेष बल देती हैं।[7] याज्ञवल्क्य ने प्रतारणा का विधान सम्भवतः उन शिष्यों एवं पुत्रों के लिए किया है जो अध्ययन एवं आचार में त्रुटि करता हो। मनु ने भी सम्भवतः ऐसे ही शिष्य को समझाने या मधुर उपदेश

1. याज्ञ० स्मृ० (I, 10)
2. म० स्मृ० (II, 180)
3. याज्ञ० स्मृ० (I/15/22/25/26/27/31)
4. याज्ञ० स्मृ० (I, 33)
5. म० स्मृ० (II, 192-201)
6. आचार्याधीनो भवति अन्यत्राधर्माचरणात्। - गौ० ध० सू० (3/1/15)
7. नन्दिताड़ने कुर्यात्पुत्रं शिष्यं च ताड्येत्। - याज्ञ० स्मृ० (I, 155)

देने की बात की है।[1] पर यदि इससे भी शिष्य अपने आपको नहीं सुधारता एवं अपराध की पुनरावृत्ति करता हे तो उसे रस्सी से बांधा जा सकता है या दण्ड से पीटा जा सकता है पर ऐसी स्थिति में प्रहार पीठ पर ही करना चाहिए।[2]

छात्रों के खान पान, वेश-भूषा, आचार व्यवहार अदि के सम्बन्ध में निश्चित नियम थे, जिनका पालन करना अनिवार्य था। यथाः-

(i) **खान-पानः** मनु ने लिखा है कि छात्रों को दिन में केवल दो बार भोजन करना चाहिए, एक बार प्रातःकाल एवं एक बार सायंकाल। इन दोनों भोजनों के मध्य में उनको अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए। उसे अति भोजन से बचना चाहिए, क्योंकि यह रोग का कारण तथा आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होता है। छात्रों को मांस, मधु, पान और बासा भोजन न खाने का आदेश था।

(ii) **वेश-भूषाः** छात्रों की वेश-भूषा निर्धारित थी। उपनयन के उपरान्त धारण की जाने वाली मेखला विभिन्न जातियों के छात्रों के लिए विभिन्न वस्तु की बनी हुई थी। ब्राह्मण की मेखला मूंज घास की, क्षत्रिय की ताँत की और वैश्य की ऊन की बनी हुई होती थी। अपने शरीर के निम्न भाग को ढकने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य छात्र क्रमशः सन, रेशम और ऊन के वस्त्रों के टुकड़ों का और ऊपरी भाग के लिए क्रमशः काले मृग, चित्तीदार मृग एवं बकरे की खालों का प्रयोग करते थे। छात्र जिन डन्डों को लेकर इधर-उधर आते-जाते थे-उन्हें उनको खड़ा पकड़ना पड़ता था और वे बिना जले हुए, देखने में सौम्य और भय उत्पादक नहीं हो सकते थे क्योंकि उनका प्रयोग केवल सुरक्षा के लिए किया जाता था। छात्रों को अंजन, सुगन्धि, छाते तथा जूतों का प्रयोग निषेध था।[3] वे अपने शरीर को किसी प्रकार भी अलंकृत नहीं कर सकते थे। केशों के प्रसाधन की मनाही थी।

(iii) **आचार-व्यवहार-** छात्रों का जीवन शिष्टाचार मर्यादा तथा आत्म-संयम से पूर्ण होता था। उन्हें अपने जीवन को पवित्र रखने के लिए दोनों समय संध्या-वंदना एवं हवन करना पड़ता था। उन्हें गुरुजनों के प्रति आदर तथा सम्मान का प्रदर्शन करना होता था। उन्हें असत्य भाषण गाली-गलौज एवं चुगलखोरी से दूर रहने की शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। उनके द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत के पालन

(II, 159)

1. म० स्मृ०
2. भर्यापुत्रश्चदासश्न प्रेष्योभ्राता च सोदरः।
   प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्जवा वेणुदलेन वा।।
   पृष्ठतस्तु शरीरस्य नौत्तमाङ्गे कथञ्चन।
   अतोऽन्यथा तु प्रहरन्तप्राप्तः स्याच्चोर किल्बिषम्।।- वही (VIII, 299-300)
   -वी० पी० जौहरी एवं पी० डी० पाठक पृ० 15
3. भा० शि० इ०

किये जाने पर बल दिया जाता था। वे अपने पास न तो धन रख सकते थे और न कोई वस्तु खरीद सकते थे। वे नृत्य, संगीत तथा धूत क्रीड़ा का आनन्द नहीं ले सकते थे। वे स्त्रियों से आवश्यकता से अधिक बाते नहीं कर सकते थे; उन्हें आत्म संयमी बनने और काम, क्रोध तथा लोभ से मुक्त रहने की शिक्षा दी जाती थी।

सारांश में, उन्हें अपने व्यवहार में सादगी तथा विचारों में श्रेष्ठता के सिद्धान्तों का अनुसरण करना पडता था।

(iv) आदतों की सादगीः प्रत्येक हिन्दू छात्र को सादी आदतो की शिक्षा दी जातीथी। इस बात से कोई प्रयोजन नहीं होता था कि वह किस कुल का है। धनवान तथा निर्धन सभी परिवारों के बालकों को जीवन का एक ही ढंग अपनाना पड़ता था। महाभारत तथा रामायण में ऐस अनेकों उदाहरण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि राजकुमारों को भी छात्र जीवन की उन्हीं कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था जिनका सामना उनके निर्धन सहपाठी करते थे।

(v) छात्रों की दिनचर्या– छात्र पक्षियों के चहचहाने के पूर्व तड़के उठते थे। नित्य क्रिया से निवृत्त होने के पश्चात् वे स्नान तथा संध्या करते थे। वेदों का अध्ययन करने वाले छात्र प्रातःकाल का अधिकांश भाग हवन आदि से सम्बन्धित विभिन्न क्रियाओं के सम्पादन में व्यतीत करते थे। उस समय में अन्य विषयों के छात्र पुराने पाठों को दोहराते तथा नये पाठों को पढ़ते थे। मध्याह्न के समय वे भोजन करने के लिए अपना कार्य स्थगित कर देते थे। कुछ समय के उपरान्त वे फिर विद्याध्ययन में जुट जाते थे और सायंकारल तक इस कार्य में रत रहते थे। सूर्यास्त के समय वे संध्या तथा हवन के उपरान्त भोजन करते थे।[1]

शिष्य की योग्यता

प्राचीन भारतीय शिक्षा–व्यवस्था में शिक्षा–संस्थाओं में प्रवेश के लिए छात्रों की योग्यता की ओर विशेष ध्यान दिया गया था। विद्यालयों में योग्य छात्र ही प्रवेश पा सकते थे।

गुरु द्वारा बालक को शिष्य के रूप में तभी स्वीकार किया जाता था, जबकि वह उसकी निष्ठा, उत्साह, उत्तम आचरण और अन्य आवश्यक योग्यताओं से सतुंष्ट हो। सामान्यतः शिक्षक को अधिकार था कि वह नव–प्रविष्ट छात्रों की योग्यता का निरीक्षण करे। वह इनका छः महीने से एक वर्ष तक निरीक्षण कर सकता था तथा इसके बाद उनके लिए अध्यापन प्रारंभ करता था। इसके बाद उनको शिक्षा देने के लिए वह बाध्य था। यदि वह उस समय भी उनकी शिक्षा को प्रारंभ नहीं करता

---

1. भा॰ शि॰ इ॰ –वी॰ पी॰ जौहरी एवं पी॰ डी॰ पाठक पृ॰ 16

था, तो शिष्य के पाप का भागी गुरु होता था। अष्टांगहृदय ने शिक्षा के अध्ययन के लिए छः महीनों की परिवीक्षा का समय रखा था।[1] रहस्यमय विद्याओं के अध्यापन के लिए अधिक लम्बी अवधि तक परीक्षा का समय रखा जा सकता था। शास्त्रकारों का कथन है कि अयोग्य शिष्य को कभी भी विद्या नहीं देनी चाहिये। चाहे विद्या के साथ मर भी जावे, परन्तु अयोग्य ऊसर शिष्य को कभी भी शिक्षा न दे।[2] यदि छात्र में अध्ययन करने की योग्यता और उत्साह नहीं है तो ऐसे शिष्य पर समय व्यय-करना व्यर्थ है।

मनु ने अयोग्य छात्र को विद्यादान करने का स्पष्ट निषेध किया है। ब्रह्मवादी अध्यापक को चाहिये कि वह चाहे मर जावे, परन्तु आपत्काल में भी अपात्र को विद्या न दे। ब्राह्मण के पास विद्या ने आकर कहा कि मैं तुम्हारी निधि हूं, मेरी रक्षा करो। मुझको तुम ईर्ष्यालु के लिए मत दो। इससे मैं शक्तिशालिनी होऊंगी। जिसको तुम पवित्र और नियम ब्रह्मचारी समझो, निधि की रक्षा करने वाले तथा प्रमाद न करने वाले उस विप्र को मुझे दो।[3]

प्राचीन समय में वर्तमान काल के समान कोई परीक्षा प्रणाली, उपाधि, प्रमाण-पत्र आदि नहीं थे तथापि विद्यालयों में प्रवेश के समय गुरुजन अपने तरीकों से प्रवेशार्थी की परीक्षा लेते थे। इस समय परीक्षार्थी छात्र की कठोर परीक्षा ली जाती थी। चरित्रहीन छात्रों का प्रवेश तो सर्वथा वर्जित था तथापि कम बुद्धि के छात्रों को प्रवेश मिल ही जाता था। परन्तु प्रगति के न होने पर उस छात्र को विद्यालय से निकाला भी जा सकता था।

छात्रों की निजी योग्यता के विशद विवरण प्राचीन शास्त्रकारों ने प्रस्तुत किये हैं। छात्र के ये गुण पांच वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं।

क) अध्ययन के प्रति निष्ठा और उत्साह

ख) उत्तम आचरण और नैतिकता।

ग) कुलीनता

घ) अपने विषय का आवश्यक ज्ञान

1. अष्टागहृद सूत्रस्थान — अध्याय, 2
2. विद्यया सह मर्तव्यं न चैनाभूषरे वपेत् -बौ० ध० सू० (I, 2,48)
3. विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वदेत्।।
विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवीधस्ते हि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा।
यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधि पायाप्रमादिने।। - म० स्मृ० (II, 113-115)

ड) गुरु के प्रति भक्ति और सेवा का भाव।

वेद शिक्षा के अनिवार्य विषय थे। अतः वेदों की उच्च शिक्षा के लिए यह आवश्यक था कि छात्र ने उनकी समुचित प्रारंभिक शिक्षा किसी योग्य गुरु से प्राप्त की हो। आचार्य को चाहिए कि इन समुचित गुणों को देखकर ही छात्र को अपने आचार्यकुल में प्रवेश दे।

प्राचीन शास्त्रकारों ने शिष्य की योग्यता और गुणों के संबंध में और भी बहुत कुछ कहा है। कुछ आचार्यो के मंतव्यों को संक्षेप में यहां उद्धृत किया जा रहा है।

निरूक्त-सावधान, बुद्धिमान, बुह्मचारी, गुरु के प्रति भक्ति रखने वाले और विद्या की रक्षा करने वाले शिष्य को ही विद्या देनी चाहिये।[1]

मनु-विद्यार्थी के दस गुण हैं- आचार्यपुत्र, सेवा करने वाला, ज्ञानी, ध ार्मिक, पवित्र, विश्वस्त, समर्थ, धन देने वाला, साधु और अपना निकट संबंधी।[2]

याज्ञवल्क्य-कृतज्ञ, अद्रोही, मेधावी, शुचि, रोगरहित (कल्प), ईर्ष्या न करने वाला, (अनसूचक), साधु, समर्थ, विश्वस्त, दान देने वाला और ज्ञान देने वाला।[3]

छान्दोग्योपनिषद्-गुरु की अग्नि की रक्षा करने वाला, गुरु के कार्यो का सम्पादन करने वाला।[4]

(IV) प्राचीन भारतीय इतिहास में कुछ ऐसे योग्य प्रसिद्ध शिष्यों के नाम हैं जिन्होंने अपनी योग्यता कर्त्तव्यनिष्ठा और गुरुभक्ति द्वारा महती अमर कीर्ति अर्जित की थी। राधामुत्क, मुकर्जी द्वारा वर्णित कुछ प्रसिद्ध आदर्श शिष्यों को यहां उद्धृत करना रोचक होगा।[5]

आरूणि-तक्षशीला गुरुकुल के प्रसिद्ध आचार्य धौम्य के तीन शिष्य थे उपमन्यु, आरूणि और वेद।आरूणि का आगमन पांचाल जनपद से हुआ था। वर्षा

---

1. यमेव विद्याच्छुचिमप्रमतं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न दुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन।। - निरू०- (II.4)
2. आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्यो दश धर्मतः।। - म० स्मृ० (II, 109)
3. कृतज्ञोऽद्रोहिमेधावशिुचिकल्पानसूयकः।
अध्याप्या धर्मतः साधुः शक्ताप्तज्ञानवित्तदाः - याज्ञ० स्मृ० (1, 28)
4. आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः
कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्
विदधद-वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते।। - छा० उ० (VIII, 15,1)
5. ए० इ० एजु० राधामुकुद मुकुर्जी (232-233)

ऋतु में खेत के पानी के रोकने वाली मेड के टूट जाने पर पानी को रोकने के लिए गुरु के आदेश से वह स्वयं लेट गया था गुरु ने उसकी भक्ति की प्रशंसा की और उसको उद्दालक उपाधि प्रदान की।

ख) उत्तंक-धौम्य के शिष्य वेद का एक शिष्य था-उत्तंक। समार्वतन संस्कार होने पर गुरू द्वारा घर जाने की अनुमति प्रदान करने पर भी उसने गुरु से आग्रह पूर्वक गुरु दक्षिणा लेने की प्रार्थना की। गुरुपत्नी ने तक्षकराज की रानी कर्णावती के कुंडलों की मांग की। तब सब प्रकार से प्राणों का खतरा उठाकर उसने गुरु-दक्षिणा को पूरा किया।

ग) **उपमन्यु:** उपमन्यु भी धौम्य का एक शिष्य था। उपनिषदों तथा अन्य प्राचीन संस्कृत साहित्य में एक योग्य तथा गुरुभक्त शिष्य के रूप में उसका नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह गुरु के पशु भी चराया करता था। प्राणों की भी अपेक्षा न करके उसने इस पशुधन की राज्ञ की। शिक्षा पूरी होने पर उसने समुचित गुरु-दक्षिण। गुरु के लिए अपिर्त की।

घ) **कच:** बृहस्पति के पुत्र कच ने शुक्राचार्य से शिष्यत्व को ग्रहण किया था। कच और देवयानी की कथा प्राचीन भारतीय सहित्य में बहुत प्रसिद्ध है कच ने अपने गुरु के लिए यज्ञीय समिधाओं, कुशाओं और ईधन लाने का भार ग्रहण किया था। वन से आश्रम की ओर आते हुए थक जाने पर वह एक बरगद वृक्ष के नीचे विश्राम के लिए बैठ जाता था। उसके साथ गुरु के आश्रम के शुभा होते थे। यहां उसको प्रकृति का सान्निध्य प्राप्त होता था। उसे विद्यार्थी जीवन में बाह्य प्रकृति का यह सान्निध्य और पशुओं का सम्पर्क उत्तम प्रेरणा देने वाला था।

ड़) **यवकृत-** यवकृत की कथा द्वारा उपनिषदों ने उत्तम उपदेश दिया है और प्रतिपादित किया है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु का होना अनिवार्य हैं। वेदों के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए यवकृत ने कठोर तप किया था।

वह समझता था कि गुरु कुल में पढ़ने में बहुत अधिक समय लगेगा। परन्तु इन्द्र ने उससे कहा-"तुमने जो मार्ग चुना है, वह उचित नहीं है। किसी गुरु के पास जाओ और वेदों का अध्ययन करो"।

इन्द्र के उपदेश पर जब यवकृत ने कोई ध्यान नहीं दिया तो उसने दूसरा मार्ग अपनाया। गंगा की धारा में रेती डालकर इन्द्र ने सेतु के निर्माण का उद्योग किया। तब यवकृत ने अपने प्रयास की वयर्थता समझी। उसने गुरु के पास जाकर वेदों के अध्ययन का संकल्प किया।

च) **आर्ष्टिसेन-** अर्ष्टिसेन की कथा यवकृत की कथा के विपरीत है।

वह अपने गुरु के पास लम्बे समय तक रहकर उनकी सेवा करता रहा। परन्तु वह वेद की किसी शाखा का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका। तब उसने तपस्या करने का निश्चय किया और तप करके अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त की।[1]

शिक्षा–शुल्क

शिक्षकों के पारिश्रमिक के प्रसंग में शिक्षा-शुल्क विषय पर विचार किया गया था। तथापि शिष्य के संदर्भ से भी इस विषय पर विचार करना उचित होगा।

प्राचीन समय में शिक्षा पूर्णतः निःशुल्क थी। गुरुकुलों और विद्यालयों में विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। शिक्षा तो निःशुल्क थी ही, सामान्यतः भोजन-वस्त्र-निवास का भी व्यय छात्रों को वहन नहीं करना होता था। इस संबंध में मनु का मत महत्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय शिक्षा निःशुल्क तो थी ही, अनिवार्य भी थी मनु ने निर्देश दिया है-

"राज्य और समाज को इस प्रकार के नियम बनाने चाहिये कि बच्चे को, चाहे वह बालक हो या बालिका हो, पांच से आठ वर्ष की आयु तक निश्चित रूप से विद्यालय भेज दिया जावे। यदि इस आयु में बच्चे को घर में रखा जाता है, तो माता-पिता या अभिभावक को दंडित किया जाना चाहिये।"

प्राचीन समय में छात्रों से शुल्क लेना सामान्यतः निंदित था।आचार्यकुल में छात्र निःशुल्क ही शिक्षा ग्रहण करते थे। वे भरण पोषण भी निःशुल्क ही प्राप्त करते थे। परन्तु शिक्षा के पूरा होने पर यथासंभव गुरुदक्षिणा देते थे। मनु का कथन है[2] -

"शिक्षा की अवधि में छात्र अध्यापक को कुछ न दे। परन्तु स्नातक होने पर गुरु द्वारा उपदिष्ट वस्तुभूमि, स्वर्ण, गौ, अश्व, छत्र, उपानह, शयन, आसन, धान्य, शाक, वस्त्र, आदि देते थे।"

विद्याध्ययन करते हुए गुरु के घर पर रहते हुए विद्यार्थी गुरु के घर का और आश्रम का सारा कार्य करते थे। कालांतर में दो प्रकार के शिष्य होने लगे। एक तो वे, जो धन संपन्न होते थे तथा शुल्क देकर विद्याध्ययन करते थे। दूसरे वे थे, जो निर्धन होते थे। वे गुरु की सेवा करके शुल्क को पूरा करते थे। जब वे धनोपार्जन करते थे, तो प्रतिज्ञात धन की राशि को गुरु की सेवा में भेजते थे।

1 भा० प्रा० शि० प० - अ० स० अल्तेकर पृ० 65-66

2. न पूर्व गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तरू शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्।।
क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं वस्त्रोपानहमासनम्।
धान्यं शाकञ्च वासांसि गुरवे प्रीतिमाहरेत् म० स्मृ० (II, 245-246)

वस्तुतः भारतीय सभ्यता में और शिक्षा-पद्धति में शिक्षा का विक्रय करना पाप का कारण समझा गया था। अतः शिष्य द्वारा किसी प्रकार के शुल्क को देना विधि सम्मत नहीं था। शिष्य जो कुछ गुरु से ग्रहण करता है, उसका कोई प्रतिकार या प्रतिदान नहीं है। विद्याध्ययन के अनंतर शिष्य को जो कुछ गुरु-दक्षिणा देनी भी है, वह विद्याधान का प्रतिकार नहीं है, अपितु गुरु के प्रति कृतज्ञता का भाव अभिव्यक्त करना है। गुरु को प्रसन्न करने का यह एक साधनमात्र ही है।

भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति में धन लोलुपता का सर्वथा निषेध था। विद्या का दान करना महान् पुण्य का कार्य समझा जाता था। दोनों की लंबी सूची में विद्यादान को सर्वश्रेष्ठ माना गया था बृहस्पति का कथन है कि भूमि का दान करना श्रेष्ठ है परन्तु विद्या का दान करना उससे भी बढ़कर है।[1] कात्यायन के अनुसार वेद के ज्ञान का दान ब्रह्मयज्ञ से भी अधिक श्रेष्ठ है।[2]

महाभारतकार ने शिक्षण के लिए धन स्वीकार करने वाले को शूद्र कहा है।[3] ज्ञान के द्वारा धनोपार्जन करना पाप माना गया था। इससे मनुष्य दूसरे जन्म में भी कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सकता।[4] व्यास का कथन है कि शुल्क लेकर शिक्षण करना ब्रह्महत्या के समान पाप है।[5] कालिदास का कथन है कि जो ज्ञान के द्वारा जीविकोपार्जन करता है वह शिक्षक नहीं है। वह तो व्यापारी है।[6] एक प्राचीन कथन के अनुसार एक विद्वान तेजस्वी ब्राह्मण ने राजा को उत्तर दिया।

"मैं धन लेकर शिक्षा का विक्रय नहीं करूंगा। चाहे मुझ पर शासन का कितना ही दबाब क्यों न पड़े।"[7]

गुरु से एक अक्षर का भी ज्ञान प्राप्त करना इतना बड़ा ऋण माना गया था कि उसको चुका सकना असंभव था।[8]

---

1. भूमिदानात्परं नास्ति विद्यादानं ततोऽधिकम् ।। - स्मृ० च० संस्कारण्ड (XVI, 15)
2. ब्रह्मयज्ञादपि ब्रह्मदानमेवातिरिच्यते।। - का० स्मृ०
3. विधोपजीविनोऽऽनञ्च यो भुङ्ते साधुसम्मतः।
   तदप्यन्नं तथा शौद्र तत्साधुः परिवर्जयेत्।। (135,15)
   महाभारत अनुशासन पर्व - (XXX, 39)
4. वि० स्मृ० (IV, 71)
5. आदेशी वेदविक्रेता पञ्चैते ब्रह्मघातकाः।। - व्या० स्मृ० (I, 17)
6. यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति। - मालवि०-
7. नाऽह शासनशतेनाऽपि विद्याविक्रयं करिष्यामि।। पृ० 85.
   भारतीय शिक्षा की वित्तीय व्यवस्था
8. एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये नितेदयेत्। (I, 9)
   पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा ह्यनृणी भवेत्।। अ० स्मृ०-

छात्र–अनुशासन

उपनिषदों में अनुशासित जीवन को महत्त्वपूर्ण माना गया है। गुरु शिष्य की प्रकृति में संस्कार लाकर उसे अनुशासित बनाते थे। छान्दोग्योपनिषद् में 'धर्म स्कन्ध निरूपण' में कहा गया है कि आचार्य कुल में रहने वाला ब्रह्मचारी है, जो कि आचार्य कुल में ही अपने शरीर को नियम व्रतादि से अत्यन्त क्षीण कर देता है, वह तीसरा धर्म स्कन्ध है।[1] बृ० उ० के अनुसार बाह्य इन्द्रिय व्यापार से शान्त, अन्तःकरण की तृष्णा से रहित होने के कारण दान्त, सम्पूर्ण एषणाओं से उपरत द्वन्द्व को सहन करने वाला तितिक्षु और समाहित चित्त होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है।[2]

इस प्रकार उपनिषदो के अनुसार आज्ञा, नियम, व्रत आदि का पालन उच्चतम ज्ञान प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि बालक 'आत्मन' है और शिक्षा का कार्य यह है कि बालक को अपने स्वरूप को पहचानने में समर्थ बनाए। आत्म तत्व बोध प्राकृतिक देन नहीं है। एतदर्थ व्यक्ति को स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भौतिक जगत् की ज़ानकारी अपेक्षित है। स्वयं आचरित तथा अनुभूत विषयों का शिक्षण ही शिक्षण है। शिक्षार्थी को अनुशासन गति देता है, रक्षा करता है और निश्चित मार्ग तक ले जाता है। आज्ञा, नियम, व्रत आदि का पालन उच्चतम ज्ञान प्राप्ति के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार शिक्षा का लक्ष्य शिक्षार्थियों में संयम, नैतिक मूल्यों का सृजन तथा उनको सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों का दर्शन एवं उनके अपने स्वरूप को पहचानने में समर्थ बनाता है।[3]

शिष्यों के प्रति आचार्य का प्रेम और कल्याण का भाव सदा बन रहता था। वे प्रायः कठोरता का व्यवहार नहीं करते थे। **'आप–स्तम्ब धर्मसूत्र'** के अनुसार आचार्य को चाहिये कि शिष्य के प्रति स्नहे का व्यवहार करे। उसे सारी विधाये पढ़ावें और कुछ भी न छिपावे। परन्तु स्नेहमय व्यवहार का यंह अर्थ नहीं है कि शिष्य उद्दंड हो जावे। शिष्य को सुधारने के लिए आचार्य उसको यथोचित तथा कठारे दंड दे सकता है। तथापि मनु का अनुशासन है कि आचार्य को शिष्य के प्रति कोमल और मधुर व्यवहार करना चाहिये।[4]

---

1. तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्।　　छा उ०　　(II, 23)
2. तस्मादेवं विच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः।
   समाहितो भूत्वात्मन्ये वात्मानं पश्यति।।　　बृ० 30　　(II, 23)
3. गुरु–शिष्य सम्बन्ध　　फूलकान्त मिश्र　　(301–302)
4. अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
   वाक् चैव मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।।　　– म० स्मृ०　　(II, 159)

प्राचीन साहित्य में गुरु द्वारा शिष्य को अनुशासन में रखने के लिए विस्तृत निर्देश हैं। अनेक शास्त्रकरों का कथन है कि अधिक लाड प्यार करने से बालक बिगड़ जाते हैं। अतः उनको कठोर अनुशासन में रखने की आवश्यकता है। गलत आचरण करने पर उनको दंडित भी करना चाहिये। परन्तु आचार्य जब दंडित भी करते हैं, तो उनके हाथ अमृत से भरे होते हैं, विष से नहीं लाड करने से छात्र में अवगुण बढ़ते हैं तथा दंड का भय उनमें गुणों का आधान करता है क्योंकि इससे वे गलत मार्ग पर जाने से डरते हैं।[1]

शरीरिक दंड के संबंध में शास्त्रकारों का कथन है कि शिष्य के प्रति ताड़ना का उपाय अंतिम उपाय के रूप होना चाहिये। गुरु को चाहिये कि वह पहले शिष्य को समझावे, भय दिखावे, भोजन बन्द कर दे, ठडे जल में गोते लगवावे या अपने सामने ही संस्थासे निष्कासित कर दे।[2] यदि ताडना करनी ही है, तो सावधानी से करे। शिष्य द्वारा गंभीर अपराध करने पर उस पर रस्सी या खपच्ची से प्रहार करे। यह प्रहार शरीर के पृष्ठ भाग पर करना चाहिये। सिर या कोमल अंगों पर कभी भी प्रहार नहीं करना चाहिये।[3]

गौतम का कथन है कि आचार्य सामान्यतः शिष्यों को शारीरिक रूप से ताड़ना दिये बिना ही अनुशासन में रखे। यदि समझाने बुझाने या डराने धमकाने से शिष्य पर प्रभाव न हो, तो रस्सी से या बांस की खपच्ची से प्रहार करना चाहिये।[4] परन्तु गुरु यदि अन्य प्रकार से प्रहार करता है, तो राजा द्वारा दंडनीय होता है।

महाभाष्यकार शुद्ध स्वरों के उच्चारण पर विशेष बल देते थे। उनका कहना था कि छात्र यदि स्वर का अशुद्ध उच्चारण करता है उदात्त को अनुदात्त या अनुदात्त या अनुदात्त को उदात्त उच्चारण करता है, तो उसको चपत मार कर सावधान करना चाहिये।[5]

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य का कथन है कि गुरु की शय्या पर जाने वाले छात्र को गरम लोहे की शय्या पर गरम लोहमयी स्त्रीमूर्ति का आलिंगन करके लेटना चाहिये। अपने वृषणों को काट कर वह नैर्ऋत्य दिशा में अपने शरीर का त्याग करे। अथवा वह एक वर्ष तक कठोर प्राजापत्य व्रत का पालन करे। अथवा वैदिक

---

1. सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः। - महाभाष्य (XIII, 1,8)
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः।। (I,2. VIII, 29-30)
2. आ० ध० सू०
3. प्राप्तापराधास्तडयाः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा। - म० स्मृ० (VII, 299-300)
पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमांगे कदाचन। (II, 49-51)
4. गौ० ध० सू० - त्यागी एवं पाठक पृ० 69
5. भा० प्रा० शि० प०

संहिताओं का पाठ करते हुए तीन महीनों तक कठोर चान्द्रायण व्रत का पालन करे।[1]

याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है कि किसी स्त्री से परिचय हो जाने पर छात्र को अवक्रीर्त कहा जाता है। उसे नैर्ऋती देवता के सम्मान में एक गधे की बलि देनी चाहिये।[2]

स्मृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में अनुशासन की व्यवस्था कड़ी थी। मनु, गौतम और नारद ने व्यवस्था दी है कि साधारणतथा बिना मारे ही शिष्यों में अनुशासन और व्यवस्था बनाए रखना चाहिए।[3] यदि समझाने बुझाने से काम न चले तो ऐसी अवस्था में पतली रस्सी या बांस की पतली डंडी से मारना चाहिए। किसी अन्य प्रकार से दण्ड देने से गुरु राजा द्वारा दण्डित होता था। मनु और नारद का कथन है कि शिष्य को बहुत अधिक दण्ड नहीं देना चाहिए, यदि मारना हो तो रस्सी या बांस की छडी से पीठ पर ही मारे। सिर और छाती पर कभी न मारे।[4]

यदि कोई शिक्षक इस नियम के विरूद्ध मारता है तो उसे वही दण्ड मिलना चाहिए जो किसी चोर को मिलता है[5] मनु ने एक सुन्दर आदेश दिया है कि चरित्र सम्बन्धी सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा देते समय उचित है कि गुरु मधुर और शिष्ट भाषा का प्रयोग करे। आचारशिक्षा में मधुर व्यवहार आधिक लाभप्रद होता है।[6]

"शिक्षक-शिष्य सम्बन्ध"

शिक्षा पद्धति के दो प्रमुख स्तंभ है-गुरु और शिष्य। गुरु शिक्षा प्रदान करता है और शिष्य उसको ग्रहण करता है। अतः प्राचीन शिक्षा पद्धति को समझने के लिए आवश्यक है कि गुरु और शिष्य की विशेषताओं को जानने के साथ ही उनके पारस्परिक संबंधों की विशेषताओं का भी अवलोकन किया जावे।

---

1. तप्ते शयने सार्धमायणोस्या योषिता स्वपेत्।
   गृहीत्वोत्कृत्य वृषणौ नैर्ऋत्यां चोत्सृजेत् वपुः।
   प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रं समां वा गुरुतल्पगः।।
   चान्द्रायणं वा त्रीन् मासानभ्यसन् वेदसंहिताम्।। - याज्ञ० स्मृ० (III, 259,260)
2. अवकीर्णी भवेद् गत्वा ब्रह्मचारी तु योषिताम्।
   गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुध्यति।। वही- (II, 280)
3. गौ० स्मृ० (II, 21)
   म० स्मृ० VIII, 299-300
4. अवधेनाथवा शिष्यान् रज्ज्वा वेणुदलेन वा।। -ना० स्मृ० (12श्लोक)
5. क) म० स्मृ० - (VIII, 300)
   ख) गौ० स्मृ०- (II, 52)
6. म० स्मृ० (II, 159)

गुरु और शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध– गुरु और शिष्य के सम्बन्ध की विशेषता उपनिषदों के इस कथन से विदित होती है, जबकि अध्ययन के प्रारंभ में दोनों मिलकर प्रभु से प्रार्थना करते हैं– हे भगवन! आप हम दोनों गुरु और शिष्य की साथ साथ रक्षा करें। साथ-साथ हमारा पालन करें। हम साथ-साथ शक्ति को प्राप्त करें। हम दोनों की अधीत विद्या तेजोमयी हो और हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।[1]

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति में गुरु का विशिष्ट स्थान था। ज्ञान को प्राप्त करने के लिए गुरु की अनिवार्य आवश्यकता थी। अन्य से सुने बिना केवल तर्क वितर्क से ज्ञान प्राप्त नहीं होता।[2] शिष्य को चाहिए कि वह समित्पाणि होकर आचार्य की सेवा में उपस्थित हो।[3]

भारतीय शिक्षा-पद्धति में गुरु और शिष्य का पिता-पुत्र का संबंध था। शिष्य समित्पाणि होकर आचार्य के चरणों में उपस्थित होता है और आचार्य उपनयन संस्कार करा कर उस ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करता है।[4] आपस्तंब का कथन है कि आचार्य शिष्य को अपने पुत्र के समान स्नेह करे।[5] वसिष्ठ ने लिखा है कि श्रोत्रिय कभी सन्तानहीन नहीं होता। शिष्य ही उसकी संतान है।[6]

बाल्यावस्था में शारीरिक और बौद्धिक विकास की क्षमता अत्यधिक रहती है। इस समय साधारण आहार से ही शरीर का उतना उपचय होता है, जितना बाद में असाधारण आहार से भी सम्भव नहीं। ठीक इसी भांति ज्ञान की उपलब्धि इस अवस्था में जितनी हो सकती है, उतनी दूसरे समय शक्य नहीं हैं। इसलिए बाल्यावस्था ही शिक्षा का समुचित समय माना गया है। यद्यपि जीवन के अनिवार्य व्यवहारों की शिक्षा जगत् के दैनन्दिन प्रयोगों से भी मिल जाती है, किन्तु आहार-विहार के सामान्य धरातल से ऊपर उठने के लिए के लिए शास्त्रीय क्षेत्र में प्रवेश करना पडता है, किन्तु शास्त्रीय क्षेत्र के प्रवेश द्वार पर 'आचार्य' अन्तः प्रवेश के इच्छुको को अपने संनिधान में रखकर आचार और विचार की वह पूंजी देता है, जिससे दुर्गम शास्त्र

---

1. ओउम्। सह नाववतु सह नौ भुनक्तु। सह वीर्य करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। - कठो० उ० शान्तिपाठ
2. नरेणावरेण प्रोक्त एषः सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्टे गतिरत्र नास्ति अणोयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणम्।। - वही (I, 2,8)
3. तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्। समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। - मु० उ० (I, 10)
4. क) आचार्य उपनयमानो कृणुते ब्रह्मचारिणं गर्भगन्तः। - अ० वे० (XI, 5,3)
   ख) गौ० ध० सू० (I, 10)
5. पुत्रमिवैनमभिकांक्षन्। - आ० ध० सू० (I, 2, VIII, 24)
6. तस्माच्छ्रोत्रियमनचानमप्रजोऽसीति न वदन्तीति।। - व० ध० सू० (II, 10)

में प्रविष्ट होने तथा उसमें सुखपूर्वक विचरण करनें की सुविधाएं अनायास प्राप्त हो जाती है। बिना आचार्य के उपदेश के कोई भी इस शास्त्र जगत् में प्रवेश का अधिकारी नहीं हो सकता। गुरु परम्परा से प्राप्त की हुई विद्या ही फलवती होती है। गुरु के अंदर रहने वाली गोप्यतम विद्या भी श्रद्धा विश्वासपूर्वक शुश्रुषा करने वाले छात्र में उपसंक्रान्त हो जाती है। इसलिए गुरु के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान कर लेना आवश्यक हो जाता है। मनु ने गुरुओं के तीन भेद किए हैं- आचार्य, उपाध्याय और गुरु। इन तीनों का स्वरूप भी उन्हीं के शब्दों से समझ लेना चाहिए- जो "ब्राह्मम शिष्य का उपनयन कर यज्ञ, विद्या एवं उपनिषद् के सहित वेद पढ़ावें, उन्हें आचार्य कहा जाता है।[1]

'जीविका के लिए जो वेद के एकदेश या वेदांगों को पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहलाता है।[2]

'जो विप्र निषेक आदि कर्मों को विधिपूर्वक करता है और दूसरे उपायों से भी सम्माननीय बनाता है, वह गुरु कहलाता है।[3]

शिक्षक के इन तीनों भेदों में शिष्य को पूर्ण विद्वान की प्रवृत्ति है। केवल इतनी ही बात शिक्षक में आवश्यक नहीं है कि वह शिष्यो को जिस किसी भांति शास्त्रीय ज्ञान से परिचित या संयुक्त कर दे, अपितु उन उदात्त वृत्तियों को जीवन के सांचे में ढालने की श्रद्धा भी उनमें पैदा कर दे, जिससे ज्ञान और क्रिया का संयोग हो जाय। क्रिया के बिना ज्ञान तो भार हो जाता है। इसलिए आचार्य को शास्त्रोक्त धर्म का अनुष्ठाता होना चाहिए, क्योंकि आचरण से ही शिष्यों में धर्मानुष्ठानी की भावना उत्तम आचार और स्थिर की जा सकती है। उत्तम आचार और विचार की शिक्षा पाने पर ही चरित्र बल और बौद्धिक प्रकर्ष आ सकता है।

इसी प्रंसग में छात्रों के अनिवार्य गुणों का भी ज्ञान कर लेना आवश्यक है। उनमें उत्कट जिज्ञासा से भी अधिक 'गुरु-भक्ति' होनी चाहिए। शुश्रूषा से विद्या तो प्राप्त ही होती विनय और कर्मव्यता भी मिल जाती है। तो प्राप्त ही होती है। विनय और कर्मव्यता की मिल जाती है। ब्रह्मचर्य, संध्योपासन, अग्निहोत्र और गुरुशुश्रूषा से प्राप्त की हुई विद्या सहस्रगुणा उत्कर्ष लाती है। छात्र शब्द ही गुरु के दोषों कों छिपाने का स्वभाववाला होना बतलाता है।[4]

---

1. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विज :।
   सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य प्रचक्षते।। - म० स्मृ० (II, 140)
2. कदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गन्यपि वा पुनः।
   योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्चते।। -म० स्मृ० (II, 141)
3. निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
   सम्भावयति चान्येन स विप्रो गुरुरूच्यते।। - वही (II, 142)
4. क० शिक्षा० पृ० 47

श्रद्धालु शिष्य और वत्सल आचार्य के तप से ज्ञान की रश्मियाँ केवल संसार के अन्धकार को ही नहीं हटातीं, प्रत्युत अपनी शीतलता से त्रिविध ताप की उष्मा का भी अपासरण करती है। जैसे शिष्यों को अपने कर्त्तव्य-पालन का कठोर आदेश है, वैसे ही गुरुओं को भी कर्त्तव्योन्मुख करने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। कहा है कि 'आचार्य के पुत्र, सेवा करनवाले, अन्य विद्याकला सिखानेवाले, धार्मिक, पवित्र रहनेवाले, बान्धव, उपदेश धारण करने में समर्थ, धन देने वाले, साधु और स्वजन इन दस, व्यक्तियों को धर्मतः पढ़ाना शिक्षा प्रदान करना चाहिए।'[1] इस तरह गुरु शिष्य के संबंध को सम्बन्ध विद्या कहते है। इस प्रकार प्राचीन काल में गुरु के सरंक्षण में पला हुआ छात्र विविध ज्ञान विज्ञान के साथ-साथ ललित कलाओं में पारंगत होता था। 'साहित्य, संगीत और कलाओं से विहीन व्यक्ति सींग-पूंछ से हीन साक्षात् पशु हैं'[2]

आज की शिक्षा में पले हुए छात्रों में न प्रौढ़ ज्ञान आ पाता है और न तो चरित्र की निर्मलता ही। संयम और सादगी तो परिहासास्पद है। आचार्यों का सम्मान करना तो इनके आत्माभिमान के विरूद्ध है। इनकी अनुशासहीनता ही कर्मण्यता का प्रतीक है। आहार-विहार का नियन्त्रण ही औदार्य का पर्याय है विलासिता ही छात्र जीवन की सहचरी है। इस तरह आधुनिक शिक्षा-संस्थानों से शिक्षित व्यक्ति नौकरी के लिए लालायित, इन्द्रिय-दासता से जर्जर और भोगैषणा के शिकार होकर निकल रहे हैं। इन स्नातकों के शरीर में न बल है और न बुद्धि में तेज। इस तरह निर्बल और निष्प्रभ स्नातक ढालनेवाले विद्यामन्दिरों के आदर्श में आमूलचूल परिवर्तन न हुआ तो इस शिक्षा से लाभ के बदले हानि ही अधिकतर भोगनी पड़ेगी।

आज की शिक्षा का उद्देश्य केवल अर्थ है और वह अर्थ भी है काम का पूरक। इस तरह अर्थ और काम को ध्यान में रखकर ही शिक्षा में शिक्षा का लक्ष्य धर्म और मोक्ष था। साथ ही अर्थ और काम भी सर्वथा उपेक्षित न थे। अर्थकरी शास्त्रों में हैं किन्तु अर्थ और काम की उपासना से न शान्ति आ पाती है और न संतोष ही। 'अशान्तस्य कुतः सुखम्'- गीता का यह उद्घोष किसे मान्य नहीं। सुख ही तो सबका साध्य है और वह सुख शान्ति के गर्भ से प्रसूत होता है, अतः सुखेच्छु को शान्ति का पुजारी बनना ही पड़ेगा। वह शान्ति धर्म की उपासना से प्राप्य है और धर्म की निर्व्याज सेवा मुमुक्षा पैदा ही कर देती है। इस प्रकार संक्षेप में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरूषार्थों की प्राप्ति कर लेना ही समस्त साधनों का फल है।[3]

---

1. आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः। — म० स्मृ० (II, 109)
   आप्तः शक्तोऽर्थदः साधु स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः।।
2. साहित्यसंगीत कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः — भर्तृहरि 12श्लोक पृ० 48
3. क० शि०

यदि विद्या का ठीक ठीक उपार्जन हो तो आज भी इस क्रम का व्यावहारिक रूप सामने आ सकता है। विद्या तो मनुष्य को इतने ऊंचे आसन पर बैठा देती है। कि बरबस सभी लोगों का मस्तक इसके सामने नत ही हो जाता है। प्रमाण-पत्रों की प्राप्ति और बात है तथा विद्या की प्राप्ति और ही बात है। यह प्रतिष्ठा विद्या से ही मिलती है, डिग्रियों से नहीं। विद्या के साथ डिग्रियों का रहना अशोभन नहीं हैं। पर विद्या के बिना डिग्रियों की दुर्दशा तो सर्वविदित है। अतः शिक्षा के क्षेत्र में विद्या का अनुराग पैदा करना परमावश्यक है।[1]

आधुनिक शिक्षा में मनोवैज्ञानिकता की बड़ी चर्चा सुनायी पड़ती है। ठीक ही है, बिना मनोविज्ञान के सहारे शिक्षा का आरम्भ और उचित विनियोग सम्भव ही नहीं। प्राचीन समय में भी मनोविज्ञान का बड़ा उपयोग था। बच्चों की रूचि और प्रवृत्ति का सूक्ष्म अध्ययन करके उन्हें उस दिशा में अग्रसर करने की प्रणाली प्रचलित थी। मौहूर्तिकों को बाल मनोविज्ञान की शिक्षा देकर फलादेश की आज्ञा है-

'बच्चा जब पृथ्वी पर बैठने लगे, तब उसके सामने वस्त्र, शस्त्र, पुस्तक, लेखनी, सोना और चांदी रख देनी चाहिए। उनमें से बच्चा जो उठा ले उसी से जीविका का निर्देश करना चाहिए।' कितनी सूक्ष्म निरीक्षा है। जाबाल की परीक्षा में गुरु को सत्यवादिता मिली, जिससे गुरु ने उसे 'ब्राह्मण' कहा और सत्य विद्या का उपदेश किया। इसी तरह भार्गव बनकर शस्त्र-विद्या सीख लेनेवाले कर्ण को भी परशुराम ने उसके धैर्य और साहस से झट पहचान लिया और शाप भी दे दिया। इस प्रकार के अनेक उपाख्यानों से मनोवैज्ञानिक पद्धति की परम्परा का स्पष्ट पता चलता है। मनोविज्ञान का केवल शिक्षा के क्षेत्र में नहीं, अपितु जीवन के अन्य अवसरों पर भी प्रयोग होता था। हनुमान को स्वपौरूष का स्मरण कराना मनोविज्ञान की प्रणाली है। शल्य के द्वारा कर्ण का अवमान करना भी मनोवैज्ञानिक विधान ही है। इस तरह मनोविज्ञान् की चर्चा आज की तरह चाहे न रही हो, पर उसका प्रयोग तो प्रचलित ही था।[2]

गुरु शिष्य का उपनयन संस्कार संपन्न कर उसे महाव्याहृतिपूर्वक वेद पढ़ावे तथा उसे शौच एवं आचारों को सिखावें।[3]

इसके उपरान्त आचार्य शिष्य को यज्ञोपवीत संस्कार करा कर प्रथम शौच, आचार, अग्नि का कार्य और सन्ध्योपासनादि की शिक्षा करें।[4]

---

1. क० शि० पृ० 49
2. वही पृ० 49
3. उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
   वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्। - याज्ञ० स्मृ० (I, 15)
4. उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
   आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च।। -शंख स्मृ० (III, 1)

अविक्षिप्त चित्त से स्वाध्याय (वेदाध्ययन) के निमित्त गुरु की उपासना करें (उनके अधीन होकर उनकी परिचर्या करे)। गुरु द्वारा (अध्ययन के लिए) बुलाये जाने पर ही (अर्थात् स्वयं प्रेरित करके नहीं) पढ़े तथा जो कुछ प्राप्त हो उसे उन्हें निवेदन कर दे। मन, वाणी[1] और शरीर की क्रियाओं से उनका सदा हित करे अर्थात् प्रतिकूल आचरण न करे।[1]

पहले अग्नि में समिधें रखें, फिर गुरु की सेवा[2] करें और रात्रिकाल होने पर गुरु को नमस्कार कर उनकी आज्ञा से शयन करें।[2]

इस प्रकार प्रतिदिन अभ्यास करता हुआ ब्रह्मचारी व्रतों को करें और मधुर वाणी[3] से हितकारी वार्तालाप करें और भलीभांति से गुरु के कार्य को साधन करता रहे।

गुरु अपने हाथ से शिष्य का अंगूठा पकड़ कर "भो शिष्यतू पढ" यह कह कर बुलावे इसके उपरान्त शिष्य गुरु में अपने नेत्र और मन को लगाकर कुशाओं से अपने प्राणों को स्पर्श कर तीन प्राणायाम करे, आचमन का प्रमाण पन्द्रह बूंद तक है और पूर्व की ओर को अग्रभागवाली कुशाओं के आसन पर बैठ कर ॐकारपूर्वक पांच वा सात व्याहितयों का पाठ करें प्रातः काल में वेद पढने के प्रारम्भ और अन्त में शिष्य गुरु के चरणों को ग्रहण करे और गुरु की आज्ञा लेकर गुरु के दक्षिण भाग में पूर्व या उत्तर को मुख करके[4] बैठे प्रथम गायत्री तथा वेद और ॐकार के पढ़ने के समय भी इसी भांति बैठे।

आचार्य शिष्य के आवरण को दूर करके ज्ञान के प्रकाश से उसको आलोकित करता है। अज्ञानरूपी अन्धकार से ज्ञानरूपी दीपक आवृत रहता[5] है। गुरु उस आवरण को हटाकर शिष्य को चौदह विद्यायें प्राप्त कराता है।

गुरु न केवल भौतिक विद्यायें ही छात्र को पढ़ाता है, वह उसका आध्यात्मिक गुरु भी है। शिष्य की कमियों और निर्बलताओं का उत्तरदायित्व आचार्य को ही समझना चाहिए। यदि[6] शिष्य में कोई दोष है, तो उस दोष के लिए उसका आचार्य ही उत्तरदायी है।

(I, 26, 27)

1. याज्ञ० स्मृ०
2. समिधोऽग्नावादधीत ततः परिचरेद्गुरुम्।
   शयीत गुर्व्वनुज्ञातः प्रह्वश्च प्रथमं गुरोः।। - व्या० स्मृ० (I, 35)
3. एवमन्वहमभ्यासी ब्रह्मचारी व्रतं चरेत्।।
   हितोपवादः प्रियवाक्सम्यग्गुर्वर्थसाधकः।। - वही (I, 36)
4. पाणिना सव्यमुपसंगृह्यांगुष्ठाधीहि भो इत्यामंत्रयेत् गुरुः।
   तत्र चक्षुर्मनः प्राणोपस्पर्शनं दर्भैः प्राणायामा स्त्रयः पञ्चदश मात्राः प्राक्कूलेष्वासनं च पूर्वाव्याहृतयः
   पञ्चसप्तांता गुरोः पादोपसंग्रहणं प्रातर्ब्रह्मानुबचने
   चाद्यंतयोरनुज्ञात उपविशेत्। प्राङ्मुखो दक्षिणतः
   शिष्य उद्ड मुखों वा सावित्री चानुवचनमादितोब्रह्मण आदानें ॐकारस्यान्यत्रापि।
   - गौ० स्मृ० (प्रथमोऽध्याय)
5. यथा घटप्रतिच्छन्ना रत्नराजा महाप्रभाः।
   अकिञ्चित्करतां प्राप्तास्तद्वद्विधाश्चतुर्दश।। - याज्ञ० स्मृ० (I, 212 अपरार्क टीका।)
   अतीत्य बन्धूनवलंघ्य शिष्या नाचार्यमागच्छति शिष्यदोषः।। - पंच० (I, 21)
6. अतीत्य बन्धूनवलंघ्य शिष्या

आचार्य का कर्त्तव्य है कि शिष्य के लिए सदा सन्मार्ग का प्रदर्शन करे और उसके व्यवहार पर निगरानी रखे। वह शिष्य को समझावे कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए किस व्यवहार के प्रति उसको जागरूक रहना चाहिए और किसकी उपेक्षा करनी चाहिए। शिष्य की दिनचर्या उसके शयन और जागरण, उसके भोजन आदि का निरीक्षण करना चाहिए। यह सब आचार्य का कर्त्तव्य है।

आचार्य अपने शिष्य से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लेता। इसके विपरीत वह उसके भोजन वस्त्र निवास का प्रबंध करता है। शिष्य के रोगी होने पर वह उसकी चिकित्सा का प्रबंध करता है।

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति में गुरु और शिष्य का संबंध अति पवित्र माना गया था। यह गौरवपूर्ण और मधुर है। आचार्य शिष्यों के प्रति स्नेह करते हैं और उनको सब प्रकार से योग्य बनाते है। आचार्य के आदेशें का पालन करना और उनकी सेवा करना शिष्य भी अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

गुरुओं का सम्मान करना भारतीय शिक्षा-पद्धति में अति महत्वपूर्ण रहा है। विद्या की प्राप्ति के लिए गुरु की महत्ता निश्चय ही स्वीकार की गई थी। प्राचीन भारत में शिक्षा का प्रारंभ वेदों के अध्ययन से होता था। मंत्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए आचार्य के निर्देशें का पालन करना अनिवार्य था। उच्चारण की शुद्धता की रक्षा गुरूमुख से सीख कर ही की जा सकती थी। आचार्य अध्यापन के लिए शुल्क कोई शुल्क नहीं लेते थे। अतः वे अधिक सम्मान के पात्र थे। शास्त्रों का उपदेश है कि केवल पुस्तकों के अध्ययन से ही विद्या प्राप्त नहीं होती। गुरु के समीप रहकर अध्ययन न करने वाला विद्वान विद्वानों के मध्य में शोभित नहीं होता।[1]

आचार्य के सम्मान की रक्षा करना शिष्य का परम पुनीत कर्त्तव्य था। गुरु की निंदा को वह सहन नहीं कर सकता। गुरु की निंदा करना महान् अपराध था। यदि कोई अन्य व्यक्ति गुरु की निन्दा करता है तो शिष्य उसको सहन नहीं कर सकता। विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' नाटक में लिखा है जो शिष्य अपने गुरु की आज्ञा का उल्लंधन करते हैं या उनको अपमानित करते हैं, उनका हृदय लज्जा से फट जाना चाहिए।[2]

(क) शिष्य के व्यवहार के चार चरण- गुरु शिष्य के पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने चार महत्वपूर्ण चरणों को प्रतिपादित किया हैं डा० राधा कुमुद मुकर्जी ने इनका विवरण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है[3] -

---

1. पुस्तकप्रत्याधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ।
   भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इवं स्त्रिय :।। - परा० स्मृ० (XIII, 8)
2. ये सत्यमेव हि गुरुनतिपातयन्ति।
   तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा।। - मुद्रा० (III, 33)
3. एं० इं० एं० - मुकुर्जी राधाकुमुद पृ० 330-331

क) **प्रथम चरण**- माता पिता केवल पार्थिव शरीर को उत्पन्न करते हैं, जो जीर्ण हो जाता है। गुरु द्वारा प्रदत्त शिक्षा पवित्र है। वह कभी भी जीर्ण नहीं होती, नष्ट नहीं होती। गुरु के प्रति माता-पिता के समान सम्मान का व्यवहार करना चाहिए। उनके प्रति कभी पाप का व्यवहार न करें। शिष्य को चाहिए कि गुरु का प्रतिदिन सम्मान करे। वह मन को पवित्र और केंद्रित करके अपने अध्ययन में प्रवृत्त रहे।

(ख) **द्वितीय चरण**- शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह कर्म से, मन से शरीर से और धन से गुरु की सेवा करे। वह गुरु की इच्छाओं को पूरा करे। शिष्य को चाहिए कि वह गुरु की पत्नी और पुत्रों के प्रति भी सम्मान प्रदर्शित करे।

(ग) **तृतीय चरण**- शिष्य को चाहिए कि वह गुरु के घर से तब तक न जावें, जब तक कि वह गुरु के ऋण से मुक्त न हो जावे। वह विनम्र भाव से गुरु द्वारा निर्दिष्ट गुरु दक्षिणा अर्पित करे।

(घ) शिष्य को चाहिए कि वह गुरु के द्वारा प्रदत्त शिक्षा और उपदेशों के महत्त्व का अनुभव करे। उसको यह विचार करना चाहिए कि गुरु ने ही मेरा समुचित विकास किया है।

गुरु के प्रति शिष्य का भाव पावन और उदात्त था। इसी प्रकार गुरु का शिष्य के प्रति भाव स्नेह और सम्मानयुक्त होता था। गुरु मेधावी छात्रों को शिक्षा[1] देने में आनन्द का अनुभव करते थे। दोनो का सम्बन्ध पिता और पुत्र जैसा[2] था। याज्ञवल्क्य ने गुरु को माता की कोटि में रखकर, दोनों को पूज्य बताया है। इस प्रकार गुरु-शिष्य का माता पुत्र जैसा सम्बन्ध था। द्विजातियों के दो मान्य जन्म होते थे। पहला जन्म माता के गर्भ से और दूसरा जन्म उपनयन[3] संस्कार से माना जाता था। द्वितीय जन्म का तात्पर्य गुरु से ज्ञान की प्राप्ति से[4] था। मनु के अनुसार द्वितीय जन्म की माता गायत्री और पिता आचार्य होता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार गुरु द्वारा बुलाये जाने पर शिष्य अध्ययन करता था। उसे जो कुछ प्राप्त होता था वह सब गुरु के चरणों में अर्पित[5] कर देता था। मन, वाणी, शरीर और कर्मों द्वारा उनके अनुकूल कार्य करता था। गुरु भी विद्यार्थी के रोगग्रस्त हो जाने पर उसकी सेवा[6] करता था, औषधि देता था और उसके साथ पिता की तरह व्यवहार करता था।

---

1. आ० ध० सू० (I, 2/8)
2. याज्ञ० स्मृ० (I, 34-35)
3. वही - (I, 39)
4. तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धन चिह्नतम्। तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वचार्य उच्चते।। - म०स्मृ० (II, 169-70)
5. याज्ञ० स्मृ० (I/27)
   सौजात जातक (18/ 2-20)
6. क) हर्षचरित -सर्ग-2 पृ० 105-106, ख) रामायण सर्ग पृ० 93 (XIII, 40-42)
   ग) महा० आदि०

याज्ञवल्क्य के अनुसार गुरु के कार्य का सम्पादन करने में कभी-कभी शिष्य को अपने प्राणों की आहुति भी दे देनी पड़ती थी, (उसे रास्ते में जंगली पशु मार डालते थे) इस पाप से मुक्ति पाने के लिए गुरु तीन कृच्छ्र-व्रत करते थे।[1] गुरु के विपरीत कार्य करने पर शिष्य उन्हें प्रसन्न करके ही शुद्ध होता था। इस प्रकार याज्ञवल्क्य के इस उल्लेख से लगता है कि वे सैद्धान्तिक-दृष्टि से शिष्य को गुरु सेवा मे एक निष्ठ देखना चाहते थे। दशकुमार चरित में गुरु की प्रशंसा की गयी हैं तथा शिष्य को उसका अनुवर्ती होने का संकेत किया गया है चन्द्रापीड़ ऐसा ही कर्त्तव्य निष्ठ शिष्य था।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गुरु-शिष्यों से पुत्रवत् व्यवहार करते थे। उन्हें न केवल शिक्षा देते थे वरन् उन्हें भावी जीवन को अच्छी तरह जीने के लिए तैयार भी करते थे। इसके साथ ही शिष्य भी गुरुओं के प्रति तत्कालीन समाज एवं परम्परा द्वारा मान्य व्यवहार करते थे।

ज्ञान इस लोक का हो, परलोक का हो या आत्मा का हो, जिससे उसे प्राप्त करना है, उसे सबसे पहले नमस्कार करे। शिक्षक और शिष्य का सम्बन्ध ऐसा होना चाहिए कि शिक्षक के प्रति शिष्य को गौरव और श्रद्धां हो तथा शिष्य के प्रति गुरु मे वात्सल्य हो तभी शिक्षण का अच्छा फल मिलेगा। पूर्वकाल के आश्रमों मे गुरु शिष्यों में यही सम्बन्ध था। आजकल के बहुत से विद्यालयों में ऐसा सम्बन्ध न होने से प्रजा शिक्षण प्राप्त करके भी शान्त और सुखी नहीं है।[3]

शिष्य के व्यवहार को देखते हुए गुरु के भी अनेक व्यावहारिक कर्त्तव्यों का निर्देश प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता हैं। इनमें से दो मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं:-

क) गुरु को चाहिए कि सभी शिष्यों के प्रति समान व्यवहार करें। शिष्यों को शिक्षा देने में किसी प्रकार का भेद भाव न करें।[4]

ख) शिष्यों के लिए वह सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान करें, जो उसके पास है। किसी भी ज्ञान को छिपावे नहीं। अपना सम्पूर्ण ज्ञान वह शिष्य को प्रदान करे।[5]

---

1. याज० स्मृ० (II, 283)
2. दश० च० पृ० 21-22.
3. लौकिकं वैदिकं वापि तथाऽऽध्यात्मिकमेव च।
   आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्।। म० स्मृ० (II, 117)
4. वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जड़े।
   न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।। उ०रा०च० (II, 4)
5. नाहमिमं वेद। यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नाऽवाद्यमिति।।
   समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।। -प्र० उ० (VI, ।।)

गुरु शिष्य का संबंध केवल अध्ययन काल तक नहीं है, परन्तु वह जीवन पर्यंत का संबंध है। गुरु-शिष्य का परस्पर संपर्क शिष्य द्वारा विद्याध्ययन की अवधि को पूरा करने के बाद भी बना रहता है। विद्या प्राप्त करके घर जाने के अनंतर भी शिष्य गुरु की सेवा में आते रहते थे और अपने गुरु के लिए कुछ उपहार अवश्य अपने साथ लाते थे।[1] आचार्य या गुरु भी कभी-कभी अपने शिष्यों के घरों पर जाते थे। वे यह देखते थे कि उनका शिष्य अपनी अध्ययन की गयी विद्या का उपयोग किस प्रकार कर रहा है।

आचार्य अपने शिष्यों के लिए अति आदरणीय थे। तथापि यह आवश्यक था कि वे गुणी हों, गौरवशाली हों और शिष्यों के प्रति कल्याण की भावना से संभृत हों। गुरु के दुर्वृत्त होने, उद्धत होने, कुमार्गगामी होने या कार्य अकार्य को न जानने वाला होने पर शिष्य को उसका तयाग कर देना चाहिए।[2]

साहचर्य में पांच विद्याओं का व्याख्यान किया है सबसे पहले ऐसा कहा है कि हम दोनों का साथ साथ रहने से यश बढ़े, ऐसा करना चाहिए। गुरु शिष्य ये दो यहां इष्ट है। समाज में गुरु और शिष्य साथ रहें और परस्पर एक दूसरे की सहायता करें, जिससे कि इन दोनों का यश बढे। गुरु शिष्य को स्वच्छ पवित्र अन्तः करण से उत्तम ज्ञान देवे और शिष्य गुरु की सेवा करें। इस प्रकार दोनों ज्ञान का प्रचार करके दोनों का यश बढ़ावें। (ब्रह्मवर्चस) ये दोनों ज्ञान से प्राप्त होने वाला तेज भी बढा दें। यह इच्छा इस अनुवाक में कही है, क्योंकि जो प्रगति होनी हैं, वह गुरुशिष्य के प्रेमपूर्ण साहचर्य से ही होनी है। इसलिए ये गुरु शिष्य मिलकर अपना यश और ज्ञान तेजी से बढ़ावें। अतः तेजस्वी और यशस्वी बनें।[3]

गुरु के द्वारा संसार प्रकाशित होता है उससे बढ़के कुछ नहीं है।[4] शिष्य का कर्त्तव्य बनता है कि गुरु के पास ध्यान लगाकर विनम्रस्वभाव से शिक्षा ग्रहण करें। गुरु का भी कर्त्तव्य है कि वह पवित्र भाव से उसे शिक्षा ग्रहण करवाए।[5] इस प्रकार गुरु शिष्य के संबंध में कहा गया है कि हम दोनों समान रूप से बढें, हमारे ब्रह्मतेज की भी वृद्धि हो। इस प्रकार हम लोकों, ज्योतियों, विद्या, संतति, शरीर, पन्च अधिकरण और संहिता के उपनिषद् व्याख्या करेंगे। यह सब महासंहिता

---

1. आ० ध० सू० (II, 8,22)
2. बालरामायण - (IV, 3)
3. तै० उ० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर पृ० 43
4. येत सर्वमिदं प्रकाशितम्। कोऽन्य तस्मात्परः।
   य जीवन्मुक्तो भवति स जीयन्तमुक्ते भवति। यं एव वेद। यं एवं वेद।। जा० उ० पृ० I, I
5. गुरुरप्येवविच्छुची देशे पुण्यनक्षते प्राणानायम्य
   पुरुषं ध्यायन्नुपसन्नाय शिष्याय दक्षिणकर्णे पुरुष सूक्तार्थमु पदिशेद्विद्वान्। नबहुशोवदेत्। यातयामो भवति।
   असकृत्कर्णसुपदिशेत। एतत्कुर्वाऽध्यापकश्च इह जन्मनि पुरुषोभवतीत्युपनिषत्।।- मु० उ०(15 खण्ड)

कही गई है। उसमें प्रथम लोक संबंधिनी है। पृथ्वी पूर्व दिशा रूप और स्वर्ग उत्तर दिशा रूप है, स्वर्ग और पृथ्वी की सन्धि रूप वायु इन दोनों का नियामक है। यह लोक संबंधिनी संहिता है।[1] विद्या संबंधी संहिता के बारे में कहा है कि गुरु इस का पूर्वरूप है, शिष्य उत्तररूप है और विद्यासन्धि है अतः प्रवचन ही संधान है।[2]

गुरु-शिष्य परम्परा का सशक्त परिणाम में रैक्वों और गोरा-अंगीरस के संवादों में वेद की शिक्षा का वर्णन है।[3] गुरु जिस भी प्रकार और जैसा भी आदेश दे शिष्य को बिना विचारे उसका पालन करना चाहिए।[4] गुरु के ऊपर परम भक्ति रखने से ही वेद की शिक्षा ग्रहण होती है।[5] गुरु-शिष्य को उपदेश द्वारा ज्ञान देता है। यह उपदेश मुख द्वारा होता है। यह बताने के लिए कहा है कि "नीचली हनु, ऊपरीली हनु, वाणी और जिह्वा इनके द्वारा यह उपदेश देते हैं।" मुख के ये भाग, जिह्वा और वाक्-इन्द्रिय इनमें दोष रहा, तो उपदेश ठीक नहीं हो सकता। इसलिए इन उपदेश साधनों का यहां वर्णन किया है।

इस उपदेश के समय वर्ण (अक्षर-स्वर और व्यंजन), स्वर (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा सप्तस्वर), मात्रा (हस्व, दीर्घ, प्लुत), बल (किसी पद पर जोर देना), साम (आलाप) और संतान (अक्षर और वेदों का क्रम से उच्चारण) इनका प्रयोग करना होता है। जिसके उच्चारण में यह बातें ठीक होती हैं, उसका प्रवचन प्रभावशाली होता है। अपना प्रवचन प्रभावशाली हो इसके लिए गुरु और शिष्य को प्रयत्न करना चाहिए और प्रवचन प्रभावशाली बनें ऐसा यत्न करना चाहिए।[6]

---

1. सः नो यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अर्थातः
   संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पंचस्वधिकरणेषु अधिलोकमधिज्यौतिषमधि विद्यमधिप्रजमध्यात्मम्।
   ता महासंहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवीपूर्वरूपम्। धौरूत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायु सधानम्। इत्यधिलोकम्।। - तै० उ० प्र० अनु० पृ० 141
2. अथाधिविद्यम। आचार्य पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युतररूपम्।
   विद्या सन्धिः। प्रवचनं साधनम्। इत्याधिविघम्।। - वही पृ० 142
3. अथ हैन रैक्व .... वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्। - सु० उ० (II खण्ड)
4. तस्य दास्यं सदा कुर्यात् प्रज्ञया परया सह।
   शुभ वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि।।
   तत्कुर्यादविचारिण शिष्यः संतोषसंयुतः।
   हंस विद्याभिनां लब्ध्वां गुरु शुश्रूष्या नरः।। - ब्र० उ० (27-28 श्लोक)
5. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
   तस्येते कथिता हार्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।
   इत्यतेन्निर्वाणानुशसनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ।। - म० ब्रा० उ० (2 श्लोक)
6. तै० उ० - श्रीपाद दामोदर सातवलेकर पृ० 68

गुरु शिष्य परम्परा से ज्ञान प्राप्त होता है। शिष्य प्रश्न पूछता है, गुरु उस शिष्य का समाधान करता है और प्रवचन द्वारा रहस्य समझा देता है। इस रीति से गुरु[1] अपने पास का सब ज्ञान शिष्य को देता है और शिष्य को अपने जैसा बना देता है। ब्रह्मविद्या के अनुसार गुरु उत्तम से उत्तम हो और शिष्य भी उत्तम हो। अतः इन दोनों के प्रयत्न से ज्ञान का प्रसार विश्व में खूब होता रहे।[2] शिष्य को गुरु के वाक्यों को स्मरण करके सदैव अभ्यास में लगे रहना चाहिए।[3] गुरु अपने शिष्य को केवल महावाक्य का उपदेश न दे। अपितु छंदांगों से युक्त महावाक्य का उपदेश दे।[4]

जो मनुष्य एक अक्षर के शिक्षा देनेवाले गुरु का सम्मान नहीं करते वह सौ जन्म तक कुत्ते के जन्म को भोगकर अन्त में चांडाल हो जाते हैं।[5]

गुरु के समाने सदा सामान्य अन्न, वस्त्र और वेश से रहें और गुरु के पहिलें उठे और पीछे सोवें।[6]

बैठे हुए गुरु को खडे होकर, खड़े हुए को सामने जाकर, आते हुए के कुछ पद आगे जाकर, दौडते हुए के पीछे दौडकर उनसे बातचीत करें।[7]

गुरु मुंह फेरें हों तो उनके सामने जाकर दूर हों तो पास जाकर सोते और बैठे हों तो प्रणाम करके वार्तालाप करें।[8]

गुरु के समीप इसका पलंग और आसन सदा नीचा रहे और गुरु की आंखों के सामने मनमाने आसन से न बैठें।[9]

---

1. तै॰ उ॰ - श्रीपाद दामोदर सातवलेकर — पृ॰ 69
2. - वही - — पृ॰ 36
3. सर्वव्यापारमुत्सृज्य योगनिष्ठो भवेद्यतिः।
अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमध्यसेत्तदहर्निशम्।। - योग॰ उ॰ (79 श्लोक)
4. श्रवण तु गुरोः पूर्व मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णबोधस्य कारणम्।।
अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं नश्वरं भवेत्।
ब्रह्मविद्यापरिज्ञानं ब्रंह्मप्राप्तिकरं स्थितम्।। - शु॰ उ॰ (13-14 श्लोक)
5. एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिमन्यते।।
शुनां योनिशतं गत्वा चाण्डालेष्व भिजायत।। - अ॰ स्मृ॰ (I, 10)
6. हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्।। - म॰ स्मृ॰ (II, 194)
7. आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धांवस्तु धावतः।। - म॰ स्मृ॰ (II, 196)
8. पराङमुखस्या भिमुखो दूरस्यस्यैत्य चान्तिकम्।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः।। - वही (II, 197)
9. नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्।। - वही (II, 198)

गुरु के पीठ पीछे भी उनका खाली नाम न लें और उनकी गति, बोलचाल और चेष्टा की कदापि नकल न करें।[1]

जहां गुरु की बुराई वा निदां होती हो वहां कानों को बंद कर लेना चाहिये वा वहां से और जगह चला जाना चाहिये।[2]

शिष्य गुरु की बुराई से गधा, निन्दा से कुत्ता, उनके धन भोगने से कृमि और उनके साथ डाह करने से कीट होता है।[3]

शिष्य दूर से (किसी के द्वारा) क्रुद्ध होकर वा स्त्री के पास बैठा हुआ गुरु का पूजन न करे, और जो सवारी पर बैठा हो तो उतर कर गुरु को प्रणाम करो।[4]

जहां गुरु के बैठने से प्रदेश से शिष्य के बैठने के प्रदेश को वायु चलती हो और शिष्य के बैठने के प्रदेश से गुरु के बैठने के प्रदेश को चलती हो वहां गुरु के साथ न बैठे, और जहां गुरु सुनने न पावें वहां कोई बात न कहे।[5]

बैल, घोड़ा वा ऊंट जुती हुई सवारी तथा महल में बिछाई चटाइयों पर, और शिला तख्त तथा नौका पर गुरु के साथ बैठ जाये।[6]

गुरु के गुरु (परम गुरु) के पास में गुरु के समान आचरण करे और गुरु के समीप में रहता (निवास करता) हुआ शिष्य (ब्रह्मचारी) गुरु की आज्ञा के बिना (माता, चचा आदि) गुरुजनों का अभिवादन न करें।[7]

उपाध्याय आदि अन्य (आचार्य को छोडकर दूसरे) विद्या गुरुओं में, चाचा, मामा, मोसा आदि स्वबन्धुओं में, अधर्म का निषेध करने वालो (धर्मोपदेश करने वाले) तथा हित के उपदेश देने वालों में गुरु के समान आचरण करें।[8]

बडे लोगों में, श्रेष्ट गुरुपुत्रों में और गुरु के बंधुओं में नित्य गुरु के समान ही बर्ताव करें।[9]

---

1. नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्। न चैवास्यनुकुर्वीर्ति गतिभाषित चेष्टितम्।।- वही (II, 199)
2. गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्त्तते। कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः।।-वही(II, 200)
3. परीवादात्खरो भवित श्वा वै भवति निन्दक। परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी।। म० स्मृ०(II, 201)
4. दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः यानासनस्थश्चैवेनमवरूह्याभिवादयेत्।।- वही (II, 202)
5. प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह।असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत्।।- वही (II, 203)
6. गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासद्दस्त्रस्तरेषु कटेषु च। आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च।।- वही(II, 204)
7. गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्धत्तिमाचरेत्। न चानि सृष्टो गुरुणा स्वान्गुरुनभिवादयेत्।- वही (II, 205)
8. विद्या गुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिर्शस्वपि।।
   - वही (II, 206)
9. श्रेयःसु गुरुवद्धतिं नित्यमेव समाचरेत्। गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु।।
   - वही (II, 207)

गुरु का पुत्र अवस्था में अपने से छोटा(कम आयुवाला) हो, समान (बराबर) हो, अध्ययन या अध्यापन करता हो, यज्ञकर्म में ऋत्विक् हो, या ऋत्विक् रूप में यज्ञ दर्शन के लिए आया हो तो वह गुरु के समान(यजमान का) पूज्य है।[1]

जो ब्रह्मचारी गुरु के कुल में अपने जीवन तक वास करना चाहे तो शरीर के अंत तक सावधानी से गुरु की सेवा करे।[2]

ब्रह्मज्ञान पाने के लिए समिधाएं हाथ में लेकर ब्रह्मनिष्ठ गुरु का समिध एं हाथ में लेकर ब्रह्मनिष्ठ गुरु का आश्रय लें क्योंकि केवल किए हुए कर्मों से ही परमेश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती।[3] उस शिष्य रूप में आए हुए ब्राह्मण को ज्ञानी गुरु ब्रह्मविद्या का उपदेश करें, जिससे शिष्य को सत्य स्वरूप अविनाशी ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान हो सके।[4] गुरु शिष्य परम्परा का उल्लेख आध्यात्मोपनिषत् में आपंगतरतम् नाम के शिष्य को गुरु के द्वारा निर्वाण का उपदेश देने के संबंध में लेता है[5]

ज्ञान का प्रचार करना है तो गुरु और शिष्य इन दोनों में मेधाबुद्धि होनी चाहिए।[6] मेधा न होंगी तो प्राप्त किया हुआ ज्ञान बुद्धि में स्थिर नहीं रह सकता। ज्ञान प्राप्त करने के इस अधिकरण में माता और पिता का महत्त्व है, इस प्रकार "माता पूर्वरूप, पिता उत्तररूप, प्रजासिन्ध और प्रजनन साधन हैं" ऐसा कहा है। माता सदाचारिणी और सुशिक्षत हो, सद्गुणी हो, पिता भी ज्ञान विज्ञान सम्पन्न हो, कर्त्तव्यवान् हो तेजस्वी, ओजस्वी और वर्चस्वी हो, तो ऐसे सुयोग्य माता-पिता से जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह सुप्रजा होगी। इस प्रकार ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति ऐसी सुयोग्य माता-पिता की संतान में ही हो सकती है। अतः 'सुवर्गलोक' का निर्माण सुयोग्य माता पिता के सुयोग्य सन्तान उत्तम आचार्य द्वारा पढ़ावे जाने पर जो लोग तैयार होंगे वे ही कर सकते हैं। इस प्रकार ऐसे सज्जनों का ही प्रवेश सुवर्गलोक में हो सकता है। संक्षेप में उत्तम माता-पिता की उत्तम संतति हो सकती है।

---

1. बालः समानजन्मा वा शिष्यों वा यज्ञकर्मणि अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति।।
   - वही (II, 208)
2. यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले युक्तः परिचरेदे न माशरीर विमोक्षणात्।।
   - वही (II, 243)
3. परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणों निर्वेदमाया न्नास्त्यकृतः। कृतेन।।
   तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः क्षोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। -मु० उ० (12 श्लोक)
4. तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
   येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।। - म० उ० (13 श्लोक)
5. एतां विद्यामपन्तरतमाया ददौ। अपान्तरतमो ब्रह्मवे ददौ। ब्रह्म घोराङ्गिरसे ददौ। घोराङ्गिरा रैक्वाय ददौ। रैक्वो रामाय ददौ। रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येन्निर्वाणानुशसनं वेदानुशासनं वेदानुशासनमित्युपनिषत्।।
   - आ० उ० (71 श्लोक)
   ए. ७१
6. तै०

पिता की उत्तम संतति हो सकती है। सुयोग्य माता की उत्तम संतान को आचार्य सद्विद्या देवे तो वह विद्या भी सफल होती है और ऐसे ज्ञानियों का ही प्रवेश 'सुवर्गलोक' में हो सकता है।[1]

गुरुओं की मिथ्या तथा आधिक्य से निन्दा, वेद की निन्दा, मित्र का वध तथा अधीत (वेद) का (असच्छास्त्रों के अध्ययन या आलस्य से) विनाश करना ये ब्रह्महत्या के समान पाप हैं।[2]

किसी कार्य पर भेजे गये शिष्य की (हिंस्र, पशु आदि द्वारा) मृत्यु होने पर गुरु तीन कृच्छ्र व्रतों को करें।[3]

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष था, किसी संस्था के माध्यम से नहीं होने के कारण स्वाभाविक रूप से उनके सम्बन्ध घनिष्ठ और प्रेमपूर्ण थे। साधारण बात पर शिष्य गुरु का परित्याग नहीं करता था। गुरुजनों को भी अपने शिष्यों से प्रगाढ़ वात्सल्य हो जाता था। कभी-कभी तो वे अपनी पुत्रियों के लिए पति चुन लेते थे। समावर्तन के बाद भी गुरु और शिष्य के सम्बन्ध पूर्ववत् घनिष्ठ बने रहते थे।[4]

आधुनिक शिक्षा प्रणाली की एक बड़ी देन यह समझी जाती है कि बच्चों, छात्रों को कक्षा में मारा पीटा न जाय, किन्तु आज से 5000 वर्ष पहले गौतम ने लिखा दिया था कि छात्रों को शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए। यदि उसके सुधार का काई उपाय न हो तो पतली रस्सी या बेंत से मारे। यदि अध्यापक किसी अन्य प्रकार से छात्र को पीटे तो राजा को उसे दण्ड देना चाहिए।[5] मनु ने भी यही कहा है-पतली रस्सी या बाँस की छड़ी से मारना चाहिए और वह भी शरीर के किसी कोमल अङ्ग पर नहीं।[6] 'यदि डराने, उपवास कराने ठण्डे पानी मं स्नान कराने या कक्षा से निकाल देने पर भी न सुधरे तो शारीरिक हलका दण्ड दें।[7]

मनु ने गुरुकुल में रहकर जीवन पर्यन्त गुरु की सेवा का आदेश दिया है तथा गुरुसेवा का फल ब्रह्मप्राप्ति बताया है।[8] मनु का कथन है कि माता-पिता और गुरु इन तीनों की सेवा से ही मनुष्य की सब इच्छाएं पूर्ण होती हैं। इनकी सेवा न करने से सब कर्म निष्फल रहते हैं[9] मनुष्य माता की सेवा से इस लोक

---

1. तै० उ० — पृ० 71
2. गुरुणामध्यधिक्षेपों वेदनिन्दा सुहृद्वधः।
   ब्रह्महत्यासमं ज्ञेयमधीतस्य च नाशनम्। — याज्ञ० स्मृ० III, 228
3. कृच्छ्रत्रयं गुरुः कुर्यान्म्रियते प्रहितो यदि। — याज्ञ० स्मृ० III, 283
4. प्रा० भा० सा० आ० सं० — कैलाशचन्द्र जैन पृ० 169
5. गौ० स्मृ० (II, 42-44)
6. म० स्मृ० (VII, 299-300)
7. आ० ध० सू० (I/2, VIII, 28-29)
8. म० स्मृ० (I, 243-244)
9. म० स्मृ० (II, 234)

को, पिता की सेवा से मध्यलोक को और गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।[1] शंख का कथन है कि गुरुपूजा से ही ब्रह्मचारी ब्रह्मलोक को जाता है, स्नान या यज्ञादि से नहीं।[2] लघुआवश्वलायन से गुरु को पिता बताया है तथा सदा मान्य कहा है।[3] बौधायन ने आचार्य, पिता और माता की सेवा का फल सूर्यवत् तेजस्विता, बतलाया है।[4] गौतम ने सब प्रकार से गुरुसेवा करने को आदेश दिया है।

गुरु दक्षिणा-गौतम ने विद्या की समाप्ति पर गुरु को दक्षिणा देने का विधान किया है, इसके पश्चात् ही वह स्नातक होता था।[5] लघु आश्वलनायन का भी मत है कि अपने ऐश्वर्य के अनुसार गुरु को दक्षिणा दें। दक्षिणा में सुवर्ग, वस्त्र, धान्य आदि का विधान था।[6]

मनु, याज्ञवल्क्य और गौतम के अनुसार विद्वानों एवं विद्यार्थियों की आजीविका की व्यवस्था करना राजा का कर्त्तव्य था। राज्य में कोई ब्राह्मण भूखा न मरे, यह देखना राजा का कर्त्तव्य था। यदि गुरु विद्या समाप्ति पर शिष्य से अधिक धन मांगे तो शिष्य राजा के पास पहुंचता था।[7]

शिष्य का विद्याध्ययन समाप्त होने के पश्चात् शिष्य को आचार्य दीक्षान्त समय का अन्तिम उपदेश करता है।

सत्य बोल, धर्माचरण कर, स्वांध्याय करता रह, आचार्य को योग्य दक्षिणा दे, गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर उत्तम संतान कर और प्रजातन्तु का उच्छेद न कर, जैसे यतिधर्म वाले संतति विच्छेद करते हैं। अपनी उन्नति के कार्य में प्रमाद न कर, योग्य आचार व्यवहार कर, श्रेष्ठों के सच्चरित्रों का अनुकरण कर, उनके दुश्चरित्रों का अनुकरण न कर, दान दे, श्रद्धा से दान दे। यदि किसी विषय में

---

1. इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
   गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते।। - म० स्मृ० (II, 233)
2. शंख० स्मृ० (V, 9)
3. लधु० स्मृ० (X, 39-41)
4. बौधा० स्मृ० (VIII, 8)
5. विद्यान्ते गुरुरर्थेन निमन्त्र्यः ततः कृतानुज्ञातस्थ व स्नानम्।।
   - गौ० स्मृ० (2 अध्याय)
6. दद्याद् विभवसारेण कर्माङ्गत्वेन दक्षिणाम्। - लघु० स्मृ० X, 42
7. क) आवृत्तानां गुरुकुलाद विप्राणां पूजको भवेत्।
   नृपाणामक्षयो ह्येष, निधिर्ब्राह्मेऽभिधीयते।। - म० स्मृ० (VII, 82)
   ख) भोगांश्च दधाद्विप्रेभ्यो, वसूनि विविधानि च।
   अक्षयोऽयं निधी राज्ञां यद्विप्रेषूपपादितम्।। - याज्ञ० स्मृ० (I, 315)
   ग) गौ० स्मृ० (X, 9-12)

संदेह उत्पन्न हुआ तो वहां जो विशेष ज्ञानी, अनुभवी, निःपक्ष पुरुष होंगे, वे उस विषय में जैसा आचरण करेंगे वैसा तू अपना आचरण कर। इस प्रकार यह उपदेश सबको माननीय है।[1]

हमारे शिक्षा शास्त्री आग्रह करते हैं कि प्रत्येक स्नातक को पाठशालाओं में पढ़ें हुए ग्रन्थों को किसी न किसी अंश की आवृत्ति प्रतिदिन नियमित रूप से करनी चाहिए। क्योंकि विद्यालय से निकलने के बाद अधिकाश विद्यार्थी अधीत ज्ञान भूल जाते हैं। समावर्त्तन के समय आचार्य स्वाध्याय मे प्रमाद न करने के लिए विशेष रूप से उपदेश करता है।[2]

मनु और बृहस्पति के अनुसार विद्याध्ययन की समाप्ति पर समावर्तन या व्रतान्त संस्कार होता हैं। शिष्य गुरु को गुरुदक्षिणा देता हैं, इसमें शिष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन, सुवर्ण, भूमि, वस्त्रादि कुछ भी दे सकता है। समावर्तन संस्कार के पश्चात् गुरुदक्षिणा देकर गुरु की आज्ञा प्राप्त कर शिष्य विवाह का अधिकारी है।[3]

विद्या ने किसी ब्राह्मण के पास आकर कहा-मैं तुम्हारा कोष हूँ, मेरी रक्षा करो, मेरी निन्दा करने वाले के लिए मुझे मत दो। इससे मैं अत्यन्त वीर्यवती होऊंगी।[4] और जिसे तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो, विद्यारूपी कोष रक्षा करने वाले अप्रमादी उस ब्राह्मण के लिए मुझे कहो। (उसे पढ़ावो)[5]

वेदाध्ययन कराने के अनन्तर आचार्य शिष्य को उद्‌बोधित करते हुए सदाचार, संयम, शील, सत्य, स्वाध्याय सत्संग और सन्मार्गदर्शन की शिक्षा अनुपम रीति से प्रदान करते हैं। वे धर्मनियन्त्रित अर्थ और काम के द्वारा मोक्षोपयोगी जीवन जीने की अद्‌भुत विद्या का दिग्दर्शन कराते हैं। साथ ही 'श्रद्धा' वह है जो श्रद्धेय में स्थित दोषों का दर्शन कर 'श्रद्धेय के प्रति हेयभाव उदित न होने दे और हेयगुणों में गुणबुद्धि न कराये।' इस अनुपम रहस्य का भी प्रतिपादन करते हैं। प्रायः आचार्य बल-विशेष के बल पर स्वभाव सिद्ध दोष और दुर्बलताओं से शिष्य को अवगत न कराकर अन्धानुकरण की अपेक्षा रखते हैं। साथ ही अपने से भिन्न किन्हीं सन्मार्गगामी सत्पुरूष के मार्गदर्शन का भी निषेध करते हैं। श्रौत आचार्य ऐसा नहीं करते। वे

---

1. तै० उ० - श्रीपाददामोदर सातवेलकर पृ० 63
2. स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।। - तै० उ० पृ० 11
3. क) म० स्मृ० (II, 245- 246 III, 4)
   ख) बृह० स० (I, 264)
4. विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टऽस्मि रक्षमाम्।
   असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा।। - म० स्मृ० (II, 114)
5. यमेवतुशुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
   तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने।। - म० स्मृ० (II, 115)

देव-पितृकार्यो से विमुख नहीं[1] करते। माता-पिता आचार्य के प्रति कृतज्ञ तथा अतिथि के प्रति अनुरक्त बनाते हैं-

समावर्त्तन संस्कार अन्तिम शैक्षणिक संस्कार है। इससे शिक्षा एवं ब्रह्मचारी की स्थिति का अन्त होता है। समावर्त्तन का अर्थ है वेदाध्ययन के पश्चात् घर की ओर पुनः प्रस्थान। इस संस्कार के लिए कोई निश्चित आयु निर्धारित नही है। विद्यार्थी जीवन की समाप्ति जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अवसर था। उसी समय विद्यार्थी को जीवन के दो भागों में से किसी एक का चुनाव करना पड़ता था एक था प्रवृत्ति मार्ग, जिसमें विवाह कर सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों को स्वीकार करते हुए व्यस्त सांसारिक-जीवन में प्रवेश करना। दूसरा मार्ग था। निवृत्ति मार्ग। इसे स्वीकार करने वाले सांसारिक-बंधनों से दूर रहकर मानसिक तथा शारीरिक तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करते थे। जो विधार्थी प्रथम मार्ग[2] चुनते थे, वे 'उपकुर्वाण' और दूसरा मार्ग ग्रहण करने वाले 'नैष्ठिक' कहलाते थे।

'ओ3म्' शब्द 'ब्रह्म' है, ओ3म् ही विश्व है 'ओ3म्' ही अनुकृति है, गुरुदेव! सुनाओ ओ3म् से ही साम गायक, सामगान करते हैं, ओ3म् -ओ3म् कहते हुए ही शास्त्र पढे जाते हैं ओम् से ही अग्नि होत्र की आज्ञा दी जाती है ओ3म् का उच्चारण करता हुआ अध्ययन प्रारम्भ करने वाला ब्राह्मण ब्रह्मा को प्राप्त करने की बात कहता है। ओम् के प्रभाव से ब्रह्म की प्राप्ति है। ब्राह्मण जब वेदाध्ययन के पूर्व 'ओ3म्' शव्द का उच्चारण करता है तो उसके पीछे यही भावना रहती है वह ब्रह्मा के सन्निकर पहुंच सके।[3] 'ओ3म्' को प्रणव कहा गया है। वेदाध्ययन के आरम्भ एवं अन्त में प्रणव दुहराना चाहिए, 'ओ3म्' के तीन अक्षर अर्थात् 'अ' 'उ' एवं 'म्' तथा तीन व्याहतियां प्रजापति द्वारा तीनों वेदों से साररूप में खींच ली गई हैं, विद्यार्थी को वेदाध्ययन के आरम्भ में तथा गृहस्थ को ब्रह्मयज्ञ में 'ओ3म्' का उच्चारण अवश्य करना चाहिए।[4] 'ओ3म्' को तीनों वेदों का अन्त, ब्रह्मज्ञान

---

1. देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव।
पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्यवसितव्यम। अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ता, अलूक्षा धर्मकायाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथा। - तै० उ० (1, 11)
(I, 49)
2. क) याज्ञ० स्मृ०
ख) हि० सं० - राजबली पाण्डेय पृ० 188
3. ओमिति ब्रह्म। ओमिती दूँसर्वम। औमित्येतदनुकृतिह स्म वा अप्यों श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओँ शोमिति शस्त्रणि शँसन्ति।
ओमित्यध्वर्युः प्रतिगिरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रस्तौति। औमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मै वोपाप्नोति।। - तै० उ० (अ० अनु०)
4. ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्तें च सर्वदा।
स्त्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशोयेति।। - म० स्मृ० (II, 74)

का उद्गम एवं इसका प्रतीक माना गया है।[1]

वेदाध्ययन के पश्चात् आचार्य अपने शिष्य को शिक्षा देता है कि सदा सत्य बोलो, धर्माचरण करो, स्वाध्याय में आलस्य न करो, आचार्य को इच्छित दक्षिणा दो फिर गृहस्य धर्म का पालन करो, सत्य का न छोड़ो, धर्म से न हटो, श्रेष्ट कर्मो से न डिगो, उन्नति के साधनों और शास्त्रादि के पठन पाठन को छोडों तथा देवता और पितरों के कर्मो से विरत न होओ।[2]

माता-पिता को देवता समान समझो, आचार्य को देवता समझो, अतिथि को देवता मानो, दोष रहित कर्मों को करो, श्रेष्ठ चरित्र बनाओ, अपने से श्रेष्ठ ब्राह्मण को उच्च आसन दो, दान श्रद्धापूर्वक और अपनी स्थिति के अनुसार दो, परन्तु बिना श्रद्धा के दान न दें। दान लज्जा और भयपूर्वक दे। (अर्थात दान न देने में लज्जा आनी चाहिए और भय भी) जो दान दे वे विवेक बुद्धि से दें।)[3]

कर्त्तव्य निर्णय की शंका उपस्थित होने पर परामर्श कुशल धर्म की कामना करने वाले ब्राह्मण जिस प्रकार का आचरण करें, वैसा ही आचरण करना चाहिए यदि किसी उपराध का आरोप हो और उसके सम्बन्ध में कुछ शंका हो तो भी व्यवहारकुशल एवं धर्मज्ञ ब्राह्मण के अनुसार ही आचरण करें। यही आदेश एवं उपदेश हैं, वेदों का रहस्य भी यही है, इसी को अनुशासन कहा गया है।[4]

उपनयन संस्कार के बाद समावर्तन संस्कार होने तक की अवधि अध्ययन की अवधि है। अनेक धर्मशास्त्रों में अध्ययन की अवधि का निर्देश किया गया है। सामान्यतः उपनिषदों से विदित होता है कि ब्रह्मचर्य (अध्ययन) की यह अवधि बारह वर्ष की थी। बारह वर्ष तक अध्ययन करके शिष्य प्रायः आचार्यकुल से चले जाते थे। श्वेतकेतु आरूणेय ने पिता के आदेश से बारह वर्षो तक वेदों का अध्ययन और

1. क० उ० (I, 2, 15-17)

2. वेदमनुच्याचार्योऽन्तेवासिन मनुशास्ति। सत्यं वद। धर्म चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहत्य प्रजातन्तुं मां व्यवच्छेत्सीः सत्यन्न प्रमदितव्यम। धर्मान्न प्रमदिव्यम। कुशलान्त प्रमदितव्यम। भूत्यं न प्रमदितव्यम। स्वाध्यायप्रवनाभ्यां न प्रमदितव्यम। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम

- तै० उ० (10 अनु)

3. मातृदेवो भव। पितृदेवो भवा आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचारितानि। तानि त्वायोपास्यानि। नो इतनराणि। ये के चास्मच्छेयांसो ब्राह्मणः। तेषां स्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। हिवया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।। - तै० उ०

4. अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्त विचिकित्सा वा स्यात्। ये यत्र ब्राह्मणः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तप्र वर्तेथाः। अयाभ्याख्या तेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एषः आदेशः एषः उपदेशः एषा वेदापनिषत् एतदनुशसनम्। एवमुपासितव्यम्। एवम् चैतदुपास्यम्।

- वही

चौबीस वर्ष की आयु होने पर यह अध्ययन पूरा हुआ।[1]

परन्तु अध्ययन की यह अवधि लंबी भी हो सकती थी। इन्द्र ने प्रजापति के यहां 101 वर्षों तक विद्यार्थी के रूप में निवास किया।[2] अनेक शास्त्रकारों ने वेदों के अध्ययन का समय 48 वर्ष निर्धारित किया है, जो कि प्रत्येक वेद के लिए बारह वर्ष है 'तैत्तिरीय ब्राह्मण'[3] 'गोपथ ब्राह्मण'[4] और 'पारस्कर गृह्यसूत्र'[5] में वेदाध्ययन की अवधि 48 वर्ष कही गई है।

प्राचीन शिक्षा पद्धति में वेदों के अध्ययन को बहुत महत्व दिया गया था। वैदिक यज्ञों के लिए वेदों के अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता थी। यह अध्ययन तीन वर्णों के लिए विहीत था। कालांतर में वैदिक साहित्य के विशालतर हो जाने पर इसकी सुरक्षा भी आवश्यक हो गई। इससे अध्ययन में भी बहुत समय लगता था। यह स्वाभाविक भी था। मनु ने निर्धारित किया है कि 36 या 15 या 9 वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वेदों का अध्ययन करना चाहिये। वेद का अथवा वेदों का अध्ययन क्रमशः हो। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए यथाक्रम वेदों का अध्ययन करके मनुष्य को गृहस्थी होना चाहिए।[7] महर्षि दयानन्द ने सुश्रुत संहिता के संदर्भ से ब्रह्मचर्य की आयु 24-30-36-40-44-88 वर्ष कही है।

समावर्त्तन के बाद भी गुरु और शिष्य के संबंध पूर्ववत् घनिष्ठ बने रहते थे। गृहस्थ हो जाने पर भी बार बार गुरु के दर्शन करना तथा उपहार भेंट करना, चाहे वह दातौन क्यों न हो, शिष्य का कर्त्तव्य था। ऐसे अवसरों में शिष्य के गुरु भी अपने पुराने शिष्यों के घर जाया करते थे। इस प्रकार के अवसरों से शिष्यों को भी लाभ थे। आचार्य अपने शिष्यों से उनके स्वाध्याय के संबंध में पूछताछ करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि छात्र जीवन की समाप्ति के अनन्तर भी गुरु और शिष्य की घनिष्ठता में किसी प्रकार का शैथिल्य न आता था।[8]

---

1. उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास।
   तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन् परिचचार। स ह स्माऽन्या-नन्तेवासिनः समावर्तयंस्तं ह स्मैव न समावर्तयति।
   - छा० उ० (VIII, 11,3)
2. स ह द्वादशवर्षमुपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीर्तय ......।- वही (VI, 1,2)
3. तान्येकशतं सपेदुरेतत्तद् यदाहुरेकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास।।
   - वही (VIII, 11, 3)
   (III, 10-11)
4. तै० ब्रा० (11, 5)
5. गो ०ब्रा० (II, 5)
6. पा० गृ० सू०
7. षट्त्रिशंदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदकिं व्रतम्। तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा।।
   वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
   अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्।। म० स्मृ० (III, 1-2)
8. प्रा० भा० शि० प० - डॉ० अ० स० अलतेकर पृ० 48

भूः भुवः स्वः ये तीन अव्यय (नष्ट न हो) महाव्याहृती है महः, जनः, तपः, सत्य और गायत्री और शिरः।[1]

"आपो ज्योति रसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वः।। यह शिरोमंत्र है प्रत्येक मन्त्र के आगे और शिरोमन्त्र के पीछे उपकार का उच्चारण करें।[2]

यह सात व्याहृति और गायत्री यह शिरः मन्त्र है ऊँपकार को इन दशों का प्राणों को रोककर जो व्याहृति और गायत्री यह शिरः मन्त्र है ऊँपकार और इन दशों को प्राणों को रोककर जो जप किया जाता है उसे प्राणायाम कहते हैं।[3]

शिक्षण संस्थाएं एवं अर्थव्यवस्था :-

प्राचीन भारत के इतिहास से पता चलता है कि विभिन्न युग में विभिन्न संस्थायें थीं। प्रागैतिहासिक काल में साहित्य और व्यवसाय की शिक्षा परिवार में ही दी जाती थी। जब शिक्षा का विकास होने लगा तथा विशेषाध्ययन की ओर लोगों की रूचि बढनी लगी तो पंडितो ने अपनी पाठशालाएं आरम्भ की। इसके पश्चात् संगठित शिक्षण संस्थाओं का जन्म हुआ। बिहार और मंदिर क्रमशः विश्वविद्यालयों और मठों में परिणत हो गए।

स्वतन्त्र अध्यापक सर्वदा से प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली के मुख्य आधार थे। प्रागैतिहासिक काल में विभिन्न वेदों के अनुयायियों ने परिषद्, शारवा और चरण के रूप में अपने पृथक्-पृथक् संघ बना लिए थे। हिन्दू धर्मशास्त्रों में वेदों का पठन पाठन ब्राह्मण का धर्म माना गया है। परन्तु यदि किसी आचार्य के यहां शिष्यों की संख्या बढ जाती या तो वह किसी विद्वान को अपना सहायक बना लेता था या ज्येष्ठ और विद्वान शिष्यों को नौसिखुओं के अध्यापन का कुछ भार दे देता था। किन्तु इनसे आचार्य की पाठशाला के स्वतंत्र रूप में कोई फर्क न आता था। इस प्रकार यहां केवल इतना ही बतला देना पर्याप्त होगा कि प्राचीनकाल में एथेंस में भी शिक्षा का कार्य ऐसे स्वतंत्र एथेंस में भी शिक्षा के लिए सर्वजानिक पाठशालाएं पाठशालाओं को जन्मदाता माना जाता है, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसकी योजना भी ठप्प पड गयी थी।[4]

आधुनिक युग में जिस प्रकार का महत्त्व शिक्षण संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों को प्राप्त है, प्राचीनकाल में गुरुओं को इसी प्रकार का विशेष महत्त्व प्राप्त था।

---

1. भूराद्यास्तिस्र एवैता महाव्याहृतयोऽव्ययाः।।
   महर्जनस्तपः सत्यं गायत्री च शिरस्तथा।। - का० स्मृ० (XI, 6)
2. आपोज्योतिरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरिति शिरः।
   प्रतिप्रतीकं प्रणवमृच्चारयेदन्ते च शिरसः।। - वही (XI, 7)
3. एता एतां सहानेन तथैभिर्दशभिः सह।।
   त्रिर्जपेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्चते।। - का० स्मृ० (XI, 8)
4. क) प्रा० भा० सा० आ० सं० - डॉ० कैलाशचन्द्र जैन पृ० 170
   ख) प्रा० भा० शि० प०- पृ० - डॉ० अ० स० अलतेकर पृ० 56-57

अपरिपक्व बुद्धि के बालकों को अपने संरक्षण में लेकर अध्यापक उन्हें योग्य नागरिक बनाता था। प्रागौतिहासिक काल में(1000ई०पू०) साहित्यिक तथा व्यावसायिक सभी प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था परिवार में ही होती थी। किन्तु कालान्तर में साहित्य क्षेत्र में प्रचुर वृद्धि हो जाने के कारण विशिष्ट विषयों में लोगों की रूचि बढ़ने लगी। फलस्वरूप विभिन्न विषयों के पण्डितों ने पृथक्-पृथक् अपनी पाठशालाएं खोल लीं। ये ही पाठशालाएं गुरुकुल अथवा आश्रम के नाम से प्रसिद्ध हुई। ईसा की प्रथम शताब्दियों में ये गुरुकुल ही शिक्षा की विशिष्ट संस्थाएं हुआ करतीथी। यद्यपि इस समय में बौद्ध विहारों में विश्वविद्यालयों की तथा मन्दिरों में महाविद्यालयों की स्थापना भी हो गयी थी किन्तु फिर भी विशेष महत्त्व उन्हीं पण्डितों को प्राप्त था जो अपनी निजी पाठशालाएं चलाते थे। तक्षशिला एवं काशी शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे किन्तु वहां पर भी शिक्षा की कोई सार्वजनिक संस्था न थी अपितु विभिन्न विषयों के विद्वानों ने इन्हें अपना निवास स्थान बना रखा था। वे स्वतन्त्र रूप से अध्यापन कार्य करते थे। दूर-दूर से विद्यार्थी गुरु की कीर्ति सुनकर उनके पास अध्ययनार्थ आते थे। इस प्रकार प्राचीन काल में गुरुकुलों को विशेष महत्त्व प्राप्त था। स्मृतियों में ऐसे ही गुरुकुलों की चर्चा प्राप्त होती है।[1]

पांच वर्ष के बाद बालकों को गुरुकुल तथा बालिकाओं को कन्यागुरुकुलों में प्रविष्ट कराएँ।[2] बालकों और बालिकाओं के गुरुकुलों सर्वथा पृथक्-पृथक् होने चाहिएं। बालक और बालिकाओं का पृथक्-पृथक् उपनयन संस्कार होना चाहिए। तत्पश्चात् वे गुरुजनों के नियमों व आदेशों का पालन करें। सूत के तीन धागों से बना हुआ, एक ग्रन्थि वाला, यज्ञोपवीत होना चाहिए। यज्ञोपवीत से मनुष्य का शरीर दिव्य हो जाता है, उस दिव्य देह के पिता आचार्य होते हैं और माता गायत्री। माता-पिता द्वारा उत्पन्न शरीर भौतिक शरीर होता है, किन्तु आचार्य के उपदेश से दिव्य शरीर की उत्पत्ति होती है।[3]

शिष्य परीक्षण : गुरु एक वर्ष शिष्य की परीक्षा करे और जब उसे आचारयुक्त, मनस्वी और हितचिन्तक समझे, तब उसे वेद, शास्त्र और पुराणों की शिक्षा दे। एक वर्ष शिष्य की परीक्षा लेने से शिष्य के समस्त दोषों का नाश हो जाता है।[4]

---

1. क) भा० सं० ना० - डॉ० लता सिंहल पृ० 152
   ख) भा० प्रा० शि० प० - कृष्ण कुमार पृ० 71-72
2. भृगु० स्मृ० (VI, 3,8)
3. पंचर्षोत्तरं बालबालिका गुरुवेश्मनि। गच्छेयुः बालकाः पुंभिः स्त्रीभिश्चाधिष्ठितेऽपराः।।
   कृपोपनयनास्तत्र, कुर्युर्गुर्वनुशासितम्। यज्ञोपवीतमेकैकं धारयेयुर्निरन्तरम्।।- वही (VI, 3,4)
4. एवमाचारसम्पन्नमात्मवन्तं सदा हितम्। वेदं धर्मपुराणं च, तथा तत्वानि नित्यशः।
   संवत्सरोषिते शिष्ये, गुरुर्ज्ञानं विनिर्दिशेत्। हरते दुष्कृतं तस्य शिष्यस्य वत्सरे गुरुः।।
   - औश० स्मृ० (III, 33-35)

शिक्षा की अवधि- उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थों मे प्रत्येक वेद के अध्ययन की अवधि बारह वर्ष कही हैं। चारों वेदों के अध्ययन में 48 वर्ष का समय लगता था।[1] बृहस्पति ने चारों वेदों के अध्ययन को श्रेष्ठ बताया है।[2] याज्ञवल्क्य ने प्रत्येक वेद के लिए 12 वर्ष का समय निर्धारित किया है। यह समय पांच वर्ष का भी हो सकता था। इस प्रकार चारों वेदो के अध्ययन के लिए 48 वर्ष या कम से कम 20 वर्ष का ब्रह्मचर्य अपेक्षित था।[3] मनु का कथन है कि प्रत्येक द्विज को विवाह-संस्कार के पूर्व कम से कम एक, नहीं तो दो या तीन वेद अवश्य पढने चाहिएँ। मनु ने तीन वेदों के लिए 36 वर्ष, दो वेदों के लिए 24 वर्ष और एक वेद के लिए 12वर्ष समय निर्धारित किया है[4] इससे स्पष्ट है कि स्मृतियों में शिक्षा की अवधि को ब्रह्मचर्य की अवधि माना है।

गुरुकुल प्रणाली प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति की प्रमुख विशेषता थी। स्मृतियों मे वर्णित उपनयन संस्कार ब्रह्मचारी के गुरुकुल प्रवेश के अनुमति पत्र के समान था। उपनयन संस्कार द्वारा बालक को द्विजन्मा कहा जाता था। उसका पहला जन्म माता से तथा दूसरा गुरु (ज्ञान सम्बन्धी) से माना जाता था।[5] अतएव उपवीत धारण करने का अर्थ था अनिवार्य रूप से द्विजातियों का शिक्षा प्राप्ति के लिए सन्नद्ध होना।[6] मनु ने आचार्य को शिष्य का मानस पिता माना है इसी कारण यज्ञोपवीत धारण करने पर शिष्य को द्विजन्मा कहा है।[7] स्मृतियों में व्यवस्था दी गयी है कि उपनयन के बाद से विद्यार्थी को आचार्य के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में रहना चाहिए,[8] मनु ने कहा है कि विद्यार्थी को गुरु की सेवा में लीन रहना चाहिए, गुरु के पश्चात् सोना तथा गुरु के पूर्व उठना चाहिए।[9] तथा भिक्षा में प्राप्त भोजन पहले गुरु के सम्मुख उपस्थित करके तब ग्रहण करना चाहिए।[10] अग्निहोत्र में आचार्य की सहायता

---

1. क) छा० उ० (IV, 10,1)
   ख) गोपथ ब्रा०- (II,5)
2. अधीत्य चतुरो वेदान्, सषडंगपदक्रमान्। - बृ० सं० पृ० 227
3. प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दिकानि पञ्च वा।
   याज्ञ० स्मृ० (I, 36)
4. म० स्मृ० (III, 1-2)
5. क) अ०वे० (XI, 5)
   ख) म० स्मृ० II, 148
   ग) भा० शि० इति० - बी० पी० जौहरी एवं पाठक पृ० 15
6. India as described by Manu -V.S. Agarwal Page 11
7. म० स्मृ० (II, 1)
8. क) उपवीती माणवको वसेद् गुरुकुलेषु च। - हा० स्मृ० (III,1)
   ख) म० स्मृ० (II, 164)
9. - वही (II, 182, 194)
10. समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नमायया।
    निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः -वही (II, 51)

भी करनी चाहिए।[1] शिष्य के इन सभी कर्त्तव्यों को देखते हुए स्पष्ट हो जाता है कि अवश्य ही शिष्य गुरुकुल में निवास करते होंगे तभी वे इन कर्त्तव्यों के पालन में समर्थ हो सकते थे, इसी प्रकार अध्ययन समाप्त कर लेने पर किए जाने वाले 'समावर्त्तन' का अर्थ है गुरु के कुल या आश्रम से अपने घर लौटना।

इस काल में गुरुकुल प्रणाली को विशेष महत्त्व दिया जाता था। ब्रह्मचारी प्रारम्भ में अल्पायु एवं अपरिपक्व बुद्धि वाला होता था अतएव बाल्यकाल से आचार्य के उत्तम चरित्र, संरक्षरण एवं निकट सम्पर्क में रहने से उसके चरित्र पर निःसन्देह बहुत अच्छा प्रभाव पडता था। इसके अतिरिक्त गुरूकुल में वह अपने अग्र-विद्यार्थियों के सम्पर्क में रह कर शीघ्रता से उन्नति करता था। उस समय में आचार्य प्रायः ग्रहस्थ होते थे अतएव इनके सम्पर्क में रहकर विद्यार्थी गृहस्थ जीवन का आदर्श भी जान लेते थे। गुरुकुल प्रथा के कारण धनी परिवारों के पथभ्रष्ट बालकों का सुधार भी हो जाता था तथा विद्यार्थी अधिक दक्ष, आत्मनिर्भर एवं व्यवहार चतुर बन जाते थे। गुरुकुल मे निवास न करने पर विद्यार्थी में वैसी लगन व कुशलता नहीं आ पाती जैसी गुरुकुल में वास करने वालों में आती है।[2] अतएव विशेष महत्त्व गुरुकुल प्रणाली को ही प्राप्त था।

गुरुकुलों की स्थापना प्रायः वनों, उपवनों तथा ग्रामों या नगरों में की जाती थी। वनों में गुरुकुल बहुत कम होते थे। अधिकतर दार्शनिक आचार्य निर्जन वनों में निवास, अध्ययन तथा चिन्तन पसन्द करते थे। वाल्मीकि, सन्दीपनि, कण्ड आदि ऋषियों के आश्रम वनों में ही स्थित थे और इनके यहां दर्शन शास्त्रों के साथ-साथ व्याकरण, ज्योतिष तथा नागरिक शास्त्र भी पढ़ाये जाते थे।[3] अधिकांश गुरुकुल गांवों या नगरों के समीप किसी बाग अथवा वाटिका में बनाये जाते थे।[4] जिससे उन्हें एकान्त एवं पवित्र वातावरण प्राप्त हो सके। एक तो गृहस्थ आचार्यो को सामग्री एकत्रित करने में सुविधा थी, दूसरे ब्रह्मचारियों को भिक्षाटन में अधिक भटकना नहीं पडता था। ब्रह्मचारी को गुरु के कुल में, अपनी जाति वालों में तथा कुल बान्धवों के यहां से भिक्षा याचना नहीं करनी चाहिए, यदि भिक्षा योग्य दूसरा घर नहीं मिले तो पूर्व-पूर्व गृहों का त्याग करके भिक्षा याचना करनी चाहिए।[5] इससे स्पष्ट होता है गुरुकुल गांवों के सन्निकट ही होते थे। स्वजातियों से भिक्षा याचना करने में उनके पक्षपात तथा ब्रह्मचारी के गृह की ओर आकर्षण का भय ही रहता था अतएव

---

1. म० स्मृ० (II, 176)
2. महा० भा० (XIII, 36,15)
3. वही (I, 91)
4. नित्यानध्याय एवं स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च। -म० स्मृ० (IV, 107)
5. गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्व-पूर्व विवर्जयेत्।। - वही (II, 184)

स्वजातियो से भिक्षा याचना का पूर्ण निषेध कर दिया गया था। बहुधा राजा तथा सामन्तों का प्रोत्साहन पाकार विद्वान पण्डित उनकी सभाओं की ओर आकर्षित होते थे। औधिकतर उनकी राजधानी में ही बस जाते थे। जिससे वे नगर शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे। इनमें तक्षशिला, पाटलिपुत्र कान्यकुब्ज, मिथिला धारा, तंजौर आदि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार तीर्थ स्थानों की ओर भी विद्वान आकृष्ट होते थे। फलतः काशी, कर्नाटक, नासिक आदि शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र बन गये।[1]

प्राचीन भारतीयों का मत था कि सहवास और अनुकरण का विद्यार्थी के चरित्र– निर्माण और बुद्धि बल की वृद्धि में बडा महत्वपूर्ण भाग होता है, उनका कथन है कि पंडितों के सहवास और अनुकरण से मूर्ख विद्यार्थी की भी बुद्धि कुछ सीमा तक सुधर सकती है।[2] इसी कारण विद्यार्थी को आचार्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण में रखने के लिए गुरुकुल की व्यवस्था की गई थी। प्राचीन साहित्य में नामानदिष्ट तथा कृष्ण की कथाओं से स्प्ष्ट है कि विद्याथिर्यो को गुरुकुल में निवास करने को भेजा जाता था।[3] उपनयन संस्कार के पश्चात् विद्यार्थी गुरुकुल में रहने को भेज दिए जाते थे। आचार्यो के व्यक्तिगत और प्रत्यक्ष सम्पर्क का उन पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता था। गुरुकुल व्यवस्था विद्यार्थियों को अनुशासित, आत्मनिर्भर और व्यवहार चतुर बना देती थी।[4]

सहवास और अनुकरण का प्रभाव विद्यार्थी पर न केवल गुरुकुल में रहते हुए होता था, किन्तु शैशव अवस्था में भी। इस कारण प्राचीन भारतीयों ने शिक्षा के क्षेत्र में कुल को बड़ा महत्व दिया है। उनका मत था कि गर्भाधान के समय से ही बालक पर कुल से संस्कार प्रभाव डालने लगते हैं, जो उसके चरित्र का निर्माण करते हैं।[5]

वर्ण व्यवस्था का भी शिक्षा पर गहरा प्रभाव रहा है क्योंकि ऐसा माना जाता है कि इसने व्यवसायों को अलग अलग लोगों के लिए निश्चित कर दिया है। अध्ययन और अध्यापन का कार्य ब्राह्मणों का था तथा वैदिक साहित्य के अतिरिक्त दर्शन, व्याकरण, साहित्य जैसे नये शास्त्रों के अध्ययन व प्रकृति में भी अपना समय लगाते थे। जातकों से पता चलता है कि ब्राह्मण तक्षशिला में सैन्यकाल, शल्यचिकित्सा नागवशीकरण आदि विषयों की शिक्षा देते थे। क्षत्रियों और वैश्यों को उपनयन के अनन्तर वेदाध्ययन करना पड़ता था, किन्तु यह अध्ययन गहन व दीर्घकालीन कभी न था। सुदीर्घकाल तक वेदों के संरक्षण के लिए लिपि की सहायता नहीं ली गई। ऐसा विश्वास था कि वेदों के उच्चारण में यदि स्वर और मात्रा की

1. भा० सं ना० – डा० लता सिंहल पृ० 154-155
2. म० भा० (VI/1/30)
3. छा० उ० (IV/10/31)
4. प्रा० भा० सा० आ०सं० – कैलाचन्द्र जैन पृ० 164
5. प्रा० भा० सा० आ०सं० – कैलाचन्द्र जैन पृ० 165

अल्प त्रुटि भी हो जावेगी तो देवता कुपित हो जाएंगे। वैदिक संस्कृत शूद्रों की मातृभाषा न थी फलतः यह डर था कि इनको गलत पढ़ाने के उच्चारण में कहीं इनका रूप ही न बदल जाय। ब्राह्मणों का अध्ययन और अध्यापन पर एकाधिकार नहीं था। बल्कि कुछ अन्य वर्ण वाले बड़े विद्वानों का होना का ज्ञात होता है साथ ही यह भी संभव नहीं था कि सब ब्राह्मण ही कुशल अध्यापक हो जायें, अन्य ब्राह्मण सैनिक और व्यापार का कार्य भी करते थे।[1]

छात्रावासों का प्रबन्ध

प्राचीन भारत में गुरु के प्रत्यक्ष निरीक्षण में रहकर विद्योपार्जन श्रेष्ठ माना जाता था। अतएव अधिकांश विद्यार्थी गुरुकुलों में ही रहते थे। गुरुजन अपने घर पर ही विद्यार्थी के आवास निवास की व्यवस्था करते थे। भोजन का कार्य भिक्षा वृत्ति द्वारा चलता था अथवा अध्यापक के गृह में भी व्यवस्था हो जाती थीं।[2] उस समय गुरु के पास एक साथ प्रायः पन्द्रह से अधिक विद्यार्थी नहीं पढते थे।[3] कभी कभी तो केवल चार विद्यार्थी ही एक गुरु के अधीन अध्ययन करते थे[4] अतएव उनके भोजन व निवास की व्यवस्था करना गुरु के लिए कोई कठिन कार्य नहीं होता था। किन्तु गुरु के विद्यार्थियों का प्रबन्ध करने में असमर्थ होने पर विद्यार्थी अपने रहने का प्रबन्ध स्वयं करते थे।[5]

अध्यापन कार्य में विद्यार्थी से धन मांगना अध्यापक के लिए अत्यन्त निन्दनीय माना जाता था। गुरु निर्धन से निर्धन विद्यार्थी को भी पढाने से मना नहीं कर सकता था। जो गुरु विद्या के लिए[6] मोल भाव करता था उसको विद्या का व्यवसायी कहकर हेय समझा जाता था।[7] ऐसे अध्यापको को धार्मिक अवसरों पर ऋत्विक् के कार्य के अयोग्य कहा गया। किन्तु गुरु के पढाये हुए एक भी अक्षर द्वारा शिष्य उसका ऋणी समझा जाता था। अतएवं समावर्त्तन के अवसर पर शिष्य गुरु-दक्षिणा के रूप में सामर्थ्यानुसार गुरु को धन देते थे। जो अत्यन्त निर्धन होते थे वे गुरु की गृहस्थी में सेवा-कार्य करके तथा समावर्तन के समय भिक्षा मांग कर गुरु दक्षिणा देते थे। वस्तुतः राजा और प्रजा दोनों का कर्त्तव्य था कि वे विद्वान आचार्यो एवं शिक्षण संस्थाओं को मुक्त हस्त दान दें।

---

1. क) प्रा० भा० शि० प० - अ० स० अज्तेकर पृ० (30-31)
   ख) प्रा० भा० सा० आ०सं० - कैलाचन्द्र जैन पृ० 166
2. म० स्मृ० (II, 142)
3. i) एनुअल रिपार्टस आफ साउथ इण्डियन ऐपिग्राफी पृ० 122-4
   ii) सा० इ० इ० रि० 1917 पृ० (145)
4. बर्नियर पृ० 456
5. i) जा० सं० पृ० 160, 61
   ii) प्रा० भा० शि० प० - (I, 17)
6. यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्य वणिजं वदन्ति - मालती (30, 29)
7. वि० स्मृ०

वैयक्तिक शिक्षकों के भी उनके विद्यार्थियों से शुल्क के रूप में जो आय होती थी वह अत्यन्न अल्प थी। कालेजों और विश्वविद्यालयों के बजट में इस का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः स्वभावतया प्रश्न यह उठता है कि प्राचीन भारत में शिक्षा के लिए अर्थ की व्यवस्था कहां से होती थी। फीस लेकर छात्रों को पढ़ाना समाज में निन्द्य समझा जाता था किन्तु समाज स्वयं जनता की धर्म और दान की भावनाओं को उकसाकर इस कार्य के लिए प्रचुर धन एकत्र कर लेता था। प्राचीन भारत में विद्या दान या विद्या के लिए दान सर्वोत्तम दान माना जाता थ। भूमि दान से भी अधिक पुण्य विद्या दान से मिलता है।[1]

प्राचीन भारत में शुल्क के लिए मोल-तोल करना अत्यन्त निन्द्य समझा जाता था। कोई भी अध्यापक किसी छात्र को इस आधार पर कि छात्र फीस देने में असमर्थ है पढ़ाने से इन्कार नहीं कर सकता था। ऐसे अध्यापकों को धार्मिक अवसरों पर ऋत्विक् के कार्य के योग्य न समझा जाता था।[2] प्राचीन भारतीयों के अनुसार अध्यापन प्रत्येक योग्य अध्यापक का कर्त्तव्य है। छात्र और अध्यापक के संबंधो का आधार परस्पर प्रेम और आदर माना गया था न कि कोई व्यवसायिक भावना।

धर्मशास्त्रकारों के अनुसार यह जान लेना आवश्यक है कि विद्यार्थी के प्रवेश के पूर्व शुल्क के लिए मोल तोल की निंदा की है। किन्तु यदि विद्यार्थियों के अभिभावक स्वेच्छा से उन्हें कुछ अर्पित करें तो उसे ग्रहण करने पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। जिस प्रकार अध्यापक को स्मरण दिलाया जाता था कि अध्यापन उसका धर्म है उसी प्रकार अभिभावकों से भी कहा जाता था कि संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसे समार्पित कर उस ऋण से मुक्ति प्राप्त की जा सके जो गुरु का एक अक्षर भी पढ़ाने पर शिष्य पर हो जाता है।[3] इस प्रकार आचार्य गुरुदक्षिणा का अधिकारी विद्या समाप्ति के अनन्तर ही होता था। फिर भी धनी गृहस्थ अपने बच्चों की दक्षिणा अपनी योग्यतानुसार उपनयन के पूर्व ही चुक देते थे। साधारण-वृत्ति के गृहस्थों के लिए यह कठिन अवश्य था अतः वे अपनी सुविधा के अनुसार किस्तों में गुरु-दक्षिणा चुकाते रहे होंगे। इस प्रकार उस युग में आचार्य से यथावत् विद्याध्ययन करके सामर्थ्य रहते हुए भी दक्षिणा न चुकाने वालों को समाज में अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता था।

---

1. सहस्रसम्मिता धेनुरडवान्दश धेनवः। दशानुडुत्समं यानं दशयानसमं हयः।
   दशवाजिसमा कन्या भूमिदानं च तत्समम्। भूमिदानात्परं नास्मि विद्या दानं ततोधिकम्।।
   - स्मृ० च० सं० में बृहस्पति का वचन पृ० (145)
2. यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपव्यं वणिजं वदन्ति। - माल० (1,17)
   यश्च विद्यामासाध अस्मिल्लेके तथा सह जीवेभ सा तसय फलप्रदा भवेत।
   - वि० स्मृ० (30- 39)
3. एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद्दत्वाऽनृणी भवेत्।।
   पराशर स्मृति में माघव द्वारा उद्धतलघुहारीत का वचन I, 2 पृ० 53

देवालयों में भी विद्यालयों की स्थापना कर दी गयी थी। उनका प्रबन्ध ग्राम सभा की उपदेवालय समिति करती थी। दान में मिली निधियों या गावों का प्रबन्ध तथा पाठशाला में अध्यापकों की नियुक्ति भी इसी समिति के द्वारा होती थी। पाठशाला में कितने विषय पढाये जायें तथा उनमें कितने विद्यार्थी रखे जायें, इसका निर्णय पाठशाला के प्रधान आचार्य के परामर्श से यही समिति करती थी। पाठशाला का आतंरिक प्रबन्ध का उत्तरदायित्व आचार्य पर था। छात्रावासों का निरीक्षण, उनमें विद्यार्थियों का प्रवेश भोजनालयों में भृत्यों की नियुक्ति तथा उनके लिए रसद आदि का प्रबन्ध आचार्य ही करता था। इन विद्यालयों में छात्रों के पढ़ने तथा रहने के लिए विशाल और शानदार भवन बने हुए थे।

इस पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों के साथ-साथ छात्रावास भी बनने लगे। इनमें अधिकारियों की ओर से ऐसे भोजनालयों का प्रबन्ध किया जाता था जिनमें एक साथ बहुत से विद्यार्थी भोजन करते थे। छात्रों के कमरों में शयन के लिए पत्थर की चौकियां तथा दीपक आदि रखने के लिए ताखे बने हुए थे।

कुछ स्थानों में तो विद्याथियों को वस्त्र और दवाएं भी निःशुल्क दी जाती थी। बीमार छात्रों के लिए चिकित्सालय भी स्थापित थे।

यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है कि कतिपय अवस्थाओं में अध्ययन की समाप्ति दूर-दूर तक देशाटन से होती थी। बतलाया गया है कि इस प्रकार के देशाटन से विद्यार्थी को सामान्यतया देशचरित का ज्ञान होता है तथा विशेषतया वह उस व्यवसाय की परंपराओं का परिचय प्राप्त करता है। जिसमें उसने कौशल लाभ किया है।[2] किन्तु वह यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन भारत मे यह प्रथा कितनी प्रचलित थी।

प्रत्येक विद्यार्थी की प्रवेश के अवसर पर उनकी योग्यता की जांच के लिए कडी परीक्षा ली जाती थी। इस अवसर पर उनके चरित्र और बुद्धि दोनों की जांच होती थी। चरित्रहीन विद्यार्थी का प्रवेश एकदम वर्जित था।[3] नालन्दा जैसे प्रसिद्ध विद्यापीठों में प्रवेश के लिए बड़ी भीड़ जुटती थी। वहां की प्रवेशिका परीक्षा बडी दुरूह थी। 10 प्रवेशार्थियों में दो या तीन को ही प्रवेश पाने में सफलता मिल जाती थी। नालन्दा और विक्रमशाला के विश्वविद्यालयों में प्रवेशार्थियों की बुद्धि, चरित्र और योग्यता की जांच के लिए दक्ष आचार्य नियुक्त थे।[4]

---

1. प्रा० भा० स० आ० सं० - कैलाशचन्द्र जैन पृ० 72
2. सब्वसिप्पानि उग्गहीत्वा सब्ब समय सिप्पं च सिक्खिवास्साम देस चरितं च जानिस्साम इति गाम निगमादिषु चरंता वाराणसी पात्वा। - दरीमुख जातक पृ० 378
3. नि० II, 4
4. इंडिया टीचर्स ऑफ बुद्धिस्ट यूनिव्हर्सिटीज पृ० 60

सभी उपलब्ध प्रमाणें से प्राय: यह सिद्ध होता है कि एक अध्यापक के अन्तर्गत प्राय: 15 विद्यार्थी पढते थे। प्रागैतिहासिक काल में वार्षिक अध्ययन सत्र पांच छ: मास से अधिक समय तक न चलते थे। जब साहित्य और ज्ञान में बहुत वृद्धि हो गई तो वर्ष भर के सत्र होने लगे। प्रत्येक मास में 4 छुट्टियां एक-एक सप्ताह के अन्तर पर होती थी।[1] मास के प्रतिपदा, पूर्णिमा तथा प्रत्येक अष्टमी को अनध्याय रहता था। बस्ती पर बाहरी आक्रमण, डाकुओं के उत्पात, अतिथियों के आगमन तथा राजा या महापुरुषों के निधन पर अनध्याय हो जाता था। मौसम की खराबी आदि के कारण भी छुट्टिया हो जाती थी।[2]

शिक्षण शुल्क : प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति की यह प्रमुख विशेषता थी कि वेदाध्ययन के लिए कोई शुल्क निर्धारित नहीं था। जनक ने शिक्षा का शुल्क देना चाहा तो याज्ञवल्क्य ने कहा मेरे पिता का मत था कि विद्या पूर्ण पढ़ाये बिना शिष्य से कोई पुरस्कार नहीं लेना चाहिए।[3] विद्या की समाप्ति पर शिष्य गुरु से धन लेने के लिए प्रार्थना करे या शिष्य गुरुदक्षिणा के रूप में गुरु को जो कुछ दे सकता हो दे। इसके पश्चात् जब गुरु कुछ धन लेकर या बिना कुछ लिए उसे जाने की आज्ञा दे तो शिष्य स्नान करके (स्नातक होकर) घर जावे।[4] मनु का कहना है कि विद्या समाप्ति तक शिष्य गुरु को कुछ भी न दे परन्तु विद्या की समाप्ति पर स्नातक होते समय अपनी शक्ति भर जो कुछ भी दे सकता हो दे। देने योग्य वस्तुएं गुरुदक्षिणा में दी जा सकती हैं। भूमि, सुवर्ण, गाय, घोड़ा, वस्त्र, अन्न, आसन, छाता; जूता साग आदि।[5] आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी उल्लेख है कि शिक्षा की समाप्ति पर गुरु को दक्षिणा दें।[6] लघुहारीत ने भी विद्या की समाप्ति पर ही गुरु दक्षिणा देने का विधान किया है और कहा है कि एक, दो या तीन वेद गुरु से पढकर विद्या की समाप्ति पर गुरु को दक्षिणा दें।[7] यदि समर्थ न हो तो गुरु को धन आदि दिए बिना ही उसकी आज्ञा प्राप्त करके दीक्षान्त स्नान करे।[8] महाभारत में वर्णन है कि गुरु

---

1. क) गौ० ध० सू० (II,7)
   ख) बा० ध० सू० (I,11)
   ग) म० स्मृ० (IV, 100)
2. क) प्रा० भा० स० आ० सं० - कैलाशचन्द्र जैन पृ० 172-173
   ख) भा० प्रा० शि० प० - अ० स० अल्तेकर पृ० 65,67,68
3. बृ० उ० (IV, 1.2)
4. विद्यान्ते गुरुरर्थेन निमन्त्रय :। ततः कृतानुज्ञानस्य स्नम्।। - गौ० स्मृ० (II, 54-55)
5. म० स्मृ० (III, 245-246)
6. आ० गृ० सू० (III, 9,4)
7. लघु० स्मृ० (III, 10)
8. गुरवे तु वरं दत्त्वा, स्नायाद् वा तदनुज्ञया।। - याज्ञ० स्मृ० (I, 5)

शिष्यों के व्यवहार से प्रसन्न रहे, यही वास्तविक गुरुदक्षिणा है।[1] नारदीय मनुस्मृति में भी विद्या की समाप्ति पर गुरु को गुरुदक्षिणा देने का विधान है।[2]

शिक्षा संस्थाओं की आर्थिक सहायता समृद्ध जन भी करते थे। यह सहायता अनेक प्रकार से होती थी। यथा-अध्यापकों की नियुक्ति, करके संपूर्ण वेतन देकर दुर्लभ पुस्तकों की पांडुलिपियां करा कर और उनको संस्था को भेंट करके, किसी की स्मृति में भवन का निर्माण करा कर, किसी विषय विशेष के अध्यापन का संपूर्ण व्यय देकर, विद्यालय के लिए भूमि का दान देकर, स्नातकों के लिए गुरु-दक्षिण में सहायता देकर तथा अन्य शिक्षा संबंधी कार्यो में सहायता करके समृद्ध जन अपने नीजी अनुदान से संपूर्ण विद्यालय के व्यय को वहन करते थे। वर्तमान समय में भी भारतवर्ष में यह क्रम विद्यमान है। विद्या के लिए दान करने की बहुत महिमा गई है[3]

शिक्षा समाप्त होने पर छात्र गुरु दक्षिणा के रूप में धन प्रदान करते थे। कुछ स्थानों पर तथा कुछ समयों में शुल्क लेने की भी प्रथा रही थी। परन्तु शिक्षा काल में सामान्यतः किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। तथापि हिंदुओं में गुरु दक्षिणा पर्व (श्रावण मास की पूर्णिमा) पर छात्र और अभिभावक यथाशक्ति शिक्षा-संस्था के लिए दान करते थे। वर्तमान समय तक भी यह परंपरा बनी हुई है। परन्तु अब यह धीरे- धीरे टूटती जा रही है।

छात्रों द्वारा आर्थिक सहायता के मुख्य रूप निम्न हैं-

क) छात्रों द्वारा भिक्षा मांगना- उपनयन संस्कार के अनंतर छात्र भिक्षा मांग कर विद्यालय के लिये अन्न वस्त्र धन एकत्रित करते थे। भिक्षा में प्राप्त सभी वस्तुओं को वे ईमानदारी से गुरु के लिए अर्पित करते थे। प्राचीन समय में यह भिक्षायें शिक्षा--संस्था के लिए स्थायी आय का प्रमुख स्रोत रही थी।

ख) गुरु दक्षिणाः गुरु दक्षिणा का विस्तृत वर्णन इसी अध्याय के 'शिक्षकों का पारिश्रमिक' शीर्षक के अंतर्गत किया जा चुका है। शिक्षा के पूरा होने पर छात्र गुरु दक्षिणा के रूप में गुरु के लिए उनके द्वारा वांछित धन या वस्तु प्रदान करते थे। मनु का कथन है कि शिष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार गुरु दक्षिणा दे। वह भूमि, स्वर्ण, गौ, अश्व, छत्र, उपानह्, आसन, धान्य, शाक और वस्त्र देकर गुरु को प्रसन्न करें।[4]

---

1. दक्षिणा परितोषो वै गुरुणां सद्भिरूच्यते। - महा॰ भा॰ (आश्वमेधिक 56.21)
2. ना॰ स्मृ॰ (V, 14)
3. भा॰ प्रा॰ शि॰ प॰ - कृष्ण कुमार पृ॰ 75-76
4. स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्।
   क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम।
   धान्यं शाकञ्च वासांसि गुरवे प्रीतिमाहरते्।। - म॰ स्मृ॰ (II, 245-246)

हिदुंओ में गुरु पूर्णिमा पर्व गुरुजनों के प्रति सामाजिक सम्मान तथा धन देने का प्रतीक रहा।

ग) शिक्षा शुल्क : शिक्षा के लिए किसी प्रकार कर शुल्क लेना प्राचीन समय में यद्यपि वर्जित था और इसको नितान्त निंदनीय समझा गया था, तथापि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में शुल्क लेने की परंपरा अवश्य रही थी।[1]

प्राचीन समय में शिक्षणालय और आचार्य की संपत्ति अलग अलग नहीं थी। आचार्य और कुलपति शिक्षा संस्थाओं के वेतनभोगी कर्मचारी नहीं थे। शिक्षा-संस्था की संपूर्ण संपत्ति पर उनका पूरा अधिकार था। आचार्य तथा कुलपति की सारी संपत्ति शिक्षा संस्था के संचालन के लिए समर्पित थी। इस प्रकार की संपत्तियों को निम्नवर्गो में बांटा जा सकता है-

प्राचीन समय में शिक्षक राजा- प्रजा के धार्मिक जीवन के साथ घनिष्ठ रूप से संबद्ध थे। अनेक शिक्षक पुरोहित भी होते थे। जैसे कि वसिष्ठ कुलपति होने के साथ इक्ष्वाकुवंशियों के कुलपुरोहित भी थे। वे शिक्षक होने के साथ धार्मिक कार्यो के संपादन में भी सहयोग देते थे। इससे उनको दक्षिणा के रूप में प्रचुर आय होती थी। धार्मिक कर्मकांडों में देवता के लिए अर्पित धन संपत्ति और अन्य वस्तुओं पर पुरोहित का ही अधिकार होता है। इस प्रकार आचार्य और कुलपति को पुरोहित के रूप मे प्रचुर धन प्राप्त होता था। यह धन शिक्षा-संस्था के लिए आय का एक प्रमुख स्रोत था। संस्कृत विद्यालयों के साथ यह परंपरा वर्तमान समय में भी कुछ न कुछ बनी हुई है।

आचार्य तथा शिक्षा-संस्था की आय का एक अन्य प्रमुख स्रोत शिष्यों तथा जनता द्वारा दिये गये उपहार भी थे। अनेक अवसरों पर जन सामान्य द्वारा पारिवारिक, धार्मिक तथा सामाजिक समारोह आयोजित किये जाते थे। इनमें शिक्षकों तथा शिक्षा संस्था के लिए जन सामान्य द्वारा धन तथा उपहार दिये जाते थे। ये धन तथा उपहार शिक्षा संस्था के लिए आय का अच्छा साधन थे। किन्हीं अंशों में यह परंपरा वर्तमान समय में भी बनी हुई है।[2]

अनेक बार राजाओं तथा अन्य संस्थाओं द्वारा साहित्यिक तथा आध्यात्मिक गोष्ठियां आयोजित की जाती थीं। इनमें संवादों तथा वादविवादों का भी कार्यक्रम रहता था। महान् विद्वान् आचार्य यहां आमन्त्रित होते थे। उन गोष्ठियों में विजेता आचार्य और विद्वानों को पारितोषिक दिये जाते थे। उपनिषदों की एक कथा के अनुसार राजा जनक द्वारा आयोजित एक संगोष्ठी में याज्ञवल्क्य की संवाद में विजय हुई और इनको स्वर्ग से मढ़े हुये सींगों वाली 1000 गौयें पारितोषिक के रूप में

---

1. भा० प्रा० शि० प० - कृष्ण कुमार पृ० 76
2. - वही- - वही पृ० 77

प्राप्त हुई। याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि वे इन सब गौओं को अपने आश्रम में ले जावें।[1]

प्राचीन समय में शिक्षा-संस्थाओं के पास प्रभूत कृषि भूमि और प्रचुर पशुधन होता था। इसकी सम्पूर्ण आय शिक्षा-संस्था के संचालन में व्यय होती थी। शिक्षा-संस्थाओं की कृषि भूमि पर छात्र कार्य करते थे। इसकी देखभाल अनेक विद्यार्थी करते थे। शिक्षा संस्था के पशुओं को चराने का दायित्व भी छात्रों का होता था। वर्तमान समय में स्थापित गुरुकुलों में भी इस प्रकार की सम्पत्ति दृष्टिगोचर होती है। इसकी आय शिक्षा संस्था के संचालन में व्यय होती है।[2]

शिक्षण विषयक कतिपय सिद्धान्त एवं धारणाएं

शिक्षा अन्तर्ज्योति का साधन माना जाता था और यह आशा की जाती थी कि व्यक्ति को कठिनाईयों और समस्याओं का सामना करने योग्य भी बनाएगी। शिक्षा का उद्देश्य साधारण ज्ञान मात्र करा देना नहीं था, अपितु विभिन्न विषयों में विशेषज्ञ तैयार करना था। विशेष ध्यान इस बात की ओर दिया जाता था कि विद्यार्थी की स्मृति का भी भली-भांति विकास किया जाये।[3]

समाज की उन्नति के लिए शिक्षा ही एकमात्र व सर्वोत्तम साधक मानी गयी थी। अतः आग्रह किया जाता था कि उन सभी व्यक्तियों को जो शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हों, शिक्षा मिलनी चाहिए। प्राचीन भारत में धार्मिक और साहित्यिक शिक्षा के प्रारम्भ में उपनयन संस्कार होता था, जो सम्पूर्ण आर्य नर नारियों के लिए अनिवार्य कर दिया गया था ताकि अधिक से अधिक संख्या में वे धार्मिक साहित्यिक शिक्षा ग्रहण कर सकें। यह भी घोषित कर दिया गया था कि संतति उत्पादन से ही पितृ-ऋण से मुक्ति नहीं मिल सकती अपितु उनको सम्यक् रूपेन् शिक्षित करना आवश्यक है।[4] इस प्रकार प्रत्येक ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कुछ न कुछ धार्मिक और साहित्यिक शिक्षा प्राप्त कर लेता था। शिक्षा के प्रचार के लिए अन्य प्रयत्न भी किए गए। शिक्षा एक पवित्र कर्त्तव्य समझा गया, जिसे आचार्य को बिना शुल्क का ध्यान दिये, पूरा करना पड़ता था। निर्धन व्यक्ति भी शिक्षा ग्रहण कर सके, इसके लिए विद्यार्थियों को भिक्षा की अनुमति ही नहीं थी, किन्तु इसे विद्यार्थी जीवन का एक बड़ा कर्त्तव्य भी माना गया।[5]

---

1. बृ० उ० (III, 1, 10)
2. भा० प्रा० शि० प० - कृष्ण कुमार पृ० 78
3. क) प्रा० भा० स० आ० सं० - कैलाशचन्द्र जैन पृ० 162
   ख) भा० प्रा० शि० प० - अ० स० अल्तेकर पृ० 17
4. तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेन मनुशास्ति। - बृ० उ० (I, 5)
5. क) प्रा० भा० स० आ० सं० - कैलाशचन्द्र जैन पृ० 162
   ख) भा० प्रा० शि० प० - अ० स० अल्तेकर पृ० 17-18

प्राचीन भारतीयों का कहना था कि विद्यार्थियों को अध्ययन काल में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिये। उनको अपने वचन और कार्य में इसका अनुसरण करना चाहिए तथा अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त वह गुरु की आज्ञा से अपना विवाह कर सकता था।[1]

प्राचीन भारत में विद्यार्थी को ब्रह्मचारी कहते थे। ब्रह्मचारी शब्द से तात्पर्य उसे व्यक्ति से होता है जो शिक्षा के आदर्शों और महत्त्वाकांक्षाओं को सिद्ध करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करता है, हमारे शास्त्रकारों के अनुसार विद्यार्थी को तन, मन दोनों से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचारी को अध्ययन काल में विवाह नहीं करना चाहिए। उसको अध्ययन समाप्त के उपरान्त गुरु की आज्ञा लेकर विवाह करना चाहिए।[2]

प्राचीन भारतीयों का मत था कि जो व्यक्ति नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से अयोग्य होते हैं, उनको शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए।[3] पांडित्य की प्राप्ति के निमित धनी-निर्धन सभी को ब्रह्मचर्य व्रत का कड़ाई से पालन करना पड़ता था। किसी भी विषय में पूर्ण ज्ञान और पारंगतता प्राप्त करने के लिए सुदीर्घ और लगातार परिश्रम की आवश्यकता थी। आलसी, सुखार्थी या चंचल वृत्ति वाले व्यक्तियों को विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती।[4]

प्राचीन भारतीयों का मत था कि सामान्य तौर पर सभी को शिक्षा मिलनी चाहिए इसके लिए उन्होनें यह भी नियम बनाया कि जो व्यक्ति नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से अयोग्य हो उन्हें शिक्षा नहीं देनी चाहिए। उनका यह भी मत था कि विद्या प्रमाद और असावधानी से अध्ययन करने से नहीं मिल सकती। त्वरा और अंहमन्यता विद्या की समान रूप से शत्रु है।[5] पांडित्य की प्राप्ति निमित्त धनी निर्धन सभी को ब्रह्मचर्य व्रत का कडाई से पालन करना पडता था। आलसी, सुखार्थी या चंचल वृत्ति वाले व्यक्तियों को विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार किसी भी विषय में पूर्ण ज्ञान और पारंगतता प्राप्त करने के लिए सुदीर्घ और अविच्छिन्न परिश्रम की आवश्यकता है।

विद्यार्थियों के सहयोग का शिक्षा में बड़ा महत्व था। जिन विद्यार्थियों में ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा हो, उनको अध्ययन करवाने में बड़ा आनन्द आता था। यदि उनमें सच्ची और उत्कट इच्छा नहीं हो, तो समय और श्रम नष्ट करना व्यर्थ माना जाता था।[6]

---

1. क) प्रा० भा० स० आ० सं० - कैलाशचन्द्र जैन पृ० 163
   ख) भा० प्रा० शि० प० - अ० स० अल्तेकर पृ० 19
2. - वही- - वही पृ० 19
3. नि० (II, 4)
4. क) भा० प्रा० शि० प० - अ० स० अल्तेकर पृ०19
   ख) प्रा० भा० स० आ० सं० - कैलाशचन्द्र जैन पृ० 162
5. अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्याया : शत्रवस्त्रयः। - म० भा, (V, 40,4)
6. म० स्मृ० (II, 113- IV, 191)

हमारे शिक्षा शास्त्री आग्रह करते हैं कि प्रत्येक स्नातक को पाठशालाओं में पढ़े हुए ग्रन्थों को किसी न किसी अंश की आवृति प्रतिदिन नियमित रूप से करनी चाहिए। क्योंकि विद्यालय से निकलने के बाद अधिकांश विद्यार्थी अधीत ज्ञान भूल जाते हैं। समावर्त्तन के समय आचार्य स्वाध्याय में प्रमाद न करने के लिए विशेष रूप से उपदेश करता है[1] इस प्रकार यह भी कहा गया है कि मित्र और ब्राह्मण की हत्या से जो पाप होता है वही पाप एक बार पढे हुए पाठ को विस्मरण कर देने से होता है। अत: प्रत्येक स्नातक को वर्षाकाल में स्वाध्याय के लिए अधिक समय देना चाहिए। किन्तु श्वेतकेतु के समान कुछ शिक्षा शास्त्री इससे असंतुष्ट थे। उनका आग्रह था कि वर्षाकाल में स्नातक अपने अपने गुरुकुलों में 2-3 मास फिर चले जावें और वहां विस्मृत विद्या को फिर अपनावे और नए ज्ञान को प्राप्त करें। किन्तु अन्यशास्त्रकारों के अनुसार यदि पूर्व पाठ एकदम विस्मृत हो गए हों तभी गुरुकुल में कुछ काल तक रहना आवश्यक है[2]

प्राचीन भारतीयों का दृढ विश्वास था कि जीवन में देर से शिक्षा प्रारम्भ करने से कोई लाभ नहीं होता। बालक 16 वर्ष की अवस्था में शिक्षा प्रारंभ करता है वह अपने आचार्य का यश धवल नहीं कर सकता।[3] बाल्यकाल में हमारा मन संस्कार ग्राही स्मृति प्रखर और बुद्धि ग्रहणशील होती है। इसी काल में अच्छी आदतों की नींव डाली जा सकती है जो आजीवन लाभकर सिद्ध होती हैं। इसलिए शिक्षा का प्रारंभ बाल्यकाल में ही हो जाना चाहिए। प्रारंभिक शिक्षा के लिए 5 और माध्यमिक शिक्षा के प्रारंभ के लिए 8 वर्ष की उम्र उचित मानी गई है। परन्तु हमारे शिक्षा शास्त्रियों के अनुसार परिवार की सांस्कृतिक परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए इस काल में परिवर्तन भी संभव हो सकता है।

स्मृतियों के अनुसार क्षत्रियों और वैश्यों को भी उपनयन के अनन्तर वेदाध्ययन करना पड़ता था। किन्तु यह अध्ययन गहन या दीर्घकालीन कभी न था। कतिपय जातको में निस्संदेह ऐसे वर्णन मिलते हैं कि कुछ राजकुमार तीनों वेदों और 18 शिल्पों में पारंगत होते थे।[4] कौरव वेदों, वेदान्तों और सम्पूर्ण युद्ध-कलाओं में विशारद थे।[5] किन्तु उपर्युक्त ग्रन्थों के इन अध्यायों की जांच से प्रकट होता है कि इनके लेखक तत्कालीन वस्तुस्थिति के चित्रण के लिए उतने उत्सुक न थे जितने सभीज्ञात विद्याओं के नाम गिनाने और अपने चरित नायको को उनमें पारंगत बतलाने के लिए। जो ब्राह्मण पौरोहित्य कर्म नहीं करना चाहते थे। वे कुछ वैदिक मंत्रों से ही अध्ययन से संतोष कर लेते थे। क्षत्रिय और वैश्य भी यही करते रहे होंगे।

---

1. स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम। तै० उ० पृ० 11
2. यया विद्या न विरोचते पुनराचार्यसमुपेत्य नियमेन साधयेत्। आ० ध० सू० (II, 2,24)
3. नातिषोऽशवर्षमुपनीयत प्रसृंष्ठवृषणी ह्येष वृषलोभूतो भवति। - जै० गृ० सू० (I, 12)
4. सोलहवस्सपदेसिको हुत्वा नक्खसिलायां सिप्पं उग्गण्हित्या तिण्णं वेदानं पारं गत्वा अट्ठारसानं विज्जट्ठानं निप्फत्तिं पापुनाति। - दुम्मेध० जा० सं० पृ० 50
5. म० भा० (I, 118, 133)

वर्तमानकालीन शिक्षा

ख) III) प्राचीन और मध्यकालीन शिक्षा का स्वरूप एकांगी था। उसमें बालक की स्वाभाविक रूचियों, क्षमताओं और प्रवृतियों के लिए कोई स्थान नहीं था। उस समय बिना समझे-बूझे रटने पर बल दिया जाता था और दमनात्मक अनुशासन को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। **यह कथन सर्वमान्य था-** "यदि बालक को दण्ड नहीं दिया जायेगा तो वह बिगड़ जायेगा।"

इतना ही नहीं, वरन् मानव -पहलू की उपेक्षा करके ज्ञान प्रदान करना ही शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य माना जाता था। इस कथन की पुष्टि सर जॉन एडम्स के इन शस्ब्दों से हो जाती है-- "अध्यापक ने जानॅ को लैटिन पढायी।" इसका अभिप्राय यह है कि अध्यापक के शिक्षण का उद्देश्य जॉन को लैटिन की जानकारी कराना था। उसे स्वयं जॉन से कोई प्रयोजन नहीं था। दूसरे शब्दों में, प्राचीन और मध्यकाल को शिक्षण काल में-'व्यक्तिगत विभिन्नताओं' के लिए कोई स्थान नहीं था और शिक्षण पाठ्यक्रम केंद्रित था।"[1]

प्राचीन मध्यकाल की शिक्षण कला पर प्रकाश डालते हुए केनेडी ने लिखा है- प्राचीन समय में बालकों को बहुधा केवल ज्ञान ग्रहण करने के पात्र समझा जाता था। उन्हें ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाध्य किया जाता था और ऐसा न करने, पर प्राय: दण्ड दिया जाता था। इससे उनकी उन स्वाभाविक प्रवृत्तियो का दमन हो जाता था, जो प्रकृति उनको अपने विकास के लिए देती है।[2]

आधुनिक काल में शिक्षण कला का रूप पूर्णतया परिवर्तित हो चुका है। इसके कारणों का उल्लेख करते हुए रायबर्न और फोर्ज (Rybrun & Forge) ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि संसार के व्यक्ति धीरे-धीरे, पर लगातार भूख और अभाव के भय तथा कठोर परिश्रम से मुक्त होते जा रहे हैं। ये परिवर्तन सम्पूर्ण संसार में निरन्तर हो रहे हैं। इनका प्रभाव शिक्षण कला पर भी पड़ रहा है। फलस्वरूप उसका रूप पहले से बिल्लकुल बदल गया है। अब शिक्षण में भय का स्थान प्रेम ने और आज्ञाकारिता का उत्तरदायित्व ने ले लिया है।[3]

इस परिवर्तन का श्रेय रूसों, पेस्टालॉजी, हरबर्ट स्पेन्सर और डी वी को प्राप्त है। उन्होंने बताया कि शिक्षण 'पाठ्यक्रम केन्द्रित' न होकर 'बाल-केन्द्रित' है। रूसो ने तो यहां तक कह दिया-"बालक एक ऐसी पुस्तक है, जिसे शिक्षक को प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ना-पढ़ता है।

---

1. स० शि० क० - पाठक एवं त्यागी पृ० 4
2. The teacher in the making - Alkex Kennedy - उद्धृत वही पृ० 5
3. Principles of Teaching - Rybrun & Forge - उद्धृत वही

आधुनिक शिक्षण– कला का वर्णन करते हुए केनेडी ने लिखा है– "इस ज्ञान से युक्त होने के कारण कि बालकों में जानने और करने की इच्छा होती है, हम सहयोग को कठोरता का स्थान दे सके हैं। और बालक की साहस और विकास. की सहज प्रवृत्ति का उपयोग कर सकें।[1]

छात्र–अनुशासन

'डिसिप्लिन'(Discipline)- शब्द की उत्पति लैटिन शब्द "Disciplina' से मानी जाती है जिसका अर्थ है-व्यवस्था, नियम, शिक्षा, अभ्यास, अध्यापन, प्रतिक्षितावस्था। अंग्रेजी शब्द Disciple शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'discipulum' से मानी जाती है, जिसका अर्थ है छात्र! छात्र से आशा की जाती है कि वह अपने गुरुजनों के आदेशों का श्रद्धापूर्वक पालन करे और उसके अनुसार सफल जीवन के हेतु स्वयं मे आवयश्यक एवं वांछित गुणों का विकास करे। इस प्रकार 'डिसिप्लिन' का अर्थ–आचरण में नियमितता उत्पन्न करना है। 'डिसिप्लिन' के लिए 'अनुशासन' शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित है।[2]

अनुशासन व्यक्ति और समाज दोनों के लिए आवश्यक है कोई व्यक्ति, कोई समाज तथा राष्ट्र, अनुशासन के अभाव में पनप नहीं सकता है। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समूह एवं संस्था के लिए अनुशासन आवश्य है। अनुशासनहीनता से देश में अनेक दुरूह कठिनाइयां और समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं और व्यक्ति का जीवन संकटमय हो सकता है। अनुशासित व्यक्ति ही समाज से लाभ उठा सकता है तथा अपने गुणों एवं विशेषताओं से लाभ उठा सकता है। तथा अपने गुणों एवं विशेषताओं से समाज को लाभान्वित कर सकता है। वेल्टन के अनुसार "अनुशासन बालक की चेतना का परिष्करण करता है। वास्तविक अनुशासन से बालक की नैतिक चेतना का विकास होता है। व्यक्ति को शिष्ट बनाता है, उसका आध्यात्मिक उन्नयन अनुशासन मे ही सम्भव है।" वास्तविक अनुशासन व्यक्ति को शिष्ट बनाता है। उसमें धैर्य, विवेक, सहनशीलता तथा उदारता आदि अनेक गुणों का विकास करता है। सम्पूर्ण विश्व आदि काल से अनुशासन की महता को स्वीकार करता आ रहा है।[3]

आधुनिक विचारधाराओं के अनुसार 'अनुशासन' का अर्थ है लोकतन्त्रीय समाज में बालको एवं बालिकाओं को जीवन के लिए तैयार करना। इसका अभिप्राय व्यक्ति को ज्ञान, शक्ति, आदतों, रूचियों तथा आदर्शों को प्राप्त करने में सहायता

---

1. The teacher in the making - Alkex Kennedy उद्धृत स० शि० क० पृ० 6 त्यागी एवं पाठक
2. वि० प्र० सं० स्वा० शि० - एस० पी० सुखिया पृ० 192
3. शि० मू० आ० - डॉ० शोभा गर्ग पृ० 165

देना है जो कि स्वयं के व उसके साथियों के कल्याण के लिए सम्पूर्ण समाज के लिए कल्पित किए जाते हैं।[1]

आधुनिक युग में शिक्षाशास्त्रियों का अनुशासन सम्बन्धी दृष्टिकोण अधिक व्यापक तथा वैज्ञानिक हो गया है। वर्तमान युग में बालक की अन्तःप्रेरणा को जागृत करने का विशेष प्रयास किया जाता है। बालक को पर्याप्त सुविधायें प्रदान की जाती हैं, उसके चारों ओर का सामाजिक वातावरण, व्यावस्था तथा नियमों को उसके अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया जाता है। जिससे उसकी स्वाभाविक अनुकरणशीलता उसे निकटवर्ती आदर्शों के अनुसार कार्य करने को प्रेरित कर सके। विद्यालय का सम्पूर्ण वातावरण, क्रियायें एवं शिक्षकों के व्यवहार आदर्शमय होने चाहिए। इनका सहज प्रभाव बालकों के जीवन पर इस प्रकार का हो कि वे उसके अंग बन जाएं और सुन्दर आचरण तथा व्यवहारों के प्रति उनमें रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सकें तथा उनमें चरित्र की दृढ़ता ला सकें।[2]

वर्तमान समय में अनुशासन की समस्या ने प्रबल रूप धारण कर लिया है। अनुशासनहीनता अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो रही है। चतुर्दिक अनाचार अनैतिकता की मात्रा बढ़ती जा रही है। सम्पूर्ण सामाजिक जीवन विषाक्त हो चला है। दया, करूणा, स्नेह, सहानुभूति तथा बन्धुत्व आदि की भावना के स्थान पर ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिहिंसा प्रतिकार और प्रतिशोध की भावना प्रचंड रूप धारण कर रही है। समाज में प्रवाहित होने वाले इन विषैली भावनाओं ने शैक्षिक जगत को अछूता नहीं छोड़ा है। शैक्षिक जगत अशान्ति, अराजकता तथा दुर्भावनाओं का केन्द्र बनता जा रहा है। विद्यार्थियों में अनुशासनहीता के कारण राष्ट्रीय जीवन विषम हो चला है। वर्तमान समय में देश के विचारकों का ध्यान अनुशासन की गम्भीर समस्या पर विशेष रूप से केन्द्रित होता जा रहा है। अनुशासनहीता मुख्यतः दो प्रकार की होती है। एक व्यक्ति गत और दूसरी सामूहिक। शैक्षिक जगत में व्याप्त अनुशसनहीनता दोनों प्रकार की पाई जाती है।[3]

जीवन में अनुशासन का बहुत महत्त्व है। इसके अभाव में मानव प्रकृतिदत्त शक्तियों का उचित प्रयोग नहीं कर सकता है। अनुशासन द्वारा ही व्यक्ति अच्छी शक्ति प्राप्त करता है और इस शक्ति से वह अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों का विकास करने में समर्थ होता है। महान् शिक्षाशास्त्री टी० पी० नन का मत है –'अनुशासन' का अर्थ – अपने आवेगों और शक्तियों को उस व्यवस्था के अधीन करना है जो अराजकता का अन्त कती है एवं जो अकुशलता और अपव्यय के स्थान पर कुशलता और मितव्ययता की स्थापना करती है।[4]

---

1. वि० प्र० सं० स्वा० शि० – एस० पी० सुखिया पृ० 193
2. शि० मू० आ० – डॉ० शोभा गर्ग पृ० 164
3. शि० मू० आ० – डॉ० शोभा गर्ग पृ० 178
4. वि० प्र० सं० स्वा० शि० – एस० पी० सुखिया पृ० 193-194

अनुशसनहीनता का मुख्य कारण पारिवारिक, शैक्षिक राजनैतिक तथा सामाजिक स्थितियां हैं। इन समस्याओं का जब तक हल नहीं किया जायेगा, तब तक शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति तथा नागरिकता के कर्त्तव्यों को उचित रीति से सम्पादित किया जाना सम्भव नहीं है। बालक का प्रथम विद्यालय प्रथम शिक्षा का केन्द्र उसका घर ही होता है। बालक के चरित्र-गठन, मनोविनोदप्रियता, आचार विचार तथा क्रिया पर परिवार का गहरा प्रभाव पड़ता है, अनुशासन की भावना का बीजारोपण बालक में प्रथम घर में ही होना आवश्यक है, घर से ही बालक निकल कर अपने संगी साथियों के साथ खेलता, उठता-बैठता है, तत्पश्चात् विद्यालय में प्रवेश करता है, जिन उत्तम गुणों की नींव बालक के घर में पड़ती है, उन्हीं को दृढ़ता, विद्यालय के वातावरण, वहां भी शिक्षा तथा अध्यापकों के व्यवहार आदि से मिलती है।[1]

शिक्षक – शिष्य सम्बन्ध

जीवन में सर्वांगीण सफलता ही शिक्षा का उद्देश्य है जिसे शिक्षक बालक की सहज तथा नियमित दोनों शिक्षाओं के उत्तम समन्वय से ही सफल बना सकता है। अतएव शिक्षक के लिए यह आवयश्क हो जाता है कि बालक की शिक्षा को सभी प्रकार सुलभ बनाने के लिए वह व्यक्तिगत रूप से बालक का अध्ययन करे। बालक की रूचि पारिवारिक स्थिति, धार्मिक संसर्ग, मित्रों का व्यवहार यह सब शिक्षक के अध्ययन के विषय हैं जो उसके कार्य को गुरुतर बना देते हैं।

जैसे कि पहले कहा जा चुका है कि प्राचीनकाल में शिक्षक, शिक्षा और शिष्य इन तीनों में सबसे अधिक महत्त्व शिक्षक को दिया जाता था। उसका प्रमुख कारण था। पुस्तकों तथा शिक्षा सम्बन्धी अन्य प्रकार की सहायक सामग्रियों का अभाव था। उस समय अध्यापक की वाणी ही शिक्षा का स्रोत थी जो कुछ सीखना था उसकी वाणी के आश्रय से ही सम्भव था। इसलिए उसका स्थान प्रमुख था। किन्तु आज की परिवर्तित स्थिति में जब बालक की शिक्षा के निमित्त अनेक प्रकार की सहायक सामग्रियाँ उपलब्ध हैं और मनोविज्ञान ने बालक की प्रगति के अध्ययन से शिक्षा का नवीन दृष्टिकोण हमारे समक्ष उपस्थित कर दिया है, हम शिक्षक को उस सबमें प्रधान स्थान न देकर शिष्य को देने लग गए हैं क्योंकि जो शिक्षा हम देना चाहते हैं उसे बालक के मानसिक, कायिक तथा भाषा सम्बन्धी योग्यता, रूचि और वातावरण का उचित अध्ययन करने के पश्चात् ही उसे देना उचित समझते हैं। शिक्षक और उसकी योग्यता आज गौण समझी जाने लगी है, क्योंकि विद्यार्थी के उक्त साधनों के पक्ष में न होने पर उसका सार पाण्डित्य बालक की शिक्षा के किसी भी प्रयोजन का नहीं है।[2]

---

1. शि० मू० आ० – डॉ० शोभा गर्ग पृ० 189-1912
2. शि० सि० – उमाशंकर श्रीवास्तव पृ० 7

शिष्य को प्रधानता देने का अर्थ यह नहीं है कि शिक्षक का स्थान महत्त्वहीन है। सत्य तो यह है कि जिस देश का शिक्षक–वर्ग अपने महान् उद्देश्यों का ध्यान न रखेगा वह अत्यन्त शीघ्र पतन के गर्त में जाएगा।

शिक्षक की सफलता विद्यार्थी की सफलता में निहित हैं। एक सुन्दर और सब प्रकार सुगठित मूर्ति को देखकर हमारा हृदय चाहता है कि हम मूर्त्तिकार की उंगलियों को चूम लें –यही मूर्त्तिकार की सफलता का प्रमाण हैं। ठीक उसी प्रकार व्यक्ति की चतुर्दिक सफलता को देखकर हमें उसके गुरु के उच्चादर्शों तथा उसकी कला कारिता का स्मरण करके हमारा मस्तक उसके समक्ष अज्ञात रूप से नत हो जाता है।[1]

शैक्षिक समाजशास्त्र की दृष्टि से अध्यापक और विद्यार्थी के सम्बन्धों पर बड़ा बल दिया जाता है क्योंकि उनके आधार पर महत्वपूर्ण शिक्षा प्रदान की जा सकती है। उदाहरण के लिए शिष्य शिक्षक के सम्मुख बिना किसी संकोच के अपनी हर प्रकार की समस्या रखता है तथा शिक्षक उन्हें सहानुभूतिपर्वूक सुनकर व्यावहारिक ढंग के सुझाव देता है। शिक्षक अपने छात्रों की व्यक्तिगत रूचियों तथा आवश्यकताओं से परिचित होकर अपनी शिक्षा-पद्धति को तदानुकूल संशोधित तथा परिवर्तित करता रहता है। शिक्षक और शिष्य दोनों ही स्वतंत्रापूर्वक किसी विषय पर विचार–विमर्श तथा समाज में उनकी उपयोगिता तथा आवश्यकता को समझ कर उन्हें व्यवहारिक रूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार विद्यार्थी शिक्षा के महत्त्व को समझता तथा एक कुशल नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्यों से भी परिचित होता है।[2]

आधुनिक युग के वैज्ञानिकों का विचार है। कि संसार प्रगतिशील है, मनुष्य विकास की ओर उन्मुख है। विश्व की सम्पूर्ण गति विधि में सदैव परिवर्तन होता रहता है। उत: शिक्षा के उद्देश्य में भी उसी क्रम से परिवर्तन हो गया है। वैज्ञानिक विचारों के प्रकाश ने इस अन्धकर का नाश कर दिया। उसने मनुष्य के अन्दर तर्क करने की शक्ति पैदा कर दी। गुरुवाक्य को बिना विचार किये स्वीकार करने में आज के विद्यार्थी को संकोच होता है। उसे वह अपनी विवेक-शक्ति की कसौटी पर जांच लेने के पश्चात् ही स्वीकार करता है। अब उसे अदृश्य की बातें अच्छी नहीं लगतीं। वह उनमें सहसा विश्वास करने में हिचकता है।[3]

शिक्षक ही विद्यालय तथा शिक्षा पद्धति की वास्तविक गत्यात्मक (Dynamic) शक्ति है। विद्यालय-भवन, पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएं, निर्देशन– कार्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें आदि सभी वस्तुएँ शैक्षिक कार्यक्रम में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं, परन्तु जब

---

1. शि० सि० – उमाशंकर श्रीवास्तव पृ० 8
2. शि० सि० – डॉ० जायसवाल एवं सक्सेन पृ० 130
3. वही – वही पृ० 9

तक उनमें अच्छे शिक्षकों द्वारा जीवन-शक्ति प्रदान नही की जायेगी, तब तक वे निरर्थक रहेंगी। शिक्षक ही शक्ति है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आने वाली सन्ततियों पर अपना प्रभाव डालती हैं। शिक्षक ही राष्ट्रीय एवं भौगोलिक सीमाओं को लाँघकर विश्व-व्यवस्था तथा मानव जाति को उन्नति के पथ पर अग्रसर करता है। अतः कहा जा सकता है कि देश की उन्नति उत्तम शिक्षकों पर निर्भर हैं।[1]

आदर्श शिक्षक को मनुष्यों का निर्माता, राष्ट्रनिर्माता, शिक्षा पद्धति की आधारशिला, समाज को गति प्रदान करने वाला आदि सब कुछ माना गया है।

शिक्षक में बालकों को समझने की शक्ति, उनके साथ उचित रूप से कार्य करने की क्षमता, शिक्षण-योग्यता, कार्य करने की इच्छा शक्ति और सहकारिता आदि गुणों की अपेक्षा की जाती है। ऐसे गुण सामान्यतः न तो प्रत्येक शिक्षक में मिलते हैं और न शिक्षण प्रत्येक व्यक्ति का कार्य ही है। वस्तुतः यह कार्य वह व्यक्ति कर सकता है जिसमें कुछ विशिष्ट शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, नैतिक एवं संवेगात्मक गुण हों।[2]

अध्यापक का कर्त्तव्य है कि शिष्य के अध्ययन के लिए उचित वातावरण उत्पन्न करे। निर्दिष्ट कार्य की व्याख्या करके अध्यापक को छात्रों की कठिनाइयों को दूर करना चाहिए। प्रयोग की जाने वाली सामग्री के सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाएं देना और निश्चित अवधि में छात्रों से कार्य पूरा कराने का उत्तरदायित्व अध्यापक पर ही होता है, प्रयोगशाला को नवीनतम साधनों से सुसज्जित एवं व्यवस्थित रखना अध्यापक का महत्त्वपूर्ण कार्य है क्योंकि इसके अभाव में डाल्टन पद्वति सफल नहीं हो सकती।[3]

शिक्षा तो जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। बालक का भली भांति निरीक्षण करके मानसिक तथा सामाजिक प्रभाव से प्रेरित कर उसे शारीरिक और आत्मिक विकास तथा चरित्रनिर्माण के साथ-ही-साथ आजीविका उपलब्ध करने के योग्य बनाना शिक्षा का महनीय उद्देश्य है। उद्देश्य से ही बालक में क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। विद्या स्वयं में उद्देश्य नहीं है, अपितु उद्देश्य की पूर्ति का साधन है और लक्ष्य की ओर ले जाने का प्रशस्त मार्ग है।[4]

छात्रों के जीवन में रूचि लेना और विषय को उनके हृदय तक उतार देना-ये दो गुण छात्रों की दृष्टि में शिक्षकों के लिए उपयोगी हैं। छात्रों को अपने आदर्श तथा श्रेष्ठ शिक्षक में इन्हीं गुणों की अपेक्षा है।[5]

---

1. वि० प्र० सं० स्वा० शि० - एस० पी० सुखिया पृ० 24
2. वही - वही पृ० 26
3. स्व० स० शि० प० - डॉ वि० के० जवली पृ० 199
4. क० शि० पृ० 106
5. आ० भा० गु० शि० स० - फूलकांत मिश्र पृ० 64

माध्यमिक विद्यालय के स्तर पर गुरु शिष्य का सम्बन्ध बहुत कुछ स्नेहपूर्ण तथा सौमनस्य से युक्त है। केवल मन्दबुद्धि छात्रों की दृष्टि में गुरु आतंक के पर्याय माने जाते हैं। जहां तक तेज और मेधावी विद्यार्थियों का प्रश्न है, हम देखते हैं कि वे उन गुरुओं के बड़े भक्त होते है, जो निरन्तर विद्याध्ययन में लगे रहकर छात्रों को अपने कुशल अध्यापन से सन्तुष्ट करते हैं तथा सबों पर समान भाव रखते हैं।[1]

शिक्षण एवं अर्थव्यवस्था

शिक्षण से साधारणतः बालक को शिक्षण के द्वारा विभिन्न विषयों का ज्ञान प्रदान करना समझा जाता है। पर शिक्षण की यह धारणा पूर्णतया सत्य नहीं है। लेंडन ने ठीक ही लिखा हैं- "ज्ञान के प्रस्तुतीकरण की विधि की अपेक्षा शिक्षण कहीं अधिक है।"[2] सामान्यतः शिक्षण के दो अर्थ हैं। व्यापक और संकुचित।

1. **शिक्षण का व्यापक अर्थ–** व्यापक अर्थ के अनुसार "शिक्षण" मनुष्य के जीवन में निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। मनुष्य को अपने परिवार, विद्यालय, कार्यालय, समाज, वातावरण आदि से किसी न किसी रूप में शिक्षण प्राप्त होता रहता है।

उदाहरणार्थ- माता बच्चे को चलने का शिक्षण देती है और शिक्षक बालक को इतिहास का शिक्षण देता है पर शिक्षण यहीं तक सीमित नहीं है। प्रत्येक व्यवसाय और उद्योग में प्रवेश करने वाले व्यक्तियों को शिक्षण दिया जाता है। एक व्यक्ति के रूप में आप स्वयं अपने बारे में सोचिये। चाहे आप डाक्टर हों या इंजीनियर, उच्च कर्मचारी हों या साधारण क्लर्क, राजनैतिक नेता हों या समाज–सेवक आप सदैव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में दूसरों को कुछ शिक्षण देते हैं और उनसे शिक्षण प्राप्त करते हैं।

अतः व्यापक अर्थ में शिक्षण में औपचारिक और अनौपचारिक–दोनों प्रकार के साधन निहित हैं। सारांश में, "अपने व्यापक अर्थ में शिक्षण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति को अपने परिवार, विद्यालय, मित्रता, मनोरंजन और व्यवसाय से अपने वातावरण से अनुकूलन करने के लिए आजीवन शिक्षण प्राप्त होता है।[3]

2. **शिक्षण का संकुचित अर्थ** - संकुचित या सीमित अर्थ के अनुसार शिक्षण के लिए औपचारिक साधनों का प्रयोग होता हैं। इस प्रकार का शिक्षण पूर्व

---

1. आ० भा० गु० शि० स० - फूलकांत मिश्र पृ० 67
2. The principles & Practices of Teaching - Joseph Landen
   उद्धृत स० शि० क० - पाठक एवं त्यागी पृ० 7
3. वही वही

नियोजित होता है और एक निश्चित समय में निश्चित विधियों के अनुसार दिया जाता है, उदाहरणार्थ- विद्यालय में विभिन्न विषयों का शिक्षण होता है। यह शिक्षण कुछ ही वर्षों तक प्रदान किया जा सकता है और इस पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य होता है।

सारांश में– "अपने संकुचित अर्थ में शिक्षण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति को एक निश्चित योजना के अनुसार, एक निश्चित समय तक, एक निश्चित बात का शिक्षण दिया जाता है।[1]

1. शिक्षण सम्बन्ध स्थापित करना है

क) बाल–प्रकृति का ज्ञान- शिक्षक की बाल प्रकृति का सामान्य ज्ञान और जिन बालकों को वह शिक्षा देता है, उनकी प्रकृति का विशेष ज्ञान होना चाहिए। उसे यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि बालकों के शारीरिक स्वास्थ्य, शरीरिक शक्तियों, योग्यताओं, रूचियों, संवेगों, बुद्धि, स्वभाव आदि में विभिन्नता होती है। उसकी सफलता उन विभिन्नताओं को समझने और इनको व्यावहारिक रूप प्रदान करने पर निर्भर होती है।[2]

ख) अपने आपका ज्ञान– "शिक्षक को अपने आप का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, जिससे कि वह अपनी स्वयं की भावनाओं और बालकों के प्रति अपने स्वयं के व्यवहार को समझ सकें।[3]

ग) विषय व रूचि का ज्ञान- शिक्षक को उस विषय का ज्ञान होना चाहिए जिसे वह अपने छात्रों को पढाने का प्रयास करता है। उसे इस बात का भी ज्ञान होना चाहिए कि वह बालक और विषय में किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करे। दूसरे शब्दों में उसे शिक्षण विधि का ज्ञान होना चाहिए।

घ) प्रभाव का ज्ञान– शिक्षक को उस बात का ज्ञान होना चाहिए कि बालक के ऊपर उसका स्वयं का, उसके व्यक्तित्व, आदतों और कार्यों का एवं जो वह कहता और करता है। उस का क्या प्रभाव पड़ता है। बालक पर पड़ने वाले इन प्रभावों का ज्ञान उसके लिए अति आवश्यक है। क्योंकि इनको जानकर ही शिक्षण की उचित विधियों का प्रयोग कर सकता है। इससे उसको अपने शिक्षण को सुधारने में सहायता मिलती है।

ड) जीवन दर्शन का ज्ञान- शिक्षक का जीवन के प्रति एक निश्चित

---

1. स० शि० क० - पाठक एवं त्यागी पृ० 8
2. The principles of teaching - W. M. Ryburn उद्धृत स० शि० क० - पाठक एवं त्यागी पृ० 10
3. वही - वही

दृष्टिकोण होना चाहिए, जिसे हम जीवन-दर्शन कहते हैं। उसकी निश्चित धारणायें और उच्च आदर्श होने चाहिए। उसे ईश्वर और मनुष्यों में आस्था होनी चाहिए। उसमें सत्य और उसके प्रसार के प्रति प्रेम होना चाहिए। उसे अपने देश और संसार की सेवा में संलग्न रहना चाहिए। उसे 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

च) विषय के प्रस्तुतीकरण का ज्ञान- शिक्षक को इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि वह शिक्षण की विषय सामग्री बालक के समक्ष किस प्रकार प्रस्तुत करे। इस सम्बन्ध में वेल्टन का कथन है। "शिक्षण को ज्ञान की सामग्री इस प्रकार प्रस्तुत करनी चाहिए कि उसमें निहित वास्तविक सम्बन्धों को भली प्रकार समझा जा सके।"[1]

2. शिक्षण-सूचना देना: शिक्षण के समय अध्यापक अपने छात्रों को प्रायः नई सूचना देता है। ऐसी बहुत सी बातें होती हैं, जिन्हें वे बिना बताये नहीं जान सकते हैं, अतः उनको उन बातों का बताया जाना आवश्यक है। प्रारम्भिक कक्षाओं में तो शिक्षक का अधिकांश समय अपने छात्रों को सूचनाएं देने और विभिन्न प्रकार की बातें बताने में व्यतीत होता हैं। इस दृष्टिकोण से शिक्षण का अर्थ सूचना देना है।

सूचना देने में कहानी कहने की कला बहुत सहायक होती है। जो शिक्षक इस कला में निपुण होता है, उसके लिए सूचना द्वारा ज्ञान प्रदान करने का कार्य सरल हो जाता है। इस कार्य को खेल का रूप देकर भी रोचक और आकर्षक बनाया जा सकता हैं इसके अतिरिक्त, यदि शिक्षक अपनी सूचना का सम्बन्ध उस बात से स्थापित कर दे, जिसे बालक जानता है, तो बालक उस सूचना को सरलता से समझ जाता है।

3. शिक्षण-सिखाना है- शिक्षण को तभी सफल माना जा सकता है, जब वह बालक को सीखने और स्वयं कुछ कार्य करने में सहायता देता है। इस दृष्टिकोण से शिक्षक केवल एक साधन है शिक्षण द्वारा उनका कार्य हैं - बालक को सिखाना, सीखने के लिए उसे प्रेरित करना और इसं प्रकार उसकी प्रगति में योग देना। ह्यूजेज व ह्यूजेज का कहना है- शिक्षण का अर्थ है- सिखाना। तब तक कुछ नहीं दिया गया है, जब तक ग्रहण नहीं किया गया है, तब तक कुछ नहीं पढाया गया है, जब तक कुछ सीखा नहीं गया है।

---

1. Principles & Methods of Teaching - J. Welton - उद्धृत - स० शि० क० पृ० 11 पाठक एवं त्यागी

4. शिक्षण–वातावरण से अनुकूलन करने में सहायता देना है- प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री जॉन डीवी का मत है- "समस्त शिक्षा मानव- जाति की सामाजिक चेतना में व्यक्ति द्वारा भाग लेने से प्रारम्भ होती है।"

व्यक्ति को इस सामाजिक चेतना में भाग लेने के योग्य बनाना शिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। बालक अपने वातावरण के प्रति बुरी प्रतिक्रिया न करके केवल अच्छी प्रतिक्रिय ही करे, यह केवल शिक्षण द्वारा समीव हो अच्छी प्रक्रिया और आध्यात्मिक विकास हो सकता है। सिम्पसन का कथन है-"शिक्षण वह साध न है, जिसके द्वारा समाज अपने बालकों को चुने हुए वातावरण से, जिसमें कि उनको रहना है, शीघ्रातिशीघ्र अनुकूलन करने की क्रिया में प्रशिक्षित करता है।[1]

5. शिक्षण मार्ग प्रदर्शन है- जिस प्रकार पुस्तकों, पुस्तकालयों और प्रयोगशालाओं का अभाव था, उस समय शिक्षण का मुख्य उद्देश्य-सूचना देना समझा जाता था। पर आज जब इन वस्तुओं का बाहुल्य है, तब शिक्षण का अर्थ मार्ग प्रदर्शन माना जाता हैं। बालकों के मस्तिष्क अपरिपक्व होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि न केवल उनके कार्यों, वरन् उनकी आदतों, रूचियों और प्रवृत्तियों को शिक्षण द्वारा उचित दिशा में निर्देशित किया जाय। रायबर्न ने मार्ग-प्रदर्शन को शिक्षण का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू माना है। उसका कथन है कि शिक्षक को बालकों को पढ़ने, सीखने, कार्य करने और विचार करने की उचित विधियां सिखाकर उनका मार्ग प्रदर्शन करना चाहिए। **रिस्क के अनुसार** "शिक्षण को सीखने के निर्देशन या पथ प्रदर्शन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[2]

6. शिक्षण–प्रेरित करना है- प्रेरित करने का अर्थ है-बालक की किसी कार्य में रूचि उत्पन्न करना, जिससे कि वह उसे सफलतापूर्वक कर सके। प्रेरित न करने से या तो बालक उस कार्य को करेगा ही नहीं या अधूरा करके छोड़ देगा। अतः शिक्षण का तात्पर्य है-बालक को किसी कार्य को करने या सीखने के लिए प्रेरित या उत्साहित करना। यह तभी सम्भव है, जब शिक्षक बालक को विभिन्न कार्य को करने के अवसर प्रदान करके उसकी रूचियों, रूझानों और कुशलताओं की पूरी जानकारी प्राप्त कर ले। ऐसा करने के बाद ही वह अपने छात्रों को प्रेरित या उत्साहित करने में सफल हो सकेगा।

शिक्षण के इस पहलू पर बल देते हुए रायबर्न ने लिखा है- "शिक्षा की परिभाषा प्रोत्साहन के रूप में दी गई है। इससे बच्चों को सिखाया जाता है। उनको सिखाने के लिए हमें उनके उत्साहों, इच्छाओं और रूचियों को जाग्रत करना

---

1. स० शि० क० - पाठक एवं त्यागी पृ० 11
2. Principles & Practices in Secondary Schools - Thomas M. Risk P. 6

पड़ता है। और उन उत्साहों, इच्छाओं और रूचियों को उचित प्रकार से पथ–प्रदर्शित करना पड़ता है।"[1]

7. शिक्षण–संवेगों का प्रशिक्षण है– शिक्षण का अभिप्राय केवल बालक का शारीरिक और मानसिक विकास करना ही नहीं हैं वरन् उसके संवेगों को भी प्रशिक्षित करना है। यदि हम चाहते हैं कि बालक उचित कार्य करे, तो हमें उसमें उचित भावना उत्पन्न करना आवश्यक है। हमारा शिक्षण तभी सफल कहा जा सकता है, जब वह बालक में संवेगात्मक स्थिरता का विकास करे। रायबर्न ने ठीक ही लिखा है– "यदि हम बालक को स्थायी संवेगात्मक जीवन का विकास करने में सहायता देने की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देंगे तो हमारा शिक्षण अत्यधिक एकांगी और विकृत हो जाएगा।"[2]

8. शिक्षण–क्रियाशीलता के लिए अवसर प्रदान करना है– प्रत्येक बालक में क्रियाशीलता की जन्मजात प्रवृत्ति होती है। शिक्षक को बालक की इस प्रवृत्ति से लाभ उठाना चाहिए और उसे बालक को ऐसे अवसर देने चाहिए, जिससे कि वह क्रियाशीलता की अपनी प्रवृत्ति को सन्तुष्ट कर सके। अतः शिक्षण का एक कार्य यह है कि वह बालक को क्रियाशीलता की अपनी इच्छा को पूर्ण करने का अवसर दे। इस सम्बन्ध में रायबर्न का कथन है– "प्रत्येक बालक में क्रियाशील होने की जन्म–जात प्रवृत्ति होती है। शिक्षण के अधिकांश भाग का कार्य है– क्रियाशीलता की इस इच्छा को पूर्ण करने के लिए अवसर प्रदान करना।"[3]

9. शिक्षण – सीखने का संगठन है– मरसेल का कथन है– "शिक्षण को सीखने के संगठन रूप में सर्वोत्तम प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है।"[4]

10. शिक्षण तैयारी का साधन है– शिक्षण बालक का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, चारित्रिक, आध्यात्मिक और संवेगात्मक विकास करके उसे भावी जीवन के लिए तैयार करता है। यदि 12 वर्ष का बालक उसी प्रकार जीवन व्यतीत कर रहा है, जिस प्रकार 12 वर्ष के बालक को करना चाहिए, तो वह भविष्य के लिए सर्वोत्तम प्रकार की तैयारी कर रहा है। इस प्रकार शिक्षण व्यक्ति के भावी जीवन की तैयारी का एक साधन है।

इस तथ्य पर बल देते हुए रायबर्न ने लिखा है– "शिक्षण तैयारी का एक

1. The principles of teaching - W. M. Ryburn - उद्धृत - स० शि० क० पाठक एवं त्यागी पृ० 11
2. The principles of teaching - W. M. Ryburn - उद्धृत - वही
3. The principles of teaching - W. M. Ryburn - उद्धृत - वही
4. Successful Teacher - James L. Mursell - उद्ृत - स० शि० क० पाठक एवं त्यागी पृ० 1

साधन है और शिक्षा के किसी विशेष स्तर पर बालक को पूर्ण जीवन व्यतीत करने में सहायता देना, उसे भविष्य के लिए तैयार होने में सहायता देना है। इस प्रकार शिक्षण के साथ तैयारी का यह पहलू सदैव आबद्ध रहेगा।"[1]

जॉन डीवी के अनुसार शिक्षा की प्रक्रिया त्रिमुखी है रायबर्न के अनुसार भी शिक्षण की प्रक्रिया भी त्रिमुखी है। रायबर्न ने लिखा है-"शिक्षा में तीन केन्द्र बिन्दु हैं- शिक्षक, बालक और विषय। 'शिक्षण' इन तीनों में स्थापित किया जाने वाला सम्बन्ध है।[2]

हम उपर्युक्त कथन को एक उदाहरण देकर स्पष्ट कर सकते हैं- "शिक्षक राम को इतिहास पढ़ाता है।" इस वाक्य में तीन संज्ञाओं में सम्बन्ध व्यक्त किया गया है। इन संज्ञाओं में दो का प्रयोग व्यक्तियों के लिए और एक का विषय के लिए हुआ है- शिक्षक, राम (छात्र) और इतिहास (विषय)। इन तीनों में 'पढ़ाता है'(Teacher) क्रिया द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

इस प्रकार शिक्षण की प्रक्रिया के तीन अंग हैं एक व्यक्ति जिसे हम शिक्षक कहते हैं, बालक और विषय। शिक्षण की प्रक्रिया में इन तीनों अंगों या तत्त्वों का होना अनिवार्य है जब तक तीनों तत्त्व उपस्थित नहीं होंगे, तब तक शिक्षण की प्रक्रिया नहीं होगी, अतः हम कह सकते हैं- "शिक्षण त्रिमुखी प्रक्रिया है, जो शिक्षक बालक और विषय में सम्बन्ध स्थापित करती है। जब तक ये तीनों उपस्थित नहीं होते हैं, तब तक शिक्षण की प्रक्रिया नहीं होती है।[3]

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) तथा शिक्षक शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों का कार्य एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निवेश है। शिक्षकों का उत्तरदायित्व अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। शिक्षकों को विद्यालयों में ऐसा सुन्दर वातावरण निर्मित करना होगा जिसमें बालकों की छिपी प्रतिमाएं प्रस्फुटित हो सके। यह वातावरण छात्रों को ऐसा भाये कि वे विद्यालय जाने में खुशी का अनुभव करे।[4]

राष्ट्रीय शिक्षा–नीति में शिक्षक के महत्त्व को स्वीकारा गया है। इसमें कहा गया है "किसी समाज में शिक्षक के स्तर से उसकी सांस्कृतिक सामाजिक स्थिति का पता लगता है, कहा जाता है कि कोई भी राष्ट्र अपने शिक्षकों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता है।"[5]

---

1. The principles of teaching - W. M. Ryburn - उद्दृत -वही
2. The principles of teaching - W. M. Ryburn - उद्दृत -वही
3. स० शि० क० - पाठक एवं त्यागी पृ० 9
4. वि० प्र० सं० स्वा० शि० - एस० पी० सुखिया पृ० 37
5. National Policy of Education 1986

अतः राष्ट्र के विकास एवं उसकी स्मृद्धि में शिक्षक की महत्त्वपूर्ण भूमिका को मान्यता प्रदान की गई। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों की भूमिका के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय शिक्षा-नीति में शासन और समुदाय द्वारा ऐसी स्थितियां उपस्थित करने पर बल दिया गया जिनसे शिक्षकों को रचनात्मक तथा सृजनात्मक कार्यों के लिए प्रेरणा व प्रोत्साहन मिले और वे शिक्षा के क्षेत्र में नवीन प्रयोग करने में समर्थ हों।[1]

बालकों को सामाजिक जीवन की शिक्षा देना शिक्षण का सामान्य उद्देश्य है। बालकों को बचपन में और उसके बाद युवा होने पर क्या-क्या सीखना चाहिए, क्या क्या करना चाहिए, किस तरह का बर्ताव करना चाहिए, इनका शिक्षण देना विद्यालय एवं अन्य संस्थाओं का कर्त्तव्य है। घर, मठ, संघ, विद्यालय सिनेमा, रेडियो, समाचार पत्र, पुस्तकालय, भाषण इत्यादि- ये सब शिक्षण संस्थाएं हैं। बालक के ज्ञान को बढाने में, उसके चरित्र को रूपित करने में उसके उद्योग धन्धे सिखाने और कुल मिलाकर उसके व्यक्तित्व का विकास करने में इन संस्थाओं से सहयोग मिलता है।[2]

आधुनिक युग में शिक्षण का अर्थ अत्यधिक विस्तृत और व्यापक हो गया है। शिक्षण द्वारा बालक को ज्ञान प्रदान किया जाता है, सीखने में सहायता दी जाती है, कार्य करने के लिए प्रेरित किया जाता है,अपनी सब शक्तियों को प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, अपने वातावरण से अनुकूलन करना सिखाया जाता है और भावी जीवन के लिए तैयार किया जाता है। इस प्रकार शिक्षण के अन्तर्गत शिक्षक और छात्र-दोनों का कार्य सम्मिलित रहता हैं। इसमें न केवल सर्वोत्तम विधि से ज्ञान प्रदान करने का मानसिक प्रभाव, अपितु वह नैतिक प्रभाव भी सम्मिलित होता है, जिससे प्रेरित होकर बालक ज्ञान का प्रयोग इस प्रकार करता है कि वह उससे लाभान्वित होता है।[3]

स्पेन्सर का विचार था कि शिक्षण विधि को रोचक, लाभप्रद एंव मानसिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया के अनुसार होना चाहिए। इस दृष्टि से उसने निम्नांकित शिक्षण सूत्र निकाले, सरल से जटिल की ओर बढो, स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढो, ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ो, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर बढ़ो, अनिश्चित से निश्चित की ओर बढ़ो, अनुभूत से युक्तियुक्त की ओर बढ़ो, स्वशिक्षा पर बल, सांस्कृतिक-युग- सिद्धान्त का अनुसरण करो, शिक्षा की विधि बालक की रूचि के अनुकूल एवं सुखद हो।[4]

---

1. वि० प्र० सं० स्वा० शि० - एस० पी० सुखिया पृ० 38
2. स्व० स० शि० प० - डॉ वि० के० जवली पृ० 161
3. स० शि० क० - पाठक एवं त्यागी पृ० 15
4. शि० सा० सि० - त्यागी एवं पाठक पृ० 725-726

शिक्षा किसी न किसी भांति सदैव समाज की सामाजिक एवं आर्थिक व्यावस्था पर प्रभाव डालती रही है, किन्तु इस तथ्य की सच्चाई पर वर्तमान काल में ही विशेष ध्यान दिया गया है। वर्तमान काल में शिक्षा के सम्बन्ध में धारण बदल गई है। इस काल में कोई भी राष्ट्र सामाजिक या आर्थिक विकास बिना पर्याप्त संख्या में प्राप्त में उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों एवं कुशलता प्राप्त व्यक्तियों के विचार प्राप्त नहीं कर सकता है। आज के संसार में वही राष्ट्र प्रगति कर सकते हैं जिनके पास अपने नागरिकों को शिक्षित करने के अच्छे साधन उपलब्ध हैं। इसमें अब कोई संदेह नहीं है कि केवल शिक्षित ही उत्पादन में सहायक हो सकते हैं। अशिक्षित तो अर्थिक दृष्टिकोण से राष्ट्र के लिए दायित्वहीन हैं। एक अशिक्षित व्यक्तियों का राष्ट्र अपने अस्तित्व को बनाये रखने में भी कठिनाई अनुभव करता है। आधुनिक काल के तकनीकी और वैज्ञानिक विकासों ने मानव की प्रकृति की शक्तियों के ऊपर विजय ने, विनाशकारी शास्त्रों के उत्पादन ने, मानव व्यक्तित्व की गहराइयों की खोज ने तथा मन को किसी ओर मोड़ देने की क्षमता ने यह प्रदर्शित कर दिया है कि उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति ही राष्ट्र को राजनीति तथा आर्थिक रूप से जीवित रख सकते हैं।[1]

आज ही हमारी सभ्यता, परिणामस्वरूप हमारी शिक्षा अर्थप्रधान हो चली है जिसमें भौतिक सुख-सुविधाओं की भरपूर व्यवस्था में ही हमारी तमाम शक्ति खप जाती है। हमारे विद्यालयों के प्रबन्धकों, प्रधानाचार्यो को बहुत बडी शक्ति विद्यालय के उत्तम, महंगे, भवन व फर्नीचर बनवाने में ही खर्च कर देनी पड़ती है। इस स्थिति में जो विद्यालय उत्तम भवन बनवा पाने में असमर्थ रह जाते हैं, वे समाज मे हेय दृष्टि से देखे जाते हैं।

भौतिक स्वरूप उत्पन्न करने की भाग दौड़ में मुख्य कार्य बालक की शिक्षा गौण बन कर रह जाती है। इसके विपरीत दीर्घ काल में विकसित हमारी भारतीय संस्कृति अर्थप्रधान के स्थान पर कर्म-प्रधान व संस्कार प्रधान रही है। भव्य-भवनों के स्थान पर उस समय के शिक्षा-केन्द्र प्रकृति के सुन्दर वन, उपवन एवं वाटिकाओं में स्थित थे। स्पष्ट है कि उनका स्वरूप विद्यालय, अर्थात् आज के विद्या की दुकान के बजाय गुरुकुल व आश्रम का था, जो आज की मनोवैज्ञानिक भाषा में 'उत्तम एवं श्रेष्ठ व्यक्तित्व' के निर्माण में पूर्ण सक्षम था। आज विद्यालय के श्रेष्ठ भवन तो हैं, किन्तु उनमें श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो पाता।[2]

शिक्षा व्यक्ति की योग्यता के आधार पर प्रदान की जाती है उसकी आर्थिक स्थिति के आधार पर नहीं। शिक्षा समस्त आर्थिक विकास की योजनाओं

1. शि० दा० सा० आ० - डॉ एस० एस० माथुर पृ० 505
2. भा० शि० वि० अ० - डॉ रामशकल पाण्डेय पृ० 64

का एक अंग होती है।

सामूहिक अथर्वव्यवस्थाओं में शिक्षा का उद्देश्य प्रमुख रूप से मानवीय शक्ति का निर्माण होता है जो सामूहिक अर्थतन्त्र को सुदृढ़ करने में प्रयुक्त होती है।

सामूहिक अर्थव्यवस्था में शिक्षा पूरे तौर पर समाज के हाथों में होती है और आर्थिक विकास की योजनाओं के अनुरूप व्यवस्थित की जाती है। व्यक्ति को अपनी रूचि, प्रतिभा का वैयक्तिक आवश्यकता के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिल पाता।[1]

अर्थशास्त्रियों ने शिक्षा की महता को एक निवेश के रूप में स्वीकार किया है एडम स्मिथ(Adam Smith) ने अपनी पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' मे शिक्षा को एक प्रकार की पूंजी माना है। उसने इसको अर्जित ज्ञान एवं कौशलों के रूप में माना है। उसने शिक्षा को नागरिक प्रशासन, आर्थिक क्रियाओं तथा प्रगति का केन्द्र-बिन्दु माना है। एडम स्मिथ ने गरीबों की शिक्षा के लिए सार्वजनिक कोष से व्यय करने के लिए कहा है।

आधुनिक काल में मानव-संसाधन के महत्त्व की पुन: खोज की गई इसका श्रेय शून्य हो जाता है जिसने शिक्षा को आर्थिक विश्लेशण की मुख्य धारा में डालने का सफल प्रयास किया। अब विश्व के अर्थशास्त्री शिक्षा के अर्थशास्त्र के नवीन आयाम की खाज में लगे हुए विशेषत: मानव पूंजी उत्पादन के सिद्धान्त, इसकी वित्त-व्यवस्था की विधियां तथा इसका आर्थिक विकास में सम्भावित योगदान आदि।[2]

अनिवार्य शिक्षा का सिद्धान्त सर्वमान्य है। अनिवार्य शिक्षा कहने के बाद शिक्षा का नि:शुल्क होना उसका एक स्वयंभू एवं स्वाभाविक पहले बन जाता है। अनेक देशों में प्राथमिक स्तर तक शिक्षा अनिवार्य एवं नि:शुल्क है, जबकि रूस में उच्चतम शिक्षा तक की नि:शुल्क व्यवस्था लागू है। भारत ने भी संविधान में 14 वर्ष तक के बालक -बालिकाओं के लिए अनिवार्य नि:शुल्क शिक्षा की घोषणा की है।

आज हम अनुभव कर रहे है कि पर्याप्त धन के अभाव में संविधान द्वारा घोषित 15 वर्ष के स्थान पर अब तक भी 14 वर्ष की आयु के बालक बालिकाओं की कौन कहे, हम प्राथमिक स्तर तक की शिक्षा भी अनिवार्य नहीं कर पाए। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए अभी कितने वर्ष लगेंगे, यह कहना नितान्त कठिन है। इसका कारण आर्थिक साधनों का अभाव ही है।

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के अतिरिक्त उच्च शिक्षा के निर्मित भी छात्रों से लिये जाने वाले भारी शिक्षा शुल्क के अतिरिक्त राज्य को प्रति विद्यार्थी सैकड़ों

1. शि० रूप० - एच० एस० बैस पृ० 356
2 भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 653

हजारों रूपये खर्च करने पड़ते हैं जो आवर्तक सहायता-अनुदान, पुस्तकालय, प्रयोगशाला, साज-सज्जा अनुदान आदि अनेक रूपों में विद्यालयों को राज्य द्वारा दी जाती है।[1]

आर्थिक वृद्धि का शिक्षा पर और शिक्षा का आर्थिक वृद्धि पर बहुत अधिक प्रभाव है। धनी राष्ट्रों में एक सम्पन्न तथा विस्तार होती हुई शिक्षा प्रणाली है तथा वह राष्ट्र जो शिक्षित है और एक उच्च कुशलता वाली शिक्षा प्रणाली रखते हैं वह धनी हैं। हम इस वाद विवाद में नहीं पड़ना चाहते कि शिक्षा पहले होती है और आर्थिक विकास बाद में। आर्थिक विकास के साथ प्रशिक्षित और शिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकताएं रेखा गणितीय अनुपात में बढ़ती हैं।

संसार के सभी देशों में शैक्षिक प्रयास बहुत तेजी से चल रहा है। यह प्रगतिशील देशों में बहुत सक्रिय है। भारत वर्ष में विद्यालय में जाने वाले बालकों की संख्या में वृद्धि हो रही है किन्तु अब भी हम साक्षरता अभियान और अनिवार्य विद्यालयी शिक्षा जो 6 वर्ष 14 वर्ष तक के बालकों को दी जानी चाहिए उसमें बहुत पिछड़े हैं।[2]

शिक्षा की आवश्यकता विभिन्न आर्थिक वृद्धि के स्तरों पर होती है, आर्थिक विकास का कोई भी स्तर हो शैक्षिक प्रयास में किसी प्रकार की कमी नहीं होनी चाहिए। वास्तव में शैक्षिक प्रयास आर्थिक विकास से सदैव अग्रिम होना चाहिए। जानवेजे(John Vaisey) के अनुसार- "जैसे-जैसे एक राष्ट्र सम्पन्न होता है वह शिक्षा पर खर्च अनुपातिक के रूप से कहीं अधिक करने लगता है।[3]

टी० डब्ल्यू० शुल्ज ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा "शिक्षा एक प्रकार का निवेश है"। परन्तु शिक्षा में संकल्पना व्यापारियों में स्पष्ट रूप से देखी जाती है। उन्होंने शिल्प एवं उद्योगों को अधिक महत्त्व दिया। साथ ही उन्होंने मानव में निवेश को मान्यता प्रदान की। उनका विचार था कि जन शक्ति की कुशलता ही आर्थिक विकास का मूल कारक है।[4]

शिक्षा के प्रतिलाभ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हो सकते हैं। वह प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय आय में वृद्धि कर सकते हैं या वह अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्तियों की योग्यताओं में विकास करके, उसके व्यक्तित्व में शिष्टता लाकर समाज को कहीं अधिक प्रतिलाभ शिक्षा व्यास से दे सकते हैं। युवतियों की शिक्षा पर व्यय ने केवल उनको

---

1. भा० शि० वि० अ० - डॉ रामशकल पाण्डेय पृ० 63
2. शि० दा० सा० आ० - डॉ एस० एस० माथुर पृ० 506
3. International Social Science Journal J. Vaizey - उद्दृत -वही
4. भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 652

रोजगार में लगाने के लिए आवश्यक हैं वरन् इस कारण भी कि वह अपने बालकों का पालन पोषण उत्तम ढंग से कर सकें जो राष्ट्र की धरोहर होते हैं। शिक्षा समाज के प्रतिलाभ के लिए हो सकती है। यदि शिक्षा ऐसी हो कि शिक्षित व्यक्ति किसी रोजगार में न लग सकें तो शिक्षा पर व्यय करना व्यर्थ हैं।[1]

शिक्षा से यह उपेक्षा की जाती है कि वह व्यक्ति में आर्थिक कुशलता या औद्योगिक नैपुण्य का विकास करे। वैयक्तिंक दृष्टि से आर्थिक कुशलता उसे अपने पैरों पर खड़ा होने की योग्यता देती है उद्योग प्रधान व्यवस्थाओं में यह औद्योगिक नैपुण्य का रूप लेती है- जिसके आधार पर वह अपने स्तर पर और कौशल के अनुसार धन उपार्जन में विभिन्न ऊँचाईयों पर पहुंच सकता है।[2]

भारत की अर्थ-व्यवस्था मिश्रित अर्थ-व्यवस्था है। इसमें सरकारी तथा निजी दोनों उपक्रमों को महत्त्व दिया गया है साथ ही हमारी अर्थ व्यवस्था कृषि तथा उद्योगों पर आधारति है। अतः शिक्षा को इस प्रकार नियोजित करने की आवश्यकता है कि यहां के सरकारी तथा निजी दोनों प्रकार के उद्योगों को तकनीकी विशेषज्ञ मिल सकें।[3] इन मानवीय संसाधनों के विकास में शिक्षा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

1. शिक्षा द्वारा तकनीकी क्षेत्र में क्रान्ति लाई जाती है और तकनीकी क्रान्ति का प्रमुख प्रभाव देश की उत्पादन क्षमता पर पड़ता है। तकनीकी एवं वैज्ञानिक ज्ञान से सकल राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ता है।
2. शिक्षा द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में समृद्धि के नये-नये मार्ग सुलभ होते हैं। ग्रामीण कृषि ज्ञान का उपयोग कर अपने उत्पादन को बढाते हैं।
3. शिक्षा श्रमिकों की कार्य-कुशलता में वृद्धि कर मानवीय साधनों को बढ़ाती है।
4. शिक्षा प्राकृतिक साधनों का सदुपयोग कर आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है।
5. शिक्षा के द्वारा राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था के दोषों को दूर कर उसे और अधिक प्रभावी बनाया जा सकता हैं।
6. मिरडल (Myrdal) समस्त शिक्षा व्यय को 'मानव में विनियोग' कहकर पुकारते हैं। उनका मत है कि शिक्षा व्यय भी अन्य पूँजीगत विनियोगों के ही समान है।
7. शिक्षा हमारे दृष्टिकोण एवं चिन्तन को नई दिशा प्रदान करती है। इससे

1. शि० दा० सा० आ० - डॉ एस० एस० माथुर पृ० 508
2. शि० रूप० - एच० एस० बैस पृ० 355
3. भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 650-651

पूंजी-निर्माण के सम्बन्ध में हमारी धारणाएं बदलती है।

बेरोजगारी के सबसे मुख्य कारण यह हैं कि शिक्षा वयवस्था में और मानव शक्ति की आवश्यकताओं में कोई तालमेल़ नहीं है, सामान्य एवं व्यावसायिक शिक्षा में असन्तुलन है, अपव्यय है तथा विद्यार्थियों के शिक्षा के स्तर में गिराव आ रहा है।

यह भी देखा गया है कि माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय के स्तर पर 50% से अधिक विद्यार्थी फेल हो जाते हैं और जो पास होते हैं उनमें से अधिकांश तृतीय श्रेणी में पास होते। यह उनके रोजगार प्राप्त करने में बहुत कमी लाते हैं। क्योंकि अधिकांश रोजगार देने वाले संगठन तृतीय श्रेणों में पास विद्यार्थियों को नियुक्ति के लिए अयोग्य मानते हैं।[1]

बेरोजगारी और शैक्षिक योग्यता की तुलना में नीचे पदों पर नियुक्त राष्ट्रीय पूंजी के ऊपर एक बहुत बड़ा बोझ है। एक ग्रेजूयेट की शिक्षा के ऊपर सरकार 2000 रू प्रतिमाह से कहीं अधिक खर्च करती है। यह उस व्यय के ऊपर है जो माता पिता अपने बालकों की शिक्षा पर खर्च करते हैं। यदि राष्ट्र को इस शिक्षा का शुद्ध आर्थिक पक्ष से लाभ नहीं मिलता तो इस पर सब खर्च व्यर्थ हो जाता है। इस प्रकार का अपव्यय राष्ट्र की पूंजी को नष्ट करने के समान है।

शिक्षा के उत्पादन को जांचने के लिए शिक्षा-अर्थशास्त्रियों ने जिन सूचकों का प्रयोग किया है, वे निम्नलिखित हैं।[2]

व्यय	प्रतिफल
1 शिक्षक तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं पर किया गया व्यय।	1. कितने छात्रों ने सफलता पूर्वक पाठ्यक्रम पूरा किया।
2. कार्यकर्त्ताओं द्वारा लगाया गया समय, श्रम तथा कार्यकुशलता।	2. छात्रों का गुणात्मक सुधार
3. छात्रों द्वारा लगाया गया समय जिसे वे धनोपार्जन के लिए लगा सकते थे।	3. पाठ्यक्रम को न्यूनतम अवधि में पूरा किया गया या अधिक समय में। क्या इससे कम समय में भी पूरा किया जा सकता था।
4. छात्रों के माता पिता द्वारा किया गया प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष व्यय।	4. उत्पादक के रूप में शिक्षित व्यक्ति की कार्य-कुशलता तथा प्रगति के अवसर।
5. शैक्षिक उपकरणें पर किया गया व्यय।	5. राष्ट्रीय आय में वृद्धि।
6. विद्यालय भवन पर किया गया पूंजीगत व्यय तथा उसके मूल्य में हास प्रभार।	6. ज्ञान तथा नई तकनीकों का उत्पादन
7. व्यवस्था तथा संगठन सम्बन्धी व्यय।	7. राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि

1. शि० दा० सा० आ० - डॉ एस० एस० माथुर पृ० 511-512
2. भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 654-655

व्यक्ति के सन्दर्भ मे लागत को निजी लागत कहते हैं। इसके अन्तर्गत शिक्षा-शुल्क, उपस्कर तथा त्यागी गई आय शामिल होती हैं

समाज के सन्दर्भ में आने वाली लागत को सामाजिक लागत कहते हैं। यह लागत बहुत व्यापक होती है। इसके अन्तर्गत न केवल शिक्षकों तथा अन्य कर्मचारियों का वेतन, पुस्तकों, उपस्कर, कच्च माल तथा भवन ही आते हैं, वरन् छात्रें की वैकल्पिक लागत की शामिल होती है। उदाहरणार्थ-छात्रों का समय जो वे शिक्षा प्राप्त करने के लिए लगाते हैं। इस समय की वैकल्पिक लगात निकालने के लिए हमे यह मालूम करना पड़ेगा कि वे इस समय को किसी वैतनिक कार्य में लगाते तो उन्हें क्या आर्थिक लाभ होता। वैकल्पिक लागत में ऐसे संसाधनों का मूल्य आता हैं जो खरीदे या बेचे नहीं जाते, बल्कि उनका मूल्य त्यागी गई आय से आँका जाता है।[1]

प्रौढ़-शिक्षा

भारत में प्रौढ़-शिक्षा का आन्दोलन बीसवी शताब्दीं के दूसरे दशक से आरम्भ हुआ। श्री एन० विस्वासवर्या मैसूर के दीवान ने सबसे पहले सन् 1912 में अपनी रियासत के प्रौढ़ों को शिक्षा प्रदान करने के लिए कुछ रात्रि विद्यालय खोले थे और कुछ पुस्तकालय भी स्थापित किये थे। मॉटफोर्ड सुधारों में भी प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था थी।

टैगोर ने भी शान्तिनिकेतन को प्रौढ़-शिक्षा का केन्द्र बनाया था। विभिन्न प्रदेशों में प्रौढ़ शिक्षा सम्बन्धी कई प्रयास किये गये। परिणामस्वरूप उत्तर प्रदेश, पंजाब, बम्बई, मध्य प्रदेश, बंगाल, मद्रास आदि प्रान्तों में रात्रि पाठशालाएं तथा रात्रि कक्षाएं खोली गई। सन् 1927 में अकेले पंजाब में ही 3784 रात्रि स्कूल खुल गये थे जिनमें एक लाख के लगभग व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। हर्टोग कमेटी के अनुसार सन् 1927 में ब्रिटिश भारत में ग्यारह हजार से अधिक प्रौढ़ शिक्षण संस्थाये विद्यामान थीं जिनमें लगभग तीन लाख व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करते थे।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् प्रौढ़-शिक्षा को निम्नलिखित कारणों से प्रोत्साहन मिलाः-

1) लोगों में जागृति और उत्साह
2) सहयोग आन्दोलन में विकास
3) टैगारे जैसे व्यक्तियों तथा सहकारी समितियों द्वारा चलाये गये साक्षर आन्दोलन।
4) प्राइमरी तथा मिडल स्कूलों में प्रौढ़-शिक्षा केन्द्रों का स्थापित हो जाना।[2]

---

1. भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 655
2. आ० भा० शि० स० - जे० एस वालिया पृ० 305

आर्थिक दबाव, राजनीतिक उथल-पुथल तथा सामुदायिक कटुता के कारण 1927-37 के दौरान प्रौढ़ शिक्षा का ह्रास हुआ। अधिकांश प्रौढ़-स्कूल बन्द कर दिये गए। भारतीय कार्यों पर प्रकाशित आक्सफोर्ड -पैम्फलिट के अनुसार पंजाब में 1927 में प्रौढ़-शिक्षा संस्थाएं 98,414 थीं जो गिर कर 1937 में 5,000 रह गई। पंजाब में 1927 में 3,784 प्रौढ़ स्कूल थे, परन्तु 1937 में केवल 189 प्रौढ़ स्कूल रह गये। फिर भी कुछ ग्रामीण पुस्तकालयों की स्थापना की गई।[1]

प्रौढ़ शिक्षा का स्थान व महत्त्व

भारत की वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में प्रौढ अथवा समाज शिक्षा के स्थान एवं महत्त्व का विवेचन करते हुए डॉ० के० जी० सैयदैन ने लिखा है हम राष्ट्रीय जीवन के ऐसे नए युग में प्रवेश कर रहे हैं, जो शायद आने वाली कई शताब्दियों के लिए हमारे देश की भावी व्यवस्था की रूपरेखा निर्धारित कर देगा।[2] यदि आप मुझे एक स्वतः स्पष्ट सत्य को दोहराने की अनुमति दें तो मैं कहूंगा कि अकेले राजनीतिक स्वतन्त्रता किसी भी समाज या राष्ट्र के लिए, अच्छे जीवन का आश्वासन नहीं कर सकती है। वास्तव में जब तक जनता 'निरन्तर सतर्कता' के रूप में अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रा का मूल्य चुकाने को तैयार न हो, तब तक वह स्वतन्त्रता को भी सुरक्षित नहीं रख सकते हैं। यदि हमारा लक्ष्य ऊँचा है और हम अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता के सहारे समाजिक स्वतन्त्रता तथा आर्थिक लोकतन्त्र के लक्ष्य तक पहुंचाना चाहते हैं, तो स्पष्टतः हमें जनसाधारण के लिए कहीं अधिक उच्च स्तर की शिक्षा की आवश्यकता होगी, नहीं तो हमेशा इस बात का खतरा रहेगा कि चतुर लेकिन बेईमान दल या व्यक्ति अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनुचित लाभ लठायें।[3]

डा० मणि के शब्दों में- "समाज शिक्षा बहुमखी प्रयास है, क्योंकि भारत जैसे जनतन्त्रीय धर्म निरपेक्ष राज्य में इसका प्रमुख उद्देश्य-व्यक्ति में न केवल नागरकिता के अधिकारों की, वरन उत्तरदायित्वों की भी सजीव चेतना का विकास करना हैं।"[4]

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सभी मतदाताओं में नागरिकता की भावना का विकास होना आवश्यक है। मतदाता देश के स्वामी हैं और मतदान उनकी नागरिकता

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस वालिया पृ० 305
2. शिक्षा की पुनर्रचना - के० जी० सैयदैन पृ० 182-183
3. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 183
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 408-409
   ग) आ० भा० शि० स० - डॉ० बी० बी० अग्रवाल पृ० 260
4. क) भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 184
   ख) भा० शि० स० - पी० डी० पाठक पृ० 409

का प्रतीक एवं पवित्र दायित्व है। देश के स्वामी यदि अपनढ़ रह गये और उन्होंने अपना मत बिना विचारे दिया या अज्ञानतावश उसकी बिक्री कर दी तो देश का अहित हो जायेगा। देश के सभी स्वामी शिक्षित होने चाहिए। हमारे पंचायत से लेकर संसद तक की लोकतान्त्रिक व्यवस्था की सफलता हेतु प्रबुद्ध मतदाताओं का होना अत्यन्त आवश्यक है।

इस दृष्टि से प्रजातन्त्र में प्रौढ़ शिक्षा का कार्य यह है कि प्रत्येक व्यस्क को उस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दे जिस प्रकार की शिक्षा वह चाहता है और जो उसकी व्यक्तिगत समृद्धि, व्यावसायिक प्रगति तथा सामाजिक और राजनीतिक जीवन में प्रभावकारी रूप से भाग लेने के लिए आवश्यक हो।[1]

आधुनिक संचार और परिवहन व्यवस्था से समाज में अद्‌भुत परिवर्तन हो गये हैं। औद्योगिक क्रान्ति और हरित क्रान्ति ने जटिल समस्याएं पैदा कर दी हैं। आवास समस्या, स्वास्थ्य समस्या, नवीन व्यावसायिक निपुणताएँ प्राप्त करने की आवश्यकता, एक लघु समुदाय के सदस्य होने के स्थान पर एक अपरिचित विश्व में स्थान ग्रहण करना आदि समस्याओं से आज का मनुष्य घिरा हुआ है।[2] प्रौढ़ शिक्षा का उद्‌देश्य इन समस्याओं से सफलतापूर्वक निपटने का है।

समाज और प्रौढ़ शिक्षा के उद्‌देश्य, लक्ष्य या महत्त्व– भारत सरकार ने समाज शिक्षा के उद्‌देश्य को दो वर्गों में बांटा है-

1) **व्यक्तिगत** और 2) **सामाजिक**

क) व्यक्तिगत उद्‌देश्य

1) **शारीरिक विकास–** प्रौढ़ो के शारीरिक विकास के लिए समाज शिक्षा स्वास्थ्य एवं स्वच्छता की उन्नति की उचित व्यवस्था करती है। इसके द्वारा बीमारियों को रोकने तथा प्रौढों को पौष्टिक भोजन देने की व्यवस्था की जाती है।

2) **मानसिक विकास–** समाज शिक्षा उन प्रौढ़ों की शिक्षा की व्यवस्था करती है जो अपनी पारिवारिक एवं आर्थिक स्थितियों के कारण शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। इस प्रकार यह उनके बौद्धिक विकास मे सहायता करती है।

3) **सामाजिक कुशलताओं का विकास–** सामाजिक कुशलताओं का विकास करने के लिए समाज शिक्षा उन्हें अपने कर्त्तव्यों तथा अधिकारों के प्रति सचेत करती है, उन्हें अपने पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने के साधन

---

1. आ० भा० शि० स० - डॉ० बी० बी० अग्रवाल पृ० 261
2. वही - वही

सिखाती है और उन्हें अपने साथियों, सम्बन्धियों तथा मित्रों के साथ मिलकर रहना सिखती है। इस प्रकार यह उन्हें जीवन प्रगति की ओर अग्रसर करती हैं।

4) **व्यावसायिक योग्यता का विकास–** प्रौढ़ों की व्यावसायिक योग्यता के विकास के लिए प्रौढ़-शिक्षा शहरी इलाकों में व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था करती है और देहाती इलाकों में कृषि तथा उद्योगों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करती है।

5) **सांस्कृतिक विकास–** प्रौढ़ों में सांसकृतिक विकास के लिए समाज शिक्षा प्रौढ़ों को संगीत, नृत्य तथा भाषणों द्वारा प्राचीन एवं प्रचलित सांस्कृतिक क्रियाओं का परिचय कराती है।

6) **आत्म विकास–** प्रौढों के आत्म विकास के लिए समाज शिक्षा प्रौढों को उनकी आवश्यकताओं तथा स्थितियों के अनुसार विशिष्ट ज्ञान प्रदान करती हैं उन्हें कोई कला या शिल्प सीखने के अवसर प्रदान करती है और जीवन-दर्शन निर्माण करने में उनकी सहायता करती है।

ख) सामाजिक दृढता का विकास– समाज शिक्षा ऐसी शिक्षा प्रदान करती है जो :–

i) विभिन्न भाषियों, धार्मिक साम्प्रदायों, नागरिक एवं ग्रामीण लोगों, शिक्षितों तथा अशिक्षितों, पूंजीपतियों तथा मजदूरों, नौजवानों तथा बूडों में विद्यमान व्यक्तित्ववाद तथा विलगता की भावना को कम करती है।

ii) सबके लिए सामान्य संस्कृति का निर्माण करने में सहायता प्रदान करती है।

2. **राष्ट्रीय साधनों का संरक्षण तथा विकास–** समाज शिक्षा भौतिक एवं राष्ट्रीय साधनों के विकास में सहायता करती है । समाज शिक्षा ग्रामीण अर्थव्यवस्था तथा कृषि एवं उद्योग के विकास में सहायता प्रदान करती है।

3. **सामाजिक विचार धारण का निर्माण करना–** समाज शिक्षा लोगों को सामुदायिक हित के लिए अपने हितों के त्यागने की शिक्षा प्रदान करती है। दूसरे शब्दों में समाज शिक्षा लोगों में सहयोग, सहनशीलता भावात्मक एकता, भाईचारा देशभक्ति, राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रसेवा आदि सामाजिक गुणों को विकसित करती है।

4. **सहकारी समुदायों तथा संस्थाओं का निर्माण करना**

समाज-शिक्षा अधिकतम व्यक्तिगत प्रसन्नता तथा सामाजिक प्रगति में समन्वय स्थापित करती है। यह सरकारी समुदायों के निर्माण में सहायता देती है जो आर्थिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को सामूहिक एवं सहयोगात्मक ढंग से सुलझा सकते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रौढ़-शिक्षा एंव प्रशिक्षण के विस्तार से राष्ट्रीय संरक्षण एवं एकता, उत्पादकता एवं जनसंख्या नियन्त्रण, स्वास्थ्य एवं जन कल्याण को विकसित किया जा सकता है।[1]

जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है कि प्रौढ़ शिक्षा वह है जो वयस्कों को दी जाती है। यह निरक्षर लोगों को साक्षर बनाती है। पढ़ना लिखना तथा गिनने का ज्ञान कराना इसका मुख्य कार्य है। प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य केवल व्यस्कों को साक्षर बनाना मात्र नहीं है। वह सभी प्रकार की शिक्षा आती है जो प्रत्येक नागरिक को जनतान्त्रिक व्यवस्था का विवेकपूर्ण सदस्य बनाती है। इसके विषय में कुछ परिभाषाएं निम्नवत हैं-

1) **ब्राइसन**- "प्रौढ़ शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के लिए सब अवसरों पर और सब परिस्थितियों में शिक्षा है।"[2]
2) **मॉरगन, होम्स व बंडी**- "प्रौढ़ शिक्षा किसी नई बात को सीखने के लिए प्रौढ व्यक्ति का जान बूझकर किया जाने वाला प्रयास है।[3]
3) **रीन्स, फ्रेन्सलर व हाउले**-"प्रौढ़ शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन के तीन पक्षों में से किसी एक से या अधिक से हो सकता है उसका व्यक्तिगत जीवन उसका व्यावसायिक जीवन, या नागरिक के रूप में उसका जीवन।[4]

ऊपरलिखित परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि साधारणतः प्रौढ़-शिक्षा में प्रौढ़ों को दी जाने वाली सम्पूर्ण औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा सम्मिलित हैं-

प्रौढ़-शिक्षा का विकास

1. **प्रौढ़ शिक्षा के लिए प्रारम्भिक प्रयासः** भारत में प्रौढ़ शिक्षा के लिए प्रारम्भिक प्रयास का श्रेय ईसाई मिश नरियों को प्राप्त है, डॉ० मुखोपाध्याय के अनुसार- ईसाई मिशनरियों ने मद्रास प्रान्त में हरिजनों के लिए कुछ रात्रि विद्यालयों की स्थापना की। कुछ समय के बाद किसान भी उनमें शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाने लगे। मद्रास के बाद मिशनरियों ने बंगाल, बम्बई मध्य प्रदेश और संयुक्त प्रान्त में रात्रि विद्यालय खोलें[5]

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस वालिया पृ० 316-317
2. Adult Education - Lymon Bryson - उद्धृत -भा० शि० स० स० त्यागी एवं पाठक पृ० 180
3. Methods of Adult Education - Morgan, Holmes & Bundy - उद्धृत -भा० शि० स० पी० डी० पाठक पृ० 405
4. Adult Education - Reene, Fensler & Houle - उद्धृत - वही पृ० 406
5. भा० शि० इ० (आधुनिक काल) - डॉ० श्रीधरनाथ मुखोपाध्याय पृ० 209

2. **प्रौढ शिक्षा के लिए 'हण्टर कमीशन' का सुझावः** 1882 के 'हण्टर कमीशन' ने अपने प्रतिवेदन मे प्रौढ़-शिक्षा को स्थान दिया और बम्बई प्रान्त में 357 रात्रि विद्यालयों का उल्लेख किया। इन विद्यालयों में वयस्कों को साधारण लिखना पढना और अंकगणित्त सिखाया जाता था।

3. **प्रौढ शिक्षा के लिए भारतीयों के प्रयास–** 'हण्टर कमीशन' के सुझाव से प्रेरणा प्राप्त करके, भारतीयों ने व्यक्तिगत रूप में अनेक प्रशंसनीय कार्य किये। सन् 1910 में बडौदा राज्य में सार्वजनिक पुस्तकालयों की स्थापना का कार्य आरम्भ हुआ। सन् 1912 में मैसूर राज्य के दीवान श्री विश्वेश्वरैय्या ने इस राज्य में अनेक रात्रि विद्यालयों का आयोजन किया। परन्तु धनाभाव के कारण और सरकार से आर्थिक सहायता न मिलने[1] के कारण सन् 1917 तक उनकी संख्या निरन्तर क्षीण होती चती गयी।

सारांश में सन् 1937-42 की अवधि में भारतीय शिक्षामन्त्रियों ने भारतीय शिक्षा के साहित्य में प्रौढ़-शिक्षा का नवीन अध्याय आरम्भ किया। उन्होंने अपने प्रान्तों में आय व्यय में प्रौढ शिक्षा को स्थान दिया। उन्होनें प्रौढ़-शालाओं, रात्रि-विद्यालयों, ग्रमीण पुस्तकालयों और चलते-फिरते पुस्तकालयों की व्यवस्था करके चिरस्मरणीय कार्य किया। इसलिए जैसा कि डॉ० मुखोपाध्याय ने लिखा है- "यथार्थ में सन् 1937-42 की अवधि प्रौढ शिक्षा का स्वर्ण युग गिनी जा सकती है।[2] हमारा देश एक विकासशील देश है लोगो के मन में रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने की आकांक्षा हैं वे अच्छा पहनना, अच्छा रहना, अच्छी शिक्षा, अच्छा स्वास्थ्य चाहते हैं। इस हेतु उन्हें अधिक कार्य करना होगा उन्हें उत्पादिता की नवीन विधि यां, नवीन तकनीकी अपनानी होंगी। नये[3] प्रयोग भी करने होंगे इस उद्देश्य की पूर्ति प्रौढ़ शिक्षा के ही द्वारा सम्भव है।

केवल पढ़ लिख लेने की योग्यता प्राप्त कर लेने को साक्षरता नहीं माना जाता। साक्षरता तभी सार्थक होती है जब कार्यक्रम हो। साक्षर को साक्षरता के साधनों में पर्याप्त कुशल बनाना ही ईष्ट नहीं है बल्कि उपयुक्त जानकारी प्राप्त करने के योग्य भी उसे होना चाहिए ताकि वह अपनी रूचि के काम और ध्येय को पूरा करने मे सक्षम हो सकें, पढना लिखना के बल प्रारम्भिक सामाज्य जानकारी प्राप्त ज्ञान करने के लिए नहीं बल्कि कुशलत्ता से काम करने उत्पादिता बढ़ाने नागरिक जीवन में अधिक उपयोगों बनने और[4] अपने आस-पास की दुनियां को अच्छी तरह समझने के लिए होना चाहिए।

1. भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 177-178
2. भा० शि० इ० (आधुनिक काल) - डॉ० श्रीधरनाथ मुखोपाध्याय पृ० 210
3. आ० भा० शि० स० - डॉ० बी० बी० अग्रवाल पृ० 261
4. वही - वही पृ० 263

प्रौढ़ साक्षरता का कोई भी अभियान पूर्व योजना और तैयारी के बिना नहीं सफल हो सकता। कठोरी आयोग के अनुसार निम्नलिखित बातों का ध्याय रखना अपेक्षित है-

1) किसी भी कार्यक्रम को आरम्भ करने से पहले लोगों में रूचि जगाने और उनका समर्थन प्राप्त करने के लिए सभी राजनीतिक, सामाजिक और अन्य नेताओं को तथा सभी सरकारी विभागों को जुटा देना चाहिए।

2) निरक्षरों को मनोवैज्ञानिक ढंग से कार्यक्रम के लिए तैयार तथा अभिप्रेरित करना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि साक्षरता का उनके लिए क्या अर्थ होगा और उन्हें विश्वास दिलाना चाहिए कि साक्षरता प्राप्ति के लिए वे जो त्याग और प्रयास करेंगे वह व्यर्थ नहीं जायेंगा।

3) साक्षरता कार्यक्रम की सफलता हेतु अनुकूल वातावरण बनाने और उसे बनाये रखने के लिए रेडियो, टेलीविजन, फिल्म, भाषण तथा अन्य साधनों का उपयोग किया जाना चाहिए।

4) प्रौढ़-शिक्षा कार्यक्रम के लिए अपेक्षित सामग्री पहले से ही तैयार कर लेनी चाहिए और अभियान प्रारम्भ करते समय उसे पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना चाहिए। इसमें पाठ्य-पुस्तकें और अन्य पाठ्य सामग्री, चार्ट, नक्शे, निदेश-पुस्तकें तथा अन्य शैक्षिक सामग्री होनी चाहिए।

5) पढ़ने-लिखने में कुशल बनाने के अतिरिक्त निरक्षर वयस्कों को उनके व्युवसाय के सम्बन्ध में जानकारी और कुशलता बढ़ाने में भी सहायता मिलनी चाहिए।

6) साक्षरता कार्यक्रम ऐसे हों कि नवसाक्षर सतत् शिक्षा के लिए उत्सुक रहे। साक्षरता को सफलता तभी मिलती है जब व्यक्ति अपनी समस्याओं को स्वयं ही सुलझाने के लिए अपनी जानकारी का उपयोग करना सीख जाता है और स्कूल, पुस्तकालय तथा संग्रहालय जैसे ज्ञान-वृद्धि के साधनों से लाभ उठाने लगता है।

7) **साक्षरता** अभियान की समाप्ति के बाद जो कार्यवाही करनी हो उसका समावेश भी योजना में होना चाहिए। शिक्षा जारी रखने के लिए नवसाक्षर एक-दूसरे की सहायता करें और उद्देश्य की पूर्ति के लिए अध्ययन दलों, संस्थाओं, क्लबों या मनोरंजन दलों की स्थापना करें।

8) साक्षरता कार्यक्रमों के प्रभाव स्थायी करने के लिए पुस्तकालयों की स्थापना होनी चाहिए और श्रेष्ठ पाठ्य सामग्री तथा समाचार पत्र लगातार मिलते रहने चाहिए।

9) विश्वविद्यालय और उद्योग, कृषि-जन-स्वास्थ्य, सहकारिता, सामुदायिक विकास आदि विभागों की विस्तार सेवाओं के द्वारा लोगां को व्यावसायिक ज्ञान, कुशलाएं और वृत्तिक अभ्यासों को विकसित करने में सहायता मिलनी चाहिए।

10) साक्षरता कार्यक्रमों की सफलता के लिए सार्वजनिक प्रतिबद्धता, समर्थन और उत्साह अति आवश्यक है। कार्यक्रम की सफलता पर सार्वजनिक प्रशंसा, गतिविधियों की शिथिलता परसार्वजनिक चिन्ता, प्रक्रिया के सुधार में सार्वजनिक सहयोग, उत्कृष्ट कार्यकर्त्ताओं को सार्वजनिक प्रोत्साहन ये सभी बातें अत्यन्त महत्व की हैं। समाचार पत्रों, सामाजिक और राजनीतिक नेताओं, विद्वतमण्डलों और अन्य संस्थाओं की सहायता से जन-सहयोग और समर्थन को बनाये रखना आवश्यक है।[1]

कोठारी आयोग व प्रौढ शिक्षा

व्यस्क शिक्षा की आवश्यकता-

'आयोग' ने व्यस्क शिक्षा का पर्याप्त विस्तार से वर्णन किया है। हम इस वर्णन को 'आयोग' के अग्रांकित शब्दों से आरम्भ कर रहे हैं "विद्यालय -शिक्षा के बाद शिक्षा का अन्त नहीं होता है, क्योंकि शिक्षा आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। आज के व्यस्क को तीव्र गति से परिवर्तित होने वाले संसार की और समाज की बढ़ती हुई जटिलताओं की जानकारी होना आवश्यक है। जिन व्यक्तियों ने सर्वोत्तम प्रकार की शिक्षा प्राप्त की है उनके लिए भी जीवन में शिक्षा की आवश्यकता है।" अतः व्यस्क शिक्षा का संगठन अनिवार्य है।[2]

समाज या प्रौढ़ शिक्षा की समस्याएं :

1) **प्रौढ़ जनता का उपेक्षा भाव तथा सहयोग :** प्रौढ़ व्यक्ति महसूस करते हैं कि बडी आयु में उनके लिए पढने का कोई लाभ नहीं। कई पिछडे इलाकों में प्रौढ़ समाज शिक्षा कार्यकत्ताओं को बिल्कुल सहयोग प्रदान नहीं करतें।

2) **समाज शिक्षा कार्यकर्त्ताओं की समस्याः** अधिकांश समाज शिक्षा कार्यकर्त्ता अभी किशोरावस्था में हैं तथा कुप्रशिक्षित हैं निरक्षर प्रौढ़ों को मिलनें की उनमें व्यावहारिक कुशलता नहीं है। उन्हें प्रौढ़ एवं शिक्षा–मनोविज्ञान का कोई ज्ञान नहीं। वे प्राप्त स्थानीय-सामग्री की सहायता से कुशलतापूर्वक शिक्षण-कार्य नहीं कर सकते। उन्हें ग्राम-शिल्प का बुनियादी ज्ञान नहीं है। इसके अतिरिक्त सफेद बालों वाला प्रौढ़ एक छोटी आयु के अध्यापक से पढ़ना पसन्द नहीं करता।

1. आ० भा० शि० स० - डॉ० बी० बी० अग्रवाल पृ० 267-268
2. भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 192-193

इस समस्या के समाधान के लिए समाज शिक्षा कार्यकत्ताओं को अच्छा प्रशिक्षण मिलना चाहिए और केवल उनं व्यक्तियों को इस कार्य में लगाना चाहिए जिनका उन्हें ज्ञान प्राप्त हों।

3) **उपकरणों की समस्या :** समस्या एवं प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रमों को संवृद्ध करने के लिए समाज शिक्षा केन्द्रों को श्रव्य दृश्य साधन प्रदान करने चाहिए। प्रोजैक्टर, ऐपीडीआस्कोप, मॉडल, चार्टर, इश्तिहार का प्रयोग किया जाना चाहिए।

4) **सामाजिक पिछड़े-पन की समस्या :** भारत के अधिकांश भागों में गरीबी, निरक्षता तथा बीमारियों का राज्य है। देहाती तथा कई शहरी इलाकों में सामाजिक पिछड़ापन विद्यमान हैं यह पिछड़ापन समाज शिक्षा के प्रगति शील कार्यक्रमों में बाधक है। लोगों में आज भी जात-पात की भावना है वे अनुसूचित जातियों के लोगों के पास बैठना पसन्द नहीं करते । इसी प्रकार अधिकांश गांवों में औरतों को समाज शिक्षा केन्द्रों में जाने की आज्ञा नहीं है। वे घरों की चार दीवारों में ही बन्द रहती हैं।

5) **उचित साहित्य की समस्याः** प्रौढ़ों के लिए सरल एवं रोचक पुस्तकों की आवश्यकता हैं। के० जी० सैयदेन के शब्दों में "समाज शिक्षा के कार्य में उचित पाठ्य सामग्री का अभाव बहुत बड़ी बाधा है। बहुत बड़ी संख्या में पुस्तकालयों, चार्टो, पत्रिकाओं पत्रों, दीवार पत्रों तथा अन्य सचित्र पाठ्य सामग्री की अत्यधिक आवश्यकता है जो प्रौढ़ों के लिए रोचक हो।"

6) **व्यावसायिक प्रशिक्षण की समस्या :** समाज-शिक्षा के कर्मचारी प्रौढ़ों के व्यवसायों में कुशल नहीं होते। निरक्षर कृषक समाज शिक्षा कार्यकर्ता की अपेक्षा कृषि के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान रखत है, अन्य शिल्पों के शिक्षण के लिए भी कोई अच्छी व्यवस्था नहीं हैं।

7) **आर्थिक समस्या :** आर्थिक समस्या समाज शिक्षा में बाधा डालती है अर्थाभाव के कारण समाज शिक्षा की कई योजनाएं असफल हो गई हैं अर्थाभाव के कारण हम अधिक प्रौढ़-शिक्षा केन्द्र नहीं खोल सकते, प्रौढ़ शिक्षा के केन्द्रों को सुसज्जित नहीं कर सकते।

8) **अनुगामी कार्यक्रम की समस्या :** कुछ समय तक समाज-शिक्षा की कक्षाएं नियमित रूप से तथा पूरी शक्ति के साथ लगती है, परन्तु अनुगामी कार्यक्रम के कारण जो प्रौढ़ शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं, वे भी फिर से अनपढ़ बन जाते हैं।

इस दिशा में शिक्षा को जारी रखने के लिए पत्राचार कोर्सों द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है।[1]

प्रौढ़–शिक्षा पर कोठारी के सुझाव

1) **राष्ट्रीय स्तर पर अभियान :** यह अभियान राष्ट्रीय जीवन के प्रति सशक्त विश्वास द्वार अनुप्रेरित होना चाहिए और इसे देश के राजनीतिक तथा सामाजिक नेताओं का सशक्त समर्थन प्राप्त होना चाहिए। इसमें केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों, स्थानीय प्रशासनों स्वयं सेवक संस्थाओं, प्राईवेट उद्योगों, शिक्षा संस्थाओं प्राइमरी स्कूल से लेकर विश्व विद्यालय तक तथा सभी शिक्षित पुरुषों एवं महिलाओं को भाग लेना चाहिए। यह कार्य बहुत कठिन है। इसके लिए लगन, कल्पना, संगठन, बुद्धिपूर्ण सहयोग तथा कार्यकत्ताओं के अनथक प्रयासों की आवश्यकता है।

2. **आवश्यक सावधानी पूर्ण योजना :** साक्षरता के कार्यक्रम में सबसे आवश्यक बात यह हैं कि उसकी सावधानीपूर्ण योजना बनाई जाये और पहले से ही उसकी आवश्यक तैयारियां की जायें। सामूहिक कार्यक्रमों का गठन, सामग्री का निर्माण, कर्मचारियों के प्रशिक्षण तथा अन्य आवयकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त समय की आवश्यकता होती है।

3. **आरम्भिक प्रयासः** निरक्षरता के उन्मूलन के लिए समय एक अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है और 10 या 15 वर्ष इस काम में देर करने से इसका उद्देश्य ही समाप्त हो जायेगा। सु–आयोजित प्रयासों द्वारा राष्ट्रीय साक्षरता प्रतिशत में 1970 तक 60% तथा 1976 तक 80% की वृद्धि होनी चाहिए। कोई सन्देह नहीं कि इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कठोर प्रयत्नों की आवश्यकता होगी। परन्तु यह अव्यावहारिक नहीं है। देश के प्रत्येक भाग से निरक्षरता को शीघ्र समाप्त करना चाहिए और इस काम के लिए 20 वर्ष से अधिक नहीं लगने चाहिए।

4. सार्वजनिक स्कूल शिक्षा तथा अंशकालिक शिक्षा का विस्तार

i) **सार्वर्जनिक स्कूल शिक्षा का विकासः** 6–11 वय वर्ग के बच्चों के लिए पंचवर्षीय सार्वजनिक सकूल शिक्षा की व्यवस्था करना।

ii) **अंशकालिक शिक्षा की व्यवस्थाः** 11–14 वय वर्ग के उन बच्चों के लिए अंशकालिक शिक्षा की व्यास्था करना, जो या तो स्कूल न गए हों या बीच में ही स्कूल छोड़ गये हों।

– जे॰ एस वालिया पृ॰ 342

1. भा॰ शि॰ स॰

iii) **अंशकालिक सामान्य एवं व्यावसायिक शिक्षा** : 15 – 30 वय वर्ग के प्रौढ़ों के लिए।

5. **उपचारात्मक विधियां–** विभिन्न इलाकों के पुरुषों एवं नारियों तथा विभिन्न सामाजिक–समूहों में साक्षरता की विभिन्नता पाई जाती हैं अतः इस समस्या के समाधान के लिए कोई विधि नहीं अपनाई जा सकती। उपचारात्मक विधियां प्राप्त स्थानीय अवसरों पर आधारित होनी चाहिए।

6. **महिलाओं के लिए संयुक्त कोर्स** : महिलाओं में साक्षरता के विकास के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा परिचालित संयुक्त महिलाओं को पढ़ाने के लिए 'ग्राम बहनों' की नियुक्ति की जानी चाहिए।

7. **जन संचार माध्यम का प्रयोग** : उचित वातावरण के निर्माण तथा जीवन–स्तर को ऊंचा करने के लिए जन–संचार–माध्यम का प्रयोग चाहिए।

8. **अनुक्रियात्मक कार्यक्रमः** साक्षरता को स्थिर करने के लिए पर्याप्त रूप से अनुक्रियात्मक कार्यक्रम की व्यवस्था होनी चाहिए–जैसे आगे शिक्षा प्रदान करना, पुस्तकालयों का प्रयोग, पाठ्य–सामग्री का निर्माण आदि।

9. **शिक्षा को जारी रखना** : सभी प्रकार की शिक्षा संस्थाओं में नियमित समय के पश्चात् प्रौढ़ों के लिए शिक्षण व्यवस्था होनी चाहिए। सामान्तर रूप से एक अंश–कालिक शिक्षा प्रणाली द्वारा प्रौढ़ों को उन डिपलोमों तथा डिग्रियों के लिए शिक्षित किया जाना चाहिए जो सकूल एवं कालेज के विद्यार्थी प्राप्त करते हैं।

10. **एड–हॉक–कोर्स** – शिक्षा संस्थाओं को ऐसे कोर्सो को संगठित करने मे नेतृत्व प्रदान करना चाहिए। ऐसे कोर्सो से लोगों को अपनी समस्याओं को समझने तथा विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलेगी।

11. **विशिष्ट संस्थाएं** : केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा प्रौढ़ों के लिए चलाई गई संस्थाओं तथा विद्यापीठ, मैसूर द्वारा स्थापित संस्थाओं के समान विशिष्ट संस्थाएं स्थापित की जानी चाहिए।

12. **पत्राचार कोर्स** : शिक्षा प्रदान करने के लिए उन व्यक्तियों को जो अंश कालिक कोर्सो के लिए किसी संस्था में नहीं आ सकते, व्यापक पैमाने पर पत्राचार कोर्सो की व्यवस्था की जानी चाहिए पत्राचार कोर्सो का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को अध्यापको से मिलने के पर्यापत अवसर प्रदान करने चाहिएं। जहां सम्भव हो वहां इन विद्यार्थियों को कालेज के साथ सम्बन्धित करना चाहिए ताकि वे पुस्तकालयों तथा अन्य सुविधाओं का प्रयोग

कर सकें। पत्राकचार कोर्स रेडियो तथा टैलीविजन कार्यक्रमों के साथ भी सम्बन्धित होने चाहिएं।

ii) कार्यकर्त्ताओं के लिए पत्राचार कोर्स : पत्राचार कोर्स केवल विश्व विद्यालयों की डिग्री तक सीतिम नहीं रहने चाहिए बल्कि उन के द्वारा कृषि तथा उद्योग के क्षेत्र में काम कर रहे व्यक्तियों को व्यावसायिक शिक्षण भी मिलना चाहिए जिससे उनको उत्पादन के विकास में सहायता मिल सकें।

iii) अध्यापकों के लिए पत्राचार कोर्सः अध्यापकों को नवीन ज्ञान प्रदान करने तथा नवीन शिक्षण विधियों से परिचित कराने के लिए पत्राचार कोर्सो की व्यवस्था की जानी चाहिए।

iv) राष्ट्रीय गृह अध्ययन परिषद्: पत्राचार कोर्सों की व्यवस्था करने वाली संस्थाओं का मूल्यांकन करना, विभिन्न इलाकों के लिए उपयोगी विभिन्न पत्राचार कोर्सों को निश्चित करना, उन पत्राचार कोर्सों की उचित साधनों द्वारा व्यवस्था करना तथा मूल्यांकन एवं अनुसन्धान कार्य की व्यवस्था करना होना चाहिए।

14. पुस्तकालय :

i) स्कूल अध्यापकों को जन-पुस्तकालय-प्रणाली के साथ सम्बन्धित करना चाहिए और ऐसी पाठ्य-सामग्री की व्यवस्था करनी चाहिए जो बच्चों तथा नव साक्षरों के लिए उपयोगी हो।

ii) पुस्तकालय गतिशील होने चाहिएं और उन की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए कि प्रौढ़ों को उन के प्रति आकर्षण हो।

15. विश्व-विद्यालयों की भूमिका :

i) भारत के विश्व विद्यालयों को प्रौढ़ शिक्षा का दायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। वे कई प्रकार के कार्यक्रम आयोजित कर सकते है।

ii) सावधानी पूर्ण आयोजित प्रौढ शिक्षा कार्यक्रमों को निपुणता से चलाने के लिए प्रत्येक विश्व विद्यालय को प्रौढ़ शिक्षा बोर्ड की स्थापना करनी चाहिए जिसमें प्रौढ़ शिक्षा से सम्बन्धित सभी विभागों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

iii) प्रौढ़ शिक्षा कार्य के लिए विश्व विद्यालयों को आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए।

16. संगठन एवं प्रशासन :

i) प्रान्तीय एवं जिला स्तर पर भी इसकी संस्थाएं स्थापित की जानी चाहिए।

5 दिसम्बरं 1969 के सरकारी प्रस्ताव के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय-प्रौढ़ शिक्षा बोर्ड की स्थापना की गई थी। इसकी पहली मीटिंग 4 मई, 1970 को विज्ञान भवन देहली में हुई थी।

ii) प्रौढ़-शिक्षा क्षेत्र में काम करने वाली स्वयं सेवक संस्थाओं को हर प्रकार का आर्थिक एवं तकनीकी प्रोत्साहन मिलना चाहिए।[1]

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के सुझाव 1968

1. साक्षरता अभियानों का गठन करना : बड़ी- बड़ी औद्योगिक एवं व्यापारिक संस्थाओं में काम करने वाले कार्यकर्त्ताओं को जल्दी से जल्दी शिक्षित किया जाना चाहिए। इस दिशा में सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित संस्थाओं को पहल करनी चाहिए। अध्यापकों तथा विद्यार्थियों द्वारा समाज एवं राष्ट्र सेवा कार्यक्रम के अधीन साक्षरता अभियान चलाये जाने चाहिए।

2. कृषकों तथ युवकों की शिक्षा पर विशेष बल : युवा कृषकों तथा अपना काम करने वाले नवयुवकों की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाना चाहिए।[2]

राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा बोर्ड के सुझाव 1970

बोर्ड द्वारा प्रौढ़ शिक्षा के विभिन्न पक्षों पर निम्नलिखित चौदह व्यापक प्रस्ताव अपनाये गये। इन्हें निरक्षरता–उन्मूलन के लिए जन अभियान का 'राष्ट्रीय ब्लू प्रिण्ट' कहा जा सकता है।

1. वार्षिक स्तर पर राष्ट्रीय साक्षरता अभियान आयोजित किये जाने चाहिए।
2. अन्तर्राष्टीय शिक्षा-वर्ष में सारे देश में प्रौढ़ साक्षरता सप्ताह मनाये जाने चाहिए।
3. प्रौढ़ शिक्षा पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय अनुभवों के आदान प्रदान तथा देश के विभिन्न इलाकों तथा विभिन्न समुदायों के लिए ठोस कार्यक्रम बनाने के लिए तीन दिवसीय राष्ट्रीय एकत्रीकरण किया जाना चाहिए।
4. प्रौढ निरक्षता उन्मूलन के लिए प्रान्तीय सरकारों को महाराष्ट्र सरकार द्वारा चलाया ग्राम-शिक्षण-मुहिम कार्यक्रम अपनाना चाहिए।
5. देश के विभिन्न भागों -शहरी तथा देहाती दोनों में प्रौढ शिक्षा पर केन्द्रीय प्रोजैक्ट आयोजित किये जाने चाहिए।
6. प्रस्ताविक साक्षरता अभियान में समूचे विद्यार्थियों को लगाना चाहिए।
7. युवा सेवाओं के लिए बनाये गये कार्यक्रमों में शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा निरक्षरता-उन्मूलन तथा अनुगामी-प्रौढ़-शिक्षा-कार्यक्रमों को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस वालिया पृ० 328-332
2. वही - वही पृ० 333

8. सार्वजनिक तथा प्राईवेट क्षेत्रों में स्थित औद्योगिक संस्थाओं को प्रौढ़-साक्षरता के विकासार्थ अपने कार्यकर्त्ताओं को साक्षर बनाने के कार्यक्रम नियोजित करने चाहिए।
9. प्रौढ़ साक्षरता के कार्यक्रमों के लिए अलग रेडियो समय की व्यवस्था होनी चाहिए।
10. नगरों, कस्बों तथा बड़े गांवों में ज्यादा पुस्तकालय खोले जाने चाहिए। उनमें नव साक्षरों के लिए पर्याप्त पुस्तकें होनी चाहिए। और उन्हें केन्द्रीय पुस्तकालय का सहयोग प्राप्त होना चाहिए। ग्रामीण इलाकों के लिए चलते फिरते पुस्तकालयों की व्यवस्था होनी चाहिए।
11. विश्व विद्यालय प्रौढ़-शिक्षा ऐसोसीएशन तथा अन्य संस्थाओं द्वारा उन व्यक्तियों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करने चाहिए जो प्रौढ़-शिक्षा क्षेत्र में काम कर रहे हैं।
12. मन्त्रालय को नागरिक संरक्षण, कर्मचारियों, स्काऊटों गाइडों तथा अन्य उचित संस्थाओं की सेवाओं को प्रौढ़-साक्षरता कार्यक्रमों में लगाने की सम्भावनाओं पर विचार करना चाहिए।
13. प्रौढ़-साक्षरातस तथा परिवार-नियोजन, कृषि उत्पादन आदि प्रौढ़-शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रमों के विकास पर होने वाले व्यय को राष्ट्रीय जमा पूंजी के रूप में लिया जाना चाहिए और उसे विभागों का उचित व्यय समझना चाहिए।[1]

दूरस्थ शिक्षा

'दूरस्थ शिक्षा' वर्तमान शैक्षिक परिस्थितियों में एक नव विकसित प्रत्यय है। यह एक अभिनव प्रयोग है। 'दूरस्थ शिक्षा' मूलतः ऐसे बालकों या प्रौढ़ों के लिए है जो विभिन्न कारणों से नियमित रूप से औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके और नहीं कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में इस शिक्षा का सम्बन्ध उन व्यक्तियों दूरी से शिक्षा प्रदान करने से है जो किन्हीं विशेष कारणों से औपचारिक शिक्षा का लाभ प्राप्त करने से वंचित रह जाते हें या प्राप्त करने में असमर्थ है। प्रो० बोर्ज० होमबर्ग ने दूरस्थ शिक्षा या अध्ययन को परिभाषित करते हएु लिखा है - 'दूरस्थ अध्ययन या दूरस्थ अध्ययन कोर्स एक कृत्रिम सम्वाद सम्बन्धी अधिगम अवसर है जिसमें सीखने वाले तथा सिखाने वाले संगठन के बीच की भौगोलिक दूरी को एक कृत्रिम निर्देशक द्वारा समाप्त किया जाता है।[2]

दूरस्थ शिक्षा के उद्देश्य

डॉ ए० कुमार ने दूरस्थ शिक्षा के उद्देश्यों का उल्लेख किया है।

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस वालिया पृ० 333-334
2. भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 215-216

1. उन सीखने वालों को अधिगम अवसर प्रदान करना जो कम आय, अधिक आयु दूरी आदि के कारण अपनी शिक्षा को कायम रखने में असमर्थ रहे थे।
2. उन सीखने वालों को अपनी रूचि के विषयों एवं भाषाओं को अपनी गति तथा अपनी सुविधानुसार सीखने के योग्य बनाया जो इनको औपचारिक शिक्षा के कठोर, नियमों तथा समय तालिका के कारण नहीं सीख सके थे।
3. सीखने वालों के लाभ तथा उत्थान के लिए उनके ज्ञान को समृद्ध बनाना।
4. सीखने वालों को उनकी रूचियों से सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रों में हुए वर्तमान विकास एवं सुधारों से अवगत करना।[1]

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय– सितम्बर, 1985में संसद के एक अधिनियम के अन्तर्गत इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की स्थापना देश की शिक्षा प्रणाली में दूरस्थ शिक्षा वयवस्था और मुक्त विश्वविद्यालय के प्रारम्भ और विकास के लिए ऐसी व्यवस्था में समन्वय और सतर को सुनिश्चित करने के लिए की गई। विश्वविद्यालय के मुख्य उद्देश्यों में निम्न को स्थान प्रदान किया गया।

1. जनसंख्या के एक बड़े भाग को, विशेषत: सुविधाहीन वर्ग को उच्च शिक्षा के अवसर सुलभ करवाना।
2. विशिष्ट वर्गो जैसे महिलाओं, पिछड़े क्षेत्रों, पर्वतीय क्षेत्रों आदि में रहने वालों के लिए उच्च शिक्षा के विशेष कार्यक्रम शुरू करना।
3. जानकारी तथा कुशलता बढ़ाने के लिए सतत् शिक्षा के कार्यक्रम आयोजित करना।

इन्दिरा गॉधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा की एक नई व्यवस्था सुलभ करवाता है जो शिक्षण की शैली एवं गति, पाठ्यक्रम के संयोजन, नामांकन की योग्यता, प्रवेश की आयु एवं मूल्यांकन के तरीकों के लिहाज से मुक्त एवं लचीली है। विश्वविद्यालय ने एक बहु- माध्यमिक शिक्षण प्रणाली अपनायी है जिसके अन्तर्गत मुद्रित सामग्री, श्रव्य-दृश्य माध्यम तथा देश-भर अध्ययन केन्द्रों के संजाल में विचार सत्रों का सहयोग है।

विश्वविद्यालय ने सन् 1987 में अपना शैक्षणिक कार्यक्रम प्रारम्भ किया और अब तक 21 कार्यक्रम प्रारम्भ कर चुका है। इनमें निर्देशन (प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों के लिए), भोजन एंव पोषण (सात भाषाओं में) और ग्रामीण विकास में सर्टीफिकेट कोर्स, स्नातक की डिग्री के लिए पाठ्यक्रम, प्रबन्धन, ग्रामीण विकास, उच्च शिक्षा, दूरस्थ शिक्षा, अंग्रेजी और हिन्दी में रचनात्मक लेखन, कार्यालय प्रबन्ध न में कम्प्यूटर का प्रयोग तथा कला विज्ञान वाणिज्य मे स्नातक डिग्री के साथ-साथ दूरस्थ शिक्षा एवं व्यावसायिक प्रशासन में स्नताकोत्तर डिग्री भी शामिल हैं।[2]

---

1. भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक
2. भा० शि० स० स० - त्यागी एवं पाठक पृ० 218

चतुर्थ अध्याय

नारी–शिक्षा

क) स्मृति एवं उपनिषद् कालीन नारी शिक्षा

किसी भी समाज अथवा देश की सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा वैज्ञानिक प्रगति उस समाज अथवा देश की शैक्षिक स्थिति पर निर्भर करती है। शिक्षा से समाज का व्यक्तित्व निर्माण होता है और समाज के विकास के लिए यह परमावश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति का सुगठित विकास हो और यह तभी सम्भव है जबकि जन–साधारण के लिए उच्च शिक्षा का सम्यक् प्रबन्ध हो। शिक्षा शब्द का वयुत्पत्तिलभ्य अर्थ–अभ्यास, विशेष शक्ति, इच्छा विशेष तथा सहनशक्ति की इच्छा अर्थात् सुख–दुख, प्रिय–अप्रिय आदि अन्तर्द्वन्द्ववों में विचार पूर्वक सहन–शक्ति दिखवाना है।[1] किवंदन्ती है कि विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन कर विकास नहीं हुआ और उसे अन्तर्ज्योति प्राप्त नहीं हुई तो वह मूर्ख ही है, सच्चे अर्थों में तो क्रियावान् पुरुष ही शिक्षित हैं[2]

अतएव पुरूषों के समान नारियों के लिए भी शिक्षा की सम्यक् रूप से आवश्यकता स्वाभाविक है क्योंकि समाज के निर्माता स्त्री व पुरुष दोनों हैं। परन्तु नारियों की शिक्षा के सम्बन्ध में सदा एक सी विचारधारा किसी भी देश के इतिहास में प्राप्त नहीं होती। कालानुसार नारियों की शैक्षिक स्थिति में उतार–चढ़ाव आते रहे हैं और इसका प्रभाव पुरुषों की शिक्षा पर भी न्यूनाधिक पड़ता रहा है। माता–पिता का परम कर्त्तव्य है–बच्चों को उचित शिक्षा देना[3] तथा उनके जीवन को सुव्यवस्थित करना। प्राचीन भारत में कई शताब्दियों तक पुत्रों के समान पुत्रियों की शिक्षा व्यवस्था में भी माता–पिता ने भरसक रूचि ली है।

वस्तुत: प्राचीन समाज के समस्त प्राणियों (स्त्री पुरूषों) को शिक्षा सम्बन्धी संस्कार के द्वारा ही यथोचित स्थान प्राप्त होता था। एक नीतिकार का कथन है कि 'शिक्षा–संस्कार' से पूर्व ब्राह्मण शूद्र के समान होता है परन्तु संस्कार कर देने पर वह द्विज कहलाता है, संस्कार के बाद जो विद्या उसे दी जाती है उससे उसका

---

1. भौवादिकाभ्यासकर्मण: शिक्षते: भावे, सौवादिकाच्छक्ति–कर्मण: शक्नोते, देवादिकान्मर्षणकर्मण: शक्यतेश्चशिक्षाशब्दोऽभ्यासविशेषं शक्ति इच्छा विशेषं मर्षणेच्छाविशेषं च स्वार्थं समर्पयति। शिक्षा– शब्देन निजवाच्य कुक्षौ निक्षिप्यन्ते।
   'संस्कृत रत्नाकर शिक्षांक्ष' 1940 में "कोदृशी शिक्षा प्रणाली इदानीमपेक्ष्यते" पृ० 106
2. शास्त्राण्यधीत्यपि भवन्ति मूर्खा यस्तु
   क्रियावान्पुरूष: स एव।
   सुचिन्तितं चौषधमातुरणां न नाममात्रेण करोत्वरोगम्।। – सु० र० भ० पृ०, 40
   बृ० उ० (I, 5,7)
3. तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्य माहुस्तस्मादेवानुशास्ति।

आचरण शुद्ध और सुसंस्कृत बनाता है।[1] शिक्षा से नर–नारियों को जिस उचित दृष्टिकोण की प्राप्ति होती है, उससे उनकी बुद्धि, बल और कार्यक्षमता में वृद्धि होती है इसलिए किसी प्राचीन विद्वान ने कहा है कि शिक्षा से विकसित एवं परिष्कृत बुद्धि ही सच्चा बल है- 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य।'[2]

प्राचीन भारतीय सभ्यता पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही उच्च कोटि की वैदिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। प्राचीन भारत में शिक्षा से तात्पर्य वैदिक शिक्षा से ही था। उस काल में यज्ञों एवं धार्मिक अनुष्ठानों को विशेष महत्त्व प्राप्त था। ये सभी यज्ञादि धर्मकार्य वेदों पर आधारित होते थे अतएव जो लोग यज्ञों में सम्मिलित होते थे उनके लिए बिना किसी लिंग भेद के वैदिक शिक्षा ग्रहण करना नितान्त आवश्यक था।[3]

200 ई पू० तक स्त्रियों को वेदाध्ययन एवं यज्ञाधिकार प्राप्त थे, इस विषय में पुष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। पत्नी के साथ ही पुरूष यज्ञ कर सकता था उसकी अनुपस्थिति में नहीं।[4] पति-पत्नी दोनों को यज्ञों में समान रूप से सक्रिय रहना पडता था।[5] पत्नी शब्द से यज्ञों में नारी का उसके पति के साथ सम्बन्ध प्रकट होता है।[6] प्राचीन-काल से ही परम्परागत रूप से नारियां ही लवन यज्ञ (हार्वेस्ट सैक्रीफाइस) करने की अधिकारिणी थीं।[7]

रामायण में राम के युवराज अभिषेक के दिन कौशल्या के यज्ञ करने का[8] तथा बालि के युद्ध के लिए प्रस्थान करने पर उसकी पत्नी तारा के यज्ञ करने का उल्लेख,[9] साथ ही दोनों के लिए 'मंत्रविद्' शब्द का प्रयोग मिलता है। अशोक वाटिका में सीता के सन्ध्या प्रार्थना करने का उल्लेख किया गया है।[10] महाभारत में कुन्ती को अर्थवेद की पण्डिता कहा गया है।[11] इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत

---

1. जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
   विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।। हि० सं० - डॉ० राजबली पाण्डेय पृ० 34
2. भा० सं० ना० - डॉ० लता सिहंल पृ० 132
3. वही - वही
4. अयज्ञियो वा एव योऽपत्नीकः - श० ब्रा० (V,1)
5. या दम्पती सुमनसा सुनुत आ च धावतः। देवा सो नित्ययाशिशः । - ऋ० बे० (XIII, 31)
6. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे। - पा० अ० (IV, 1,33)
7. स्त्रियश्चोपयजेरनाम्ना च चरितत्वात् - पा० गृ० सू० (II, 20)
8. सा क्षोमवसना हृष्टा नित्यं ब्रतपरायणा।
   अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्राविष्कृतमंगला।। -रामा० (II, 20, 15)
9. ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद्विजयैषिणी। -वही (IV, 16,12)
10. सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
    नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थ वरवर्णिनी।। - वही (V, 15,48)
11. म० भा० (III, 305, 20;

में नारियां साधिकार यज्ञादि कर्म करती थीं और यदि किसी कारणवश पति की उपस्थिति सम्भव न हो सके तो वे अकेली भी यज्ञ करने की अधिकारिणी थीं। अल्तेकर ने[1] ऐसे चार प्रकार के यज्ञों का उल्लेख किया है जिन्हें केवल नारियां ही करती थीं।

विदूषी छात्राओं की योग्यता के दो वर्ग : वैदिक काल में बाल-विवाह का प्रचलन न था। किन्तु विवाह के समय वधू वर से छोटी होती है। अतः बालिकाएं उतनी उम्र तक अविवाहित न रह सकती थीं। जितनी उम्र तक युवक रहते थे। अधिकांश युवतियों का विवाह 16 या 17 वर्ष की आयु में हो जाता था। इस उम्र के बाद अध्ययन जारी रखने वाली युवतियां बहुत कम थीं। पहले वर्ग की लड़कियों को 'सधोवधू' तथा दूसरे वर्ग की लडकियों को 'ब्रह्मवादिनी' कहते थे। सद्योवध को प्रार्थना और यज्ञों के लिए आवश्यक महत्त्वपूर्ण वैदिक मंत्र पढ़ा दिए जाते थे। संगीत और नृत्यकाल की भी शिक्षा उन्हें दी जाती थी। 'ब्रह्मवादिनी' युवतियां अध्ययन समाप्त कर लेने पर विवाह करती थीं। कुशध्वज ऋषि की कन्या वेदवती जैसी कुछ बालिकाएं ऐसी भी थीं जो आजीवन विवाह ही नहीं करती थीं।[2] ब्रह्मवादिनी विदुषियों की योग्यता विस्तृत और बहुमुखी थी। वैदिक काल में वे वैदिक साहित्य में पांडित्य प्राप्त करती थीं तथा मंत्रों की रचना[3] भी करती थीं। इनके कुछ मंत्र वैदिक संहिताओं में भी सम्मिलित किए गए हैं।

उस युग की नारियां दो भर्गों में विभक्त थीं- एक सद्योवधू तथा दूसरी ब्रह्मवादिनी। क्योंकि उन दिनों बाल विवाह की प्रथा नहीं थी, अतएव उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचर्याश्रम में निवास करते हुए कन्याओं को यज्ञों एवं वैदिक प्रार्थनाओं के लिए आवश्यक शिक्षा छः-सात वर्षो में भली प्रकार से दे दी जाती थी और इस प्रकार सोलह सत्रह वर्ष की आयु में इनका विवाह कर दिया जाता था। इन कन्याओं को सद्योवधू कहा जाता था। कन्याओं का दूसरा वर्ग ब्रह्मवादिनियों का है।[4] ये नारियां वे होती थी जो सुदीर्घकाल तक अध्ययन करना चाहती थीं। ये नारियां अध्ययन पूर्ण हो जाने पर विवाह कर लेती थीं। अथवा इच्छानुसार आजीवन अविवाहिता रहकर ज्ञान के क्षेत्र में दक्षता प्राप्त करती थीं। वैदिक युग में ऐसी ही नारियों ने कीर्ति स्तम्भ स्थापित किए तथा अपने अपूर्व योगदान से नारी समाज को प्रतिष्ठा प्रदान की। ऋग्वेद में बीस 'मन्त्रद्रष्टा' कवयित्रियों की रचनाएं प्राप्त

---

1. द पोजिशन ऑफ वुमेन इन हिन्दूसिविलिजेशन - ए० एस० अल्तेकर पृ० 198
2. रामा० (VII, 17)
3. प्रा० भा० शि० प० - डा० अ० स० अलतेकर पृ० 157
4. हारीत, द्विविधा स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योद्वाहाश्च।
   तत्र ब्रह्मवादिनी नामग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्षचर्येति।
   सद्योवधूनां तूपस्थिते विवाहे कथंचिदुपनयन-मात्रं विवाहः कार्यः।। - वीर० सं० प्र० भाग-2 पृ० 402

होती हैं, जिनमें से कुछ के नाम विश्ववारा, सिकता लोपामुद्रा, घौषा, अपाला, रोमशा तथा उर्वशी आदि हैं। मीमांसा विषय पर 'काशकृत्स्नी' ने एक पुस्तक की रचना की जिसे उसी के नाम पर 'काशकृत्स्नी' नाम दिया गया। इसी प्रकार 'मीमांसा' विषय का गूढ़ अध्ययन करने वाली छात्रओं को 'काशकृत्स्ना' नाम दे दिया गया।[1]

उपर्युक्त समस्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं। कि स्मृतिकाल से पूर्व नारियों का उपनयन संस्कार होता था तथा वे इच्छानुसार विस्तृत ज्ञानराशि प्राप्त करती थीं। शिक्षा प्राप्ति की यह सुविधा ब्राह्मण, श्रत्रिय तथा वैश्य तीनों वर्णों की नारियों को प्राप्त थी। इस प्रकार बाल विवाह का प्रचलन न होने के कारण सभ्य घरानों की कन्याएं अवश्य ही उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेती थीं। नारियों की शैक्षिक स्थिति इतनी अच्छी थी कि एक स्थान पर विद्वान पुत्री की कामना करने वाले पिता की चर्चा की गई है।[2]

अतएव प्राचीन भारतीय शिक्षा के इतिहास के अनुसार यह प्रतीत होता है कि वैदिक काल में हिन्दू समाज नारी शिक्षा के पक्ष में था, किंतु उत्तरकाल में वह इसे निरूत्साहित करने लगा। इसी प्रकार एक समय में हिन्दू समाज में हस्त व्यवसाय तथा कला का अत्यन्त आदर था। किंतु कालान्तर में उसे हेय समझा जाने लगा। कतिपय अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आदर्शों एवं परिस्थितियों के परिवर्तन का शिक्षण प्रणाली के स्वरूप और भाग्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है।[3]

मनुस्मृति के काल तक नारियों की शैक्षिक स्थिति में एक बड़ा परिवर्तन आ गया। वे शिक्षा की अधिकारिणी तो बनी रहीं किन्तु वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन का उनको अधिकार न रहा।[4] यद्यपि धर्मसूत्रों के काल(500 ई० पू०) से ही स्त्रियों में उपनयन का महत्व कम होने लगा था, फिर भी मनुस्मृति के काल में उपनयन को औपचारिक महत्त्व प्राप्त था।[5] इसके अतिरिक्त स्त्रियों के वेदाध्ययन की अधि करिणी न होने के कारण, विवाह संस्कार को छोड़कर उनके अन्य सभी संस्कार वैदिक मंत्रोच्चारण से रहित ही किए जाने लगे।[6] मनु के परवर्ती स्मृतिकार याज्ञवल्क्य

---

1. एवमपि काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी।
   काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी।
   प्रा० भा० शि० प० - डॉ० अ० स० अलतेकर पृ० 157
2. अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत
   सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्षिष्मन्तमश्नीयाताम। - बृ० उ० (IV, 4,18)
3. भा० सं० ना० - डॉ० लता सिहंल पृ० 135
4. निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
   तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्।।
   - म० स्मृ० (II, 16)
5. वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिक स्मृतः। - वही (II, 67)
6. अमन्त्रिकास्तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः। - वही (II, 66)

ने नारियों के लिए उपनयन की औपचारिक रीति को भी आवश्यक नहीं समझा और उपनयन संस्कार का स्त्रियों के लिए सर्वथा बहिष्कार कर दिया। गर्भाधान से चूड़ाकरण पर्यन्त समस्त संस्कारों का वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्य[1] ने लिखा है कि ये समस्त संस्कार कन्याओं के भी ज्यों के त्यों किए जाएं किन्तु इनमें वैदिक मंत्रोच्चारण न किया जाय। नारियों के लिए उपनयन की वे चर्चा नहीं करते। केवल विवाह संस्कार को ही नारियों के लिए वैदिक रीति से मान्य निर्धारित करते हैं।

परिणामस्वरूप नारियों का उपनयन संस्कार बन्द हो गया। उपनयन के अभाव में वे वैदिक शिक्षा प्राप्त करने की अधिकारिणी भी न रही। वैदिक ज्ञान न होने के कारण नित्य के धार्मिक कृत्यों में उपयुक्त वैदिक मंत्रों के सम्यक् ज्ञान से वे अनभिज्ञ रहने लगीं थीं। फलतः यज्ञ पूजनादि धार्मिक अनुष्ठानों में उनकी मात्र उपस्थिति ही होती थीं, स्वयं उनको वैदिक रीति का कोई ज्ञान न रहा। आगे चल कर अतिसायण आदि कुछ धर्म प्रणेताओं ने तो यज्ञों में उनकी औपचारिक उपस्थिति को भी आवश्यक नहीं समझा। इस प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति के बाद आने वाले समस्त प्रणेताओं ने याज्ञवल्क्य की व्यवस्था को पूर्णतः स्वीकार कर लिया। यम आदि स्मृतिकारों ने प्राचीन काल में नारियों के उपनयन संबंधी अधिकार को स्वीकार तो किया किन्तु पुनः उनको यह अधिकार दिलाने की कोई चेष्टा नहीं की। यहां तक[2] कि उपनयन के अभाव में नारियों की शूद्रों तक से समानता की जाने लगी।

शिक्षा–व्यवस्था में नारियों का योगदान

भारतीय शिक्षा में सर्वाधिक महत्त्व संस्कृति की सुरक्षा के उद्देश्य को प्रदान किया गया था। अतएव माताओं से आशा की जाती थी कि वे गर्भावस्था में अत्यन्त आदर्श एवं उत्कृष्ट धार्मिक विचार रखें जिनके प्रभाव से बालक पर अच्छे संस्कार अंकित हों। अतएव प्रत्येक कुल से यह आशा करना कि वह संस्कृत की सुरक्षा के ध्येय की पूर्ति में विद्यालय को सहयोग देगा, स्वाभाविक ही था। शिशु को महापुरुषों, पराक्रमी वीरो, साधु-सन्तों की कथाएं सुनाकर उसकी महत्त्वकांक्षाओं एवं कल्पना शक्ति को स्फुरण प्रदान करना दादी, नानी, एवं माताओं का कार्य था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि 'माता अपने पुत्र के लिए बुद्धि और वस्त्र बुनती है[3] इससे स्पष्ट है कि सन्तान की बुद्धि बढ़ाने में माता का कितना हाथ था। ध्रुव की भक्ति के मार्ग पर आरूढ़ करने वाली उसकी माता सुनीति ही थी।[4] माता अपने बच्चे को किस प्रकार सच बोलना सिखा सकती है इसका एक दृष्टान्त

1. तूष्णीमेता क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः। - याज्ञ० स्मृ० (I, 113)
2. वदन्ति केचिन्मुनयः स्त्रीणां शूद्रसमानताम्। पृ० 40
   पुरा० त०, वी० मि० परिभाषा
3. ऋ० वे० (V, 47,6
4. भा० पुरा० (IV, 7)

छा० उ० में मिलता है। सत्यकेतु जबाला ने ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश की इच्छा से जब अपनी माता से अपना गोत्र पूछा तो उसकी माता ने पुत्र से असत्य न बोल कर कहा मैं नहीं जानती तुम्हारा गोत्र क्या है? जबाला मेरा नाम है और सत्यकाम तुम्हारा नाम है।, अतः तुम अपने को सत्यकाम जबाला बतला देना।[1] इस कथा से स्पष्ट हो जाता है कि यदि कोई स्त्री निम्न श्रेणी की होकर भी सदाचरण वाली हो तो वह सत्यकाम जैसे प्रतिभा सम्पन्न पुत्र को जन्म दे सकती है। ऋतुध्वज की रानी मदालसा ने आध्यात्म मार्ग में दक्षता प्राप्त करके चार ऐसे पुत्रों को जन्म दिया जो महर्षि बने। पुनः राज्य की आवश्यकता के अनुसार उसने पांचवें ऐसे पुत्र को जन्म दिया जो बड़ा होकर शूरवीर राजा बना। शिवाजी के बालमन पर वीरता की छाप डालने वाली स्वयं उनकी माता जीजाबाई ही थी।[2]

उपर्युक्त वर्णित परिस्थितियों के अतिरिक्त समाज का एक वर्ग ऐसा भी था जहां नारी का अच्छा प्रचार था। नौ–सौ ईस्वी के लगभग तक राजघरानों, राजकीय कर्मचारियों, धनीसम्पन्न घरानों तथा गणिकाओं के समाज में नारी को उच्च कोटि की शिक्षा प्रदान की जाती थी। जिनमें से कुछ श्रेष्ठ कवयित्रियों के रूप में प्रादुर्भूत हुई।[3] जिसकी पुष्टि इस काल के संस्कृत नाटकों द्वारा होती हैं। इन नाटकों की नायिकाएं उच्च शिक्षा प्राप्त नारियां हैं जो राजघरानों से भी सम्बन्धित है। यद्यपि इन नारियों को वैदिक शिक्षा प्रदान नहीं की जाती थी किन्तु फिर भी वे संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का साहित्यिक अध्ययन भली प्रकार कर लेती थीं। इनकी शिक्षा का केन्द्र विशेष रूप से घर ही होता था और गृह से सम्बद्ध कलाओं में दक्षता प्रदान करने के लिए धनी परिवारो में इनके लिए अध्यापक भी नियुक्त किए जाते थे। राजा अग्निमित्र के यहां गणदास और हरदत्त की नियुक्ति नारियों को विशिष्ट कलाओं की शिक्षा प्रदान करने के लिए ही हुई थी। ये अध्यापक विशेष रूप से संगीत, नृत्य, चित्रकला, गृहसज्जा, माल्यग्रन्थन आदि की शिक्षा प्रदान करते थे।[4] वात्स्यायन के अनुसार भी कलाओं को चौंसठ कलाओं में पारंगत होना चाहिए।[5] परन्तु विवाह के पश्चात् इनमें से बहुत ही कम स्त्रियां अपनी शिक्षा को आगे चला पाती थीं। जो स्त्रियां सुदीर्घ काल तक अध्ययन कर पाती थीं। उनमें से कुछ ने अपनी अद्भुत रचनाओं द्वारा साहित्य में गौरव का स्थान भी प्राप्त किया है।

---

1. छा० उ० (VI, 42)
2. भा० सं० ना० – डॉ० लता सिहंल पृ० 151
3. पुरुष बद्योषितोऽपि कवीभवेयुः श्रूयन्ते च राजपुत्रयो महामात्रदुहितरो गणिकाः कौटुम्बिकभार्याश्च शास्त्रप्रहितबुद्धयः – का० मी० पृ० 53
4. प्रा० भा० शि० प० – डॉ० अ० स० अलतेकर पृ० 220
5. का० सू० (I, 3,16)

समर्थ गुरु रामदास के चरित्र-निर्माण में उनके परिवार का ही प्रभाव था। अतएव बालकों को थोड़ी बहुत प्रारम्भिक शिक्षा गृह में ही प्राप्त हो जाती थी। प्रायः सभी सुसंस्कृत परिवारों में गिनती, पहाड़ा, संज्ञा रूप तथा व्याकरण के कुछ सूत्र बालकों को बाल्यकाल में ही पढ़ा दिए जाते थे। इस प्रकार अध्यापको को अध्यापन कार्य में पर्याप्त सहायता मिल जाती थी। बालिकाओं की शिक्षा का प्रबन्ध घर पर ही होता था। वे गृह विज्ञान सम्बन्धी शिक्षा माता से ग्रहण करती थीं तथा साहित्यिक ज्ञान पिता, चाचा या भाई से प्राप्त कर सकती थीं। स्मृतियों में बालक के अक्षर ज्ञानादि के विषय में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। वस्तुतः प्रत्येक स्नातक से गृहस्थाश्रम में रहते हुए अपने पूर्व पठित पाठों की पुनरावृत्ति की आशा की जाती थी, अतएव यह स्वाभाविक था कि वह उपनयन से पूर्व ही अपने बच्चों को यत् किंचित् प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान कर दे। ऐसी अवस्था में स्त्रियां भी[1] पति के ज्ञान का लाभ उठाकर बालकों को शिक्षित करने में सहयोग देती थीं।

अतीत काल (वैदिक काल) में स्त्री-शिक्षा ने बहुत प्रगति की थी। वैदिक काल में भारतीय नारी पुरुषों के समान शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। ब्राह्मण कन्याओं को वैदिक ऋचाओं (ग्रन्थों) की शिक्षा दी जाती थी जबकि क्षत्रिया कन्याओं को तीर कमान का शिक्षण दिया जाता था। अथर्ववेद में भी यह बात स्पष्ट की गई है। कि केवल उसी लड़की का विवाह सफल होता है जिसे छात्रावास में उचित प्रशिक्षण दिया गया हो।

वैदिक काल में मैत्री गार्गी, लोपा, मुद्रा आदि विख्यात नारियों का नाम आता है जिन्होंने वैदिक ऋचाओं (ग्रन्थों) की रचना की थी। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ऐसी नारी थी जिसे वस्त्र आभूषणों में कोई रूचि नहीं[2] थी अपितु उपनिषद् काल में प्रचलित दर्शन शास्त्र में उसकी विशेष जिज्ञासा थी। गार्गी वाचानवी ने जनक के यहां यज्ञावसर पर याज्ञवल्क्य वाचनानवी ने जनक के यहां यज्ञावसर पर[3] याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ में अपनी अप्रितम आध्यत्मिक प्रतिभा का परिचय दिया। आत्रेयी भी[4] वाल्मीकि तथा अगस्य ऋषि से वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करने वाली विदुषी नारी थी। पुराणों के काल में भी नारियां विद्या के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लेती थी। इस सन्दर्भ में राजा 'दाक्षायण' की दो पुत्रियों का उल्लेख[5] प्राप्त होता है जा कि मीमांसा तथा दर्शन शास्त्रों में दक्षता प्राप्त कर चुकी थीं। मदनमिश्र

---

1. भा० सं० ना० - डॉ० लता सिहंल पृ० 152
2. सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्याम
   किं तेनाहं (अतिप्रभूतेनापि वित्तेन) कुर्यामिति। - बृ० उ० (II, 4, IV, 5)
3. अनतिपृश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि। - वही (III, 6,1)
4. तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकि पार्श्वादिह संचरामि। उ० रा० च० अंक 2
5. तेभ्योदधार द्वे कन्ये वयुनां धारिणीं स्वधा।
   उभे ते ब्रह्मवान्दियों ज्ञान विज्ञान पारगे।। - भा० पु० (IV, 1,64)

और शंकराचार्य में हुए शास्त्रार्थ मे मदनमिश्र की पत्नी भारती ने निर्णायक की भूमिका निभाई थी। जब युधिष्ठिर ने द्रौपदी को दाव पर लगाया था। तो उसने उस दाव को कानूनी आधार पर चुनौती दी थी और उस सभा में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो उसके प्रश्नों का उतर दे सके। सावित्री ने अपने प्रश्नों से यम को लाजबाब कर दिया था और यम के फन्दे से अपने पति को छुड़ा लाई थी। नारियों की बौद्धिक योग्यता एवं प्रशिक्षण के और भी कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।[1]

बौद्धकाल में स्त्री-शिक्षा ने नवीन आयाम प्राप्त किये। इस युग में नारी शिक्षा को उचित रूप से नियोजित किया गया था। महात्मा–बुद्ध ने नारियों को संघ में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी थी। कई नारियां बौद्ध-धर्म एवं दर्शन की आजीवन छात्राएं बन गई थीं। इसके अतिरिक्त बुद्ध द्वारा संघों में नारियों के प्रवेश की अनुमति मिल जाने से सुसंस्कृत परिवारों की नारियों को शिक्षा प्राप्ति का सुअवसर प्राप्त हो गया। बौद्ध-संघों में बहुत सी नारियाँ ब्रह्मचर्य पालन करते हुए धार्मिक एवं दार्शनकि ज्ञानार्जन करने लगीं। अशोक की पुत्री संघमित्रा बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु लका तक गयी और वहां पर धर्मग्रन्थों की व्यारव्याता के रूप में विरव्यात हुई।[2]

स्मृति ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि स्मृतिकाल में स्त्रियों की दशा में अधोगति हुई। स्त्रियों को शूद्रों की श्रेणी में रखा गया और उन्हें वेद आदि के अध्ययन से वंचित किया गया। मनु, गौतम आदि ने स्त्रियों को अस्वतन्त्र माना है।[3] मनु ने स्त्रियों के संस्कार मन्त्रहीन कहे हैं केवल विवाह संस्कार में मन्त्र पाठ बताया है।[4] इसके विपरीत वृद्धहारीत और भृगुस्मृति में स्त्रियों और शूद्रों के उपनयन और वेदाध्ययन की व्यवस्था दी गई है। वृद्धहारीत का कथन है कि जो भी सदाचार, सुशीलता आदि गुणों से युध्क्त है वे सभी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्रियाँ मन्त्रों के पाठ के अधिकारी है।[5] भृगु का कथन है कि बालक और बालिकाओं का भी उपनयन संस्कार पांच वर्ष की अवस्था में होना चाहिए और उन्हें वेदाध्ययन करना चाहिए।[6] कन्याओं को गुरुकुल में भेज देना चाहिए। स्वच्छता और आचार से हीन तथा निकृष्ट कार्य करने वाली स्त्रियां और पुरुष वेद पढने के अधिकारी नहीं है।[7] भृगु ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि बिना अध्ययन के स्त्री और

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ०464-465
2. द पो० आ० वु० - अल्तेकर पृ० 12
3. क म० स्मृ० (IX, 3)
   ख) गौ० स्मृ० (XVIII,1)
4. वही (II, 66,67)
5. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियाः शूद्रास्तथेतराः।
   तस्याधिकारिकणः सर्वे, सत्त्वशीलगुणा यदि।। -वृहा० स्मृ० (III, 6)
6. भृगु० स्मृ० (III 40-43, IX 1-5)
7. वेदाः सर्वे सदाऽध्येथा, बालिकाभिश्च बालकैः।
   शैशवे कृतयज्ञोपवीतैस्तैः पञ्चमाब्दत।। - भृगु० स्मृ० (III, 40)

नारियों का नाम आता है जिन्होंने वैदिक ऋचाओं की रचना की थी। पुरातन एवं नवीन युग में जीवन के हर क्षेत्र में नारी शिक्षा का बहुत बडा योगदान रहा है। इतिहास इसका साक्षी है।

आलोच्य काल में नारियों के लिए किसी प्रकार की पाठशाला का पृथक प्रबन्ध किया गया हो ऐसा वर्णन प्राप्त नहीं होता। बौद्धों ने अपने विहारों में भिक्षुणियों की शिक्षा व्यवस्था की थी किन्तु कालान्तर में उसके भी उदाहरण प्राप्त नहीं होते। वस्तुतः कन्याओं के लिए पृथक् पाठशालाएं न थी जिन कन्याओं को गुरुकुल में अध्ययन करने का अवसर प्राप्त होता था वे पुरुषों के साथ ही अध्ययन करती थीं।

वर्तमान युग में नारी की स्थिति दिन प्रतिदिन प्रशांसनीय रूप से उन्नत होती जा रही है। आज की नारी शिक्षा के सर्वोच्च क्षेत्र में अध्ययन कर रही है, वह विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य कर रही है, सैन्य शिक्षा भी वह प्राप्त कर रही है। अध्यापिका, राजकीयकर्मचारी, ब्यापार से लेकर संसदीय क्षेत्र में नारी ने स्थान प्राप्त कर लिया हैं सभी क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करके उसने दिखा दिया है कि प्राचीन काल की भारतीय नारी में जो गुण विद्यमान थे, नारी ने उन्हें अभी तक खोया नहीं है यद्यपि दे कुछ समय के लिए क्षीण पड़ गए थे, साथ ही नारी के इस अभ्युत्थान का श्रेय पूर्ण रूप से पुरुष को ही प्राप्त होता है क्योंकि उसी के सतत प्रयत्नां से आज की नारी स्वच्छन्द वातावरण में जा रही है।

मानव जीवन को नारी की देन एक अत्युत्तम प्रक्रिया है, शिशु का पालन नारी पर निर्भर करता है, आज का शिशु कल का सामाजिक स्तम्भ है। यदि नारी सुशिक्षित होगी, शुद्ध आचार से युक्त होगी तभी वह शिशु को एक सशक्त मानव का रूप दे पाएगी अतः नारी शिक्षा पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

सहायक ग्रंथ

क्रमांक	ग्रंथ का नाम	लेखक/सम्पादक का नाम	प्रकाशक, स्थान एवं संस्करण
1.	अमरकोश	मोतीलाल बनारसीदास	वाराणसी 1966-68
2.	अथसंवर्तस्मृति	अष्टादश स्मृति (भारत बन्धु यन्त्रालय)	अलीगढ़ प्र० सं० 1891
3.	अग्निपुराण	डा० धनश्याम त्रिपाठी डॉ प्रभात मिश्र शास्त्री	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना 1900
4.	अर्थशास्त्र	गणपतिशास्त्री	त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज
5.	अत्रि स्मृति	अष्टादश स्मृति (भारत बन्धु यन्त्रालय)	अलीगढ़ प्र० सं० 1891
6.	अथर्ववेद	सायण भाष्य	निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1895.
7.	अथर्वशिरोपनषिद्	पं० श्रीरामशर्मा आचार्य	संस्कृत संस्थान बरेली 1971.
8.	अष्टादश स्मृति	पं० मिहिरचन्द	जवाहर नगर नई दिल्ली 1891.
9.	आपस्तम्ब धर्मसूत्र	डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी, 1969
10.	आरूण्योपनिषत्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृत संस्थान बरेली 1971
11.	आश्वलायन गृह्यसूत्र	गार्ग्यनारायणीय आनन्दचन्द्र	वेदान्तवागीरा कलकत्ता 1869.
12.	ईशावास्योपनिषत्	डॉ पुरूषोत्तम शर्मा	अभिमन्यु पब्लिकेशन्स टी गार्डन, कटडा बैष्णों देवी
13.	ऋग्वेद	स्वामी दयानन्द	दयानन्द संस्थान दिल्ली-2032
14.	ऐतरेयोपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृत संस्थान बरेली, 1971
15.	ऐतरेय आरण्यक	डॉ० सत्यंव्रत शास्त्री आचार्य एवं अध्यक्ष	संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय 1965.
16.	आशैनस स्मृति	अष्टादश स्मृति (भारत बन्धु यन्त्रालय)	अलीगढ़ प्र० सं० 1891
17.	कठोपनिषद्	डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा	जमुना पाठक वाराणसी, 1974
18.	कात्यायन स्मृति	स्मृतियां समुच्चय हरि नारायण आप्टे	आनन्दाश्रम प्रैस 1905
19.	कुंडिकोपनिषत्	पं० श्री राम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1976
20.	केनोपनिषत्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1971
21.	कौण्डिण्य स्मृति	विद्याभूषण पं० जगन्नाथ शास्त्री	वी० वी० आर० आई० प्रैस, होशियारपुर, 2021
22.	गर्भोपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1971
23.	गायत्री उपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1971
24.	गोपथ ब्राह्मण	आचार्य डॉ० प्रज्ञा देवी डॉ० इन्द्र	लूकटगन्ज, इलाहाबाद दयाल सेठ 1967.

25.	गोभिल गृह्यसूत्र		
26.	गौतम धर्मसूत्राणि	डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी-2023.
27.	छान्दोग्योपनिषद्	पं० श्रीराम आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ० प्र०) 1972
28.	जातक संहिता	भदन्त आनन्द कौसल्लायन	हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग - 2013.
29.	जावालोपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली(उ० प्र०)1976
30.	तैत्तिरीय आरण्यक	सं० हरिनारायण आप्टे	पूना, 1868.
31.	तैत्तिरीय उपनिषद्	पं० श्रीपाददामोदर सातवलेकर	साध्याय मंडल पारडी, आन्नदाश्रम- 2013.
32.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृत संस्थान कुतुब वेदनगर बेरली
33.	तैत्तिरीय संहिता	श्रीपाददामेदर सातवलेकर	बसन्त श्रीपादसातवेलकरपारडी, सूरत 1957.
34.	दक्षद्वयोपनिषत्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ० प्र०) 1971
35.	नारद परिव्राजको पनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ० प्र०) 1976
36	नारदस्मृति	नारायण चन्द्र पी० सी० लहरी	संस्कृत कालेज कलकत्ता
37.	निरूक्त	दुर्गाचार्य वृत्ति सहित	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी
38.	नीतिशतक	सं० एच० डी० वैद्य	मथुरा 1941.
39..	नृसिंहोत्तर तापनी पनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ० प्र०) 1971
40.	पराशर स्मृति	श्री काशी ज्योतिर्वित्समितिमन्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
41.	परब्रह्मोपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ० प्र०) 1976
42.	पाणिनी अष्टाध्यायी	हरिदास टीका	चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी 1965
43.	पाणिनी गृह्यसूत्र		वाराणसी
44.	प्रश्नोपनिषद्	शांकरभाष्य सहित	मोतीलाल जालान गीता प्रैस, गोरखपुर
45.	पंचतंत्र		पण्डित पुस्तकालय कांशी 1958.
46.	बृहदारण्यकपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ० प्र०) 1971
47.	बृहदहारीत स्मृति	अष्टादश स्मृति खेमराज कृष्णदास	श्री वेङ्केटेश्वर स्ट्रीम प्रैस,बम्बई 1846.
48.	बौधायन स्मृति	बीस स्मृतियां पं० श्रीराम चन्द्र	संस्कृति संस्थान बरेली आचार्य 1966
49.	बौधायन गृह्यसूत्र	आर० शामा शास्त्री	ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट,मैसूर 1982
50.	बौधायन धर्मसूत्र	डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय	चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी-2023
51.	ब्रह्मपुराण	आचार्य बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-2002
52.	ब्रह्मविद्योपनिषत्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ० प्र०)1976
53.	बृहत्संहिंता	बराह मिहिरकृत	विब्लियोथिका इडिका सुधाकर वाराणसी
54.	भगवद्गीता	मधुसूदन सरस्वती	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी 1962.
55.	भिक्षुकोपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली(उ०प्र०)1976
56.	भृगु स्मृति	अष्टादश स्मृति खेमराज कृष्णदास	श्री वेङ्केटेश्वर स्ट्रीम प्रैस,बम्बई 1846.
57.	रामायणबाल्मीकि	सं० द्वारका प्रसाद शर्मा	रामनारायण लाल बेनी माधव,इलाहाबाद
58.	व्यास स्मृति	अष्टादश स्मृति खेम्मराज कृष्णदास	श्री वेङ्केटेश्वर स्ट्रीम प्रैस, बम्बई 1846.
59.	वशिष्ट स्मृति	स्मृतियां समुच्चय हरि नारायण	आनन्दाश्रम प्रैस, पुणे आप्टे 1905.
60.	विष्णु स्मृति	पं० वी० कृष्णाचार्य	अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास 1964

61.	मत्स्य पुराण	राम नारायण दत्त शास्त्री	गीता प्रैस गोरखपुर
62.	मण्डल ब्राह्मणो परिषद्	पं० श्रीरामशर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1976
63.	महाभारत (आदिपर्व)	रामनारायण दत्त शास्त्री	गीता प्रैस, गोरखपुर
64.	मनुस्मृति	रामेश्वर भट्टकृतया	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान जबाहर नगर, दिल्ली 1998.
65.	मार्कण्डेय पुराण	खेमराज कृष्णदास	श्री वेंड्केश्वर, स्टीम प्रैस बम्बई
66.	माण्डूक्योपनिषद्	पं० श्री पाददामोदर सातवलेकर	स्वाध्यायमंडल आनन्दाश्रम, सूरत 1952.
67.	मुण्डकोपनिषद्	पं० श्री पाददामोदर सातवलेकर	स्वाध्यायमंडल आनन्दाश्रम, किल्ला पारडी 2008..
68.	मुद्गलोपनिषत्	पं० श्रीरामशर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1971
69.	याज्ञवल्क्योपनिषत्	पं० श्रीरामशर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1971
70.	याज्ञवल्क्य स्मृति	महर्षि याज्ञवल्क्य डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1967.
71.	योगतत्त्वोपनिषत्	पं० श्रीरामशर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1976
72.	लघुआश्वलायन स्मृति	स्मृतियां समुच्चय हरि नारायण	आनन्दाश्रम प्रैस पुणे आप्टे
73.	श्वेताश्वेतरोपनिषत्	डॉ० तुलसीराम शर्मा	अमर प्रिंटिंग प्रैस,विजयनगर
74.	शतपथ ब्राह्मण	स्वामी सत्यप्रकाश	गोविन्दरामहासानन्द दिल्ली
75.	शंख स्मृति	अष्टादश स्मृति खेमराज कृष्णदास	श्री वेड्केटेश्वर स्ट्रीम प्रैस, बम्बई - 1846.
76.	शांखयायन गृह्यसूत्र		दिल्ली, 1960.
77.	शाट्यायनीयोपनिषत्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली
78.	शान्तिपर्व		
79.	शुक्ररहस्योपनिषत्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1971.
80.	स्मृतिचन्द्रिका	वेदण्ण भट्ट	जगन्नाथ रघुनाथ धर्मपुरे बम्बई 1918
81.	सुबालोपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1976.
82.	हारीत स्मृति	स्मृतियां समुच्चय हरि नारायण	आनन्दाश्रम प्रैस, पुणे 1905.
83.	हितोपदेश	सं० काशीनाथ पाण्डुरंगपरबृ	बम्बई
84.	हिन्दू संस्कार	डॉ० राजबली पाण्डेय	वाराणसी
85.	क्षुरिकोपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली
86.	श्रीमद्भगवद्गीता	महिर्ष वेदव्यास	गीता प्रैस, गोरखपुर, 1902
87.	अष्टांगसूत्रस्थान	पं० खेम राज दास	श्री वेकटेश्वर सटीम यन्त्रालय मुम्बई 1964

क्र.	ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक
88.	अभिज्ञानशाकुन्तलम्	कालिदास	साहित्य भण्डार सुभाष 1979
89.	आधुनिक भारतीय शिक्षा और समस्याएं	डॉ॰ बी॰ बी॰ अग्रवाल	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, संस्करण तृतीय
90.	आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास	आंचार्य प्रियव्रत शर्मा	चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1981
91.	इण्डियन ऐन्टिक्विटी		
92.	उत्तररामचरितम्	भवभूति सं॰ रतिराम शास्त्री	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली।
93.	उपनिषदों का संदेश	डॉ राधाकृष्णनु	राजपाल एण्ड सन्ज कश्मीरी गेट दिल्ली 1965.
94..	उपनिषदों का तत्त्वज्ञान	डॉ जयदेव वेदालंकार	प्राच्य विद्याशोध संस्थान प्रष्ठिान हरिद्वार, 1980
95.	ऐजूकेशन एन ऐंसियण्ट इंडिया	ए॰ एस॰ अल्तेकर	बनारस 1934.
96..	कल्याण शिक्षांक	वर्ष 62	गीता प्रेस गोरखपुर
97..	कामसूत्र	श्रीवात्सयायन मुनि प्रणीत हिन्दी टीकाकार डॉ॰ रामाचन्द शर्मा	कृष्ण दास अकादमी वाराणसी 2054
98.	कुमार सम्भवम्	कालिदास व्याख्यकार पं॰ गंगाधर शास्त्री भारद्वाज सं॰	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, वाराणसी 1966
99..	केनोपनिषद् में जीवन-दर्शन	डॉ बीरबल	शोध प्रबन्ध- 1996.
100.	गुरु-शिष्य सम्बन्ध	डॉ फूलकान्त मिश्र	जवाहर नगर दिल्ली प्रं॰ सं॰ 1996
101.	ग्रेंट वुमेन ऑफ इण्डियन		दिल्ली
102.	चरक संहिता	श्री जयदेव विद्यालंकार	मोती लाल बनारणसी दास वाराणसी 1954
103.	दशुकमारचरितम्		बम्बई 1917
104.	द पोजिशन आफ वुमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन	ए॰ एस॰ अल्तेकर	द्वि॰ सं॰ 1959.
105.	प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन	स्मृतियां समुच्चय हरि नारायण आप्टे	आनन्दाश्रम प्रैस पुणे 1905
106.	प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं	डॉ॰ कैलाश चन्द्र जैन	हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल द्वि॰ सं॰ 1976.
107..	प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति	डॉ॰ अनन्त सदाशिव अल्तेकर	नन्दे किशारे एण्ड ब्रदर्स बॉस फाटक वाराणसी

108	प्राचीन भारत इतिहास और संस्कृति	बी० जी० गोखले	एशिया पब्लिशिंग हाऊस नयी दिल्ली 1957.
1.09.	बृहत्संस्कार		
110.	भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति	डॉ० कृष्णकुमार	सफदरजंग इन्कलेब नई दिल्ली प्र० सं०
111.	भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं	पी० डी० पाठक	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
112.	भारतीय शिक्षा के विभिन्न	डॉ० रामशुक्ल पाण्डेय	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा नवीनतम् संस्करण
113.	भारतीय शिक्षा का विकास एवं सामयिक समस्याएं	डॉ० मालती सारस्वत एवं डॉ० एल० बी० वाजपेयी	आलोक प्रकाशन इलाहाबाद, 1996
114.	भारतीय शिक्षा की सम-सामयिक समस्याएं	जी० एस० डी० त्यागी एवं पी० डी० पाठक	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा चतुर्थ संस्करण
115.	भारतीय संस्कृति में नारी	डॉ० लता सिंहल	परिमल पब्लिकेशन्स शक्ति नगर दिल्ली प्र० सं० 1991
116.	वर्तमान शिक्षा	हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रैस गोरखपुर 1993.
117.	विक्रमोर्वशीयम्	सं० काले	वाराणसी
118.	विद्यालय प्रशासन संगठन एवं स्वास्थ्य शिक्षा	एस० पी० सुखिया	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा सं० 26
119	महावीरचरितम्		चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी
120.	मालतीमाधवम्	रामकृष्ण गोपाल	संस्कृत सीरीज भण्डारकर बम्बई,
121.	मालविकाग्निमित्रम्	नारायण राम आचार्य काव्यतीर्थ	निर्णयागर मुद्रणालय, मुम्बई
122.	मुद्राराक्षसम्	डॉ० निरूपण विद्यालंकार	सुभाष बाजार, मेरठ
123.	रघुवंश	पं० रामतेजपाण्डेयेन	पण्डिय पुस्तकालय राजा दरवाजा, बनारस
124.	शिक्षा के दार्शनिक तथा	डॉ० एस० एस० माथुर	विनोद पुस्तक मन्दिर आगर नवीनतम संस्करण
125.	शिक्षा के सामान्य-सिद्धान्त	जी० एस० डी० त्यागी एवं पी० डी० पाठक	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा नवीनतम् संस्कार
126.	शिक्षा में प्रयोग तथा समस्याएं	आर० एन० मिश्र	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा 1998
127.	शिक्षा की रूपरेखा	डॉ एच० एस० बैस	बनारस
128.	शिक्षा के मूल आधार	डॉ० शोभा गर्ग	बेनी प्रसाद इलाहाबाद

129.	शिक्षा सिद्धान्त	श्रीउमाशंकरश्रीवास्तव डॉ० जायसवाल तथा कु० सक्सेना	बेनी प्रसाद इलाहाबाद प्रथम संस्करण
130.	स्मृतियों में नारी	डॉ० भारती आर्य	विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर 1989.
131.	स्मृति कालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति	डॉ० राजदेव दूबे	प्रतिभा प्रकाशन शक्निगर दिल्ली 1988.
132.	स्वतन्त्र समाज की शिक्षण पद्धति	डॉ० वि० के० जवली	हिन्दी साहित्य भण्डार अमीनाबाद, लखनऊ।
133.	सत्यार्थ प्रकाश	स्वा० दयानन्द प्रतिनिधि	सार्वदेशिक आर्य सभा- नई दिल्ली।
134.	सफल शिक्षण कला	पी० डी० पाठक एवं जी० एस० डी० त्यागी	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा नवीनतम् संस्करण
135.	सुभाषित रत्न संग्रह		चौखम्बा विश्वभारती, वाराणसी
136.	सुभाषित रत्न भण्डार	खेमराज कृष्णदास	बम्बई सं० 1985.
137.	सोशल आर्गनाइजेशन		
138.	संस्कृत अंग्रेजी कोष	डॉ० एम० मोनियर विलियम	मोतीलाल बनारसी दास जवाहर नगर, दिल्ली
139.	संस्कृत हिन्दी कोष	आप्टे	मोतीलाल बनारसी दास, बनारस
140.	संस्कृत रत्नाकार शिक्षांक	चौ० सं० सी० वाराणसी	
141.	संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास	डॉ० ए० बी० कीथ	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली 1960
142.	हिन्दू संस्कार	डॉ० राजबली पाण्डेय	वाराणसी
143.	Education in India, today and Tomorrow	S.N. Mukerji	Acharya Book Depot. Baroda, 1969.

शिक्षा जगत् का परिचालन एवं नियन्त्रण सदाचारशील तथा निःस्पृह ज्ञानवृद्ध मानीषियों के द्वारा ही होना चाहिए। सरकारी तन्त्र का सम्बन्ध होने पर शैक्षणिक जगत् में प्रतिबन्ध आने से ज्ञानोपार्जन सम्यक् नहीं हो सकता। अतः शिक्षा ऐसी हो जिसमें अध्यात्मवाद, धर्म एवं मानवोचित पूर्णता की अभिव्यक्ति का समन्वय हो मानव दानव न बन सकें।[1]

स्त्री शिक्षा से सम्बन्धित सिफारिशे :

1. **पर्दा स्कूल-** सरकार उन लड़कियों के लिए जिनके अभिभावक 15-16 वर्ष की आयु तक लड़कियों को पढ़ाना चाहते हैं, पर्दा स्कूल जारी करें।
2. **स्त्री शिक्षा बोर्ड-** कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक विशेष स्त्री शिक्षा बोर्ड बनाया जाये। यह बोर्ड स्त्रियों के लिए विशेष कोर्सों का प्रबन्ध करे और उन्हें अध्यापक-प्रशिक्षण तथा चिकित्सा शिक्षा के लिए विशेष सुविधायें दे।[2] पुरुषों की ही भांति स्त्री शिक्षा का भी पर्याप्त प्रचार बढ़ रहा है। पुरुषों में शिक्षा बढ़ने के साथ ही साथ हमें स्त्री-शिक्षा की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। स्त्रियों के लिए विद्यालय, स्कूल और कालेजों की स्थापना हुई। स्त्री शिक्षा का भी वही आदर्श माना गया जो पुरुषों के लिए था, क्योंकि दृष्टिकोण ही ऐसा था। उच्च शिक्षा होनी चाहिए और उच्च शिक्षा का अर्थ ही है। कालेजों की शिक्षा, बी० ए०, एम० ए० की डिग्री प्राप्त करना, वकालत या डाक्टरी पास करना। स्त्रियां भी इसी पथ पर चलीं और चल ही रही हैं। वे भी पढ़-लिखकर अध्यापक, क्लर्क, वकील, बैरिस्टर, लेखिका, नेता, म्युनिसिपलिटी या कौंसिलों की मेम्बर बन रही हैं। यही उन्नति का स्वरूप है। चारों ओर इस उन्नति के लिए उल्लास प्रकट किया जा रहा है और यह उन्नति पूर्णरूप से हो जाय इसके लिए अथक चेष्टा हो रही है। ऐसी स्त्री -शिक्षा देनेवाले स्कूल कालेजों की ओर छात्राओं की संख्या दिनोंदिन बढ रही है। शिक्षा के साथ-साथ शिक्षा के अवश्यम्भावी फलरूप उपर्युक्त दोष स्त्रियों में भी आ रहे हैं। वे भी ईश्वर और धर्म का विरोध करने लगी है। सरलता, कोमलता, श्रद्धा, संकोच, प्राचीनता से प्रेम आदि स्वाभावकि गुणों के कारण यद्यपि पुरुषों की तरह ईश्वर और धर्म का खुला और आत्यन्तिक विरोध करनेवाली स्त्रियों अभी नहीं पैदा हुई हैं, परन्तु सूत्रपात हो चला है। संयम का अभाव भी बढ़ रहा है। पुरुषों की अपेक्षा स्वभाव से ही स्त्री कई बातों में अधिक संयमी

1. क० शि० — पृ० 57-58
2. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 14

होती है, इससे उसकी इधर प्रगति यद्यपि रूक-रूककर होती है, परन्तु उसका देखा-देखी करने का स्वभाव दोष उसे असंयम की ओर खींचे लिये जाता है, इसी से आज शिक्षित स्त्रियों में असंयम की मात्रा बढ़ रही है। जिस बात को मन में लाने से पहले ही लज्जाशील स्त्री का हृदय कांप उठता था, आज वही बात पुकार-पुकार कर कहने में उसे लज्जा नहीं आती।

याद रखना चाहिए कि सौन्दर्य फैशन मे नहीं हैं, सौन्दर्य हृदय के आदर्श गुणों में है। सौन्दर्य बोल-चाल, रहन सहन, आचार-व्यवहार, विनय-नम्रता, सच्चाई -सफाई, स्वास्थ्य और शक्ति आदि की स्वाभाविक उच्चता में हैं। जिसका हृदय सुन्दर और मधुर है, जिसके कार्य सुन्दर और मधुर है, वही सबसे बढकर सुन्दर है, फिर शारीरिक सौन्दर्य की रक्षा के लिए भी उचित और कम खर्चीले पदार्थों का यथासाध्य उपयोग करने में कोई बुराई नहीं है। बुराई तो फैशल की गुलामी में हैं। जहां फैशल की गुलामी होगी, वहां उसकी पूर्ति के लिए धन की भी विशेष आवश्यकता होगी और वह धन की आवश्यकता ही आज स्त्रियों के स्वाभाविक गुण सरलता को कपटाचार के द्वारा पराजित करवा रही है।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त स्त्रियों में कुछ मुख्य दोष और आ गये हैं, जिनमें सबसे प्रधान विवाह विच्छेद और संततिनिरोध की भावना, सब बातों में समान अधिकार की अव्यावहारिक इच्छा और सिनेमाओं में नाचने का शौक है।[1]

नारी शिक्षा पर श्रीमती हंस महता कमेटी के सुझाव

1. **प्रारम्भिक स्तर पर सहशिक्षाः** प्रारम्भिक स्तर पर सह शिक्षा का नहीं सामान्य ढांचा अपनाना चाहिए :
2. **सशक्त शिक्षात्मक प्रचार :** इस सतर पर सह शिक्षा के प्रति विरोध का सामना करने के लिए सशक्त शिक्षात्मक प्रचार करना चाहिए। परन्तु जहां अधिक लड़कियों का दाखिला सम्भव हो, वहां लोगों की मांग होने पर लड़कियों के लिए अलग प्राईमरी और मिडल स्कूल खोलने चाहिए।
3. **सैकण्डरी एवं कालेज स्तरों पर प्रबन्धकों को स्वतन्त्रता :** सैकण्डरी एवं कालेज स्तरों पर प्रबन्धकों एवं अभिभावकों (माता-पिता) को लडकियों के लिए अलग संस्थाएं स्थापित करने या लडकों और लडकियों के लिए मिश्रित संस्थाएं स्थपित करने की स्वतन्त्रा होनी चाहिए।
4. **अध्यापिकाओं की नियुक्ति :** यदि लडकों के कालेजों में लड़कियों को भी दाखिल करना है तो अध्यापिकाओं की नियुक्ति भी करनी चाहिए। इसी प्रकार

---

1. क० शि० पृ० 75

लडकियों के स्कूलों एवं कालेजों में कुछ अध्यापक लगाये जाने चाहिएं और देश के कुछ भागों में अध्यापकों एवं अध्यापिकाओं में विद्यमान खाई को दूर करना चाहिए।[1]

लडकों एवं लडकियों के विभिन्न पाठ्यक्रम से सम्बन्धित श्रीमती हंस महता कमेटी के सुझाव (1962): शिक्षा के सभी स्तरों पर लड़कों एवं लड़कियों के पाठ्यक्रमों को परीक्षण करने के लिए राष्ट्रीय -नारी शिक्षा परिषद् श्रीमती हंस महता कमेटी की नियुक्ति की गई। इस कमेटी ने निम्नलिखित सुझाव दिये:

1. प्राइमरी स्तर

I) **पाठ्यक्रम में विभिन्नीकरण नहीं होना चाहिए :** प्राइमरी स्तर पर लड़कों और लड़कियों के पाठ्यक्रम में विभिन्नीकरण नहीं होना चाहिए।

II) **सभी प्राइमरी स्कूलों में कुछ कार्य आरम्भ करना:** प्रायः सामाजिक वातावरण के कारण प्राइमरी सकूल में कुछ काम केवल लड़कों के लिए और कुछ केवल लडकियों के लिए आरम्भ कर दिए जाते हैं। परन्तु यदि लड़कों और लड़कियों के लिए सामान रूप से क्रियाएं आरम्भ कर दी जाएं- जैसे साधारण, सिलाई, पकाना, संगीत, नृत्य आदि तो दोनों का एक दूसरे पर स्वस्थ प्रभाव पड़ेगा और स्वस्थ दृष्टिकोण पैदा होगा।

III) **प्राइमरी अध्यापिकाओं के अनुपात में वृद्धि करना :** प्राइमरी स्कूलों में अध्यापिकाओं की संख्या के अनुपात में वृद्धि की जानी चाहिए। इसके लिए राष्ट्रीय नारी शिक्षा परिषद् के सुझावों को सशक्त रूप से कार्यान्वित करना होगा।

2. मिडल स्तर :

I) **सामान्य कोर्स :** 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करना देश का अन्तिम लक्ष्य है। सामान्य शिक्षा में लडको एवं लडकियों के लिए सामान्य कोर्स की स्थापना होनी चाहिए। लैगिक आधार पर पाठ्यक्रम में भेद नहीं होना चाहिए। इस सामान्य कोर्स में गृहविज्ञान का कोर पाठ्यक्रम भी सम्मिलित होना चाहिए।

II) **मिडल स्कूल के पश्चात् व्यावसयिक तैयारी का कोर्स :** कमेटी की समीति में 11 या 12 वर्ष की अवस्था में किसी वैकल्पिक कोर्स का चुनाव करना कठिन होता है। इसका कोई स्पष्ट लाभ नहीं होता।

III) **शिल्प शिक्षण-** सभी मिडल स्कूलों में स्थानीय स्थितियों के अनुकूल

1. क) आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 472-473
ख) [illegible] - पी० डी० पाठक पृ० 465

शिल्प शिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि सम्भव हो सके तो एक से अधिक शिल्पों का शिक्षण प्रदान किया जाये। जहां एक ही शिल्प शिक्षण की व्यवस्था हो वहां वह शिल्प लडकों एवं लडकियों दोनों के लिए अनिवार्य हो। जहां एक से अधिक शिल्पों की व्यवस्था हो वहां लड़कों और लड़कियों को शिल्प चुनने में स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

IV) **मिश्रित स्टाफ :** सभी मिडल स्कूलों में मिश्रित स्टाफ की व्यवस्था होनी चाहिए। लडकों के मिडल स्कूलों में लडकियों को दाखिल करने के लिए वहां अध्यापिकाओं की नियुक्ति आवश्यक होनी चाहिए।

V) **लड़कियों के लिए सुविधाएं :**

क) सह-शिक्षा संस्थाओं में अध्यापिकाएं नियुक्त करना।

ख) लड़कियों के लिए पृथक् सकूल खोलना।

ग) जरूरतमंद एंव योग्य लड़कियों को छात्रवृत्तियां प्रदान करना।

घ) जिन लड़कियों को अपने घर से दूर स्कूलों में जाना होता है उन के लिए परिवहन का प्रबन्ध करना।

3. सैकण्डरी स्तर :

क) **शिल्प को सामान्य कोर्स का अंग बनाना चाहिए :** सैकण्डरी शिक्षा में सामान्य कोर्स तथा व्यावसायिक कोर्स में मुकाबिला नहीं होना चाहिए बल्कि शिल्प, हस्त कार्य तथा उत्पादक मज़दूरी को सामान्य शिक्षा का अभिन्न अंग बनाना चाहिए।

ख) **विभिन्न व्यावसायिक कोर्स :** लडकों तथा लडकियों को जीवन के विभिन्न व्यवसायों के लिए तैयार करने के हित सैकण्डरी शिक्षा में विभिन्न व्यावसायिक कोर्सों की व्यवस्था होनी चाहिए। समाज की परिवर्तित होती हुए स्थितियों तथा कार्य की सम्भावनओं के सम्बन्ध में निरन्तर अनुसन्धान कार्य होते रहने चाहिएं ताकि व्यावसायिक कोर्सों को तदनुसार ढाला जा सके।

लड़कियों की विशिष्ट आवशकताओं को पूरा करने के लिए कमेटी ने वर्तमान कोर्सों में सुधार करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये हैं:-

क) **गृह अर्थशास्त्र :** सैकण्डरी-स्तर पर गृह-अर्थशास्त्र की व्यवस्था की जानी चाहिए।

ख) **संगीत और ललित कलाएं :** संगीत और ललित कलांए लडकियों में बहुत प्रिय होते हैं। इनके लिए आवश्यक एवं सुयोग अध्यापकों की व्यवस्था होनी

चाहिए और उनके वेतन मान में भी सुधार होना चाहिए।

ग) **लिंग शिक्षा** सैकण्डरी एवं मिडल स्तरों पर लिंग शिक्षा भी आवश्यक है। परनतु यह शिक्षण सुयोग्य, सुशिक्षित एवं परिपक्व अध्यापकों/अध्यापिकाओं द्वारा दिया जाना चाहिए। यदि ऐसे अध्यापक न मिलते हों तो यह शिक्षा प्रदान नहीं की जानी चाहिए।

घ) **गणित एवं विज्ञान के अध्यापकः** सैकण्डरी स्तर पर गणित एवं विज्ञान का अध्ययन करने वाली लड़कियों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए और उनके लिए गणित एवं विज्ञान की अध्यापिकाएं नियुक्त की जानी चाहिए।

ड) **पाठ्य क्रियाओं तथा पाठ्य–सहायक क्रियाओं में संतुलनः** पाठ्य-क्रियाओं तथा पाठ्य-सहायक क्रियाओं के कार्यक्रमों में संतुलन स्थापित किया जाना चाहिए। वे एक सम्पूर्ण ईकाई के रूप में विकसित होने चाहिए। अध्यापकों को यह सन्तुलन स्थापित करने का प्रशिक्षण प्रदान करना चाहिए।

च) **पाठ्य–पुस्तक समितियां :** पाठ्य–पुस्तक समितियों में नारियों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।

4. **विश्व विद्यालय स्तर :** विश्व-विद्यालयों को लड़कियों की आवश्यकताओं के लिए बनाये गये कोर्सों का समय-समय पुनर्निरीक्षण करना चाहिए और उनकी कमियों को दूर करने के प्रयास करते रहना चाहिए।

5. **व्यावसायिक शिक्षा :**

क) **व्यावसायिक–शिक्षण की व्यवस्था :** लड़कों तथा लडकियों की व्यावसायिक-शिक्षा के ज्यादा से ज्यादा विकास के लिए शीघ्र ही कदम उठाये जाने चाहिए।

ख) **सैकण्डरी एवं हायर–सैकण्डरी व्यावसायिक कोर्स :** यह अत्यन्त आवश्यक है कि सैकण्डरी एवं हायर-सैकण्डरी व्यावसायिक कोर्सों को समाज की पुरुष एवं नारी शक्तियों कीं आवश्यकताओं के साथ सम्बन्धित किया जाये।

ग) **जूनियर तकनीकी स्कूल एवं ट्रेड–स्कूल :** मिडल स्कूल के पश्चात् जूनियर तकनीकी स्कूलों एवं ट्रेड-स्कूलों की व्यवस्था होनी चाहिए। उनमें ऐसे व्यवसायों के प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए जिनमें लड़कियों को नौकरी प्राप्त करने के पर्याप्त अवसर प्राप्त हो सकें।

घ) **व्यावसायिक स्कूल :** सैकण्डरी-स्तर में व्यावसायिक स्कूलों की व्यवस्था की जानी चाहिए .जहां नारियों को यथासम्भव विभिन्न व्यवसायों का प्रशिक्षण दिया जा सके।

ड) **व्यावसायिक निपुणता के विभिन्न कोर्स** : विश्व विद्यालय स्तर पर नारियों को विभिन्न व्यवसायों में उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिए व्यावसायिक निपुणता के विभिन्न कोर्सो की व्यवस्था होनी चाहिए।[1]

कोठारी आयोग के सुझाव (1964. 66)

कोठारी आयोग ने तीनों कमेटियों अर्थात् (I) श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में नियुक्त राष्ट्रीय नारी शिक्षा कमेटी (II) श्रीमती हंस महता कमेटी (III) भक्तवत्सल्म कमेटी-के सुझावों का समर्थन किया है।

लड़कियों तथा नारियों की शिक्षा को विकसित करने के लिए आयोग ने निम्नलिखित कार्य विधि सुझाव दिए है :

क) राष्ट्रीय नारी-शिक्षा कमेटी द्वारा सुझाये गये विशिष्ट कार्यक्रमों पर बल दिया जाना चाहिए

ख) इस बात पर ध्यान देना कि सभी स्तरों पर नारी शिक्षा को प्रसार एवं विकास के सामान्य कार्यक्रमों का अभिन्न अंग बनाया जाये।

आयोग के सुझावानुसार -राष्ट्रीय कमेटी के सुझावों को कार्यान्वित करने के लिए ये कदम उठाने चाहिए।

1. **वर्तमान खाई को दूर करना** : कुछ वर्षो के लिए नारी शिक्षा के विकास को मुख्य स्थान देना चाहिए और इसे रास्ते में आने वाली कठिनाईयों का सामना पूरी शक्ति के साथ करना चाहिए। जितनी जल्दी सम्भव हो सके पुरुषों तथा नारियों की शिक्षा की खाई को समाप्त करना चाहिए।
2. **वशिष्ट प्रणालियां तैयार करना-** नारी शिक्षा के विकास के लिए विशिष्ट प्रणालियां तैयार की जानी चाहिएं और प्राथमिकता के आधार पर फण्डों की व्यवस्था करनी चाहिए।
3. **विशेष प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करना** : लड़कियों तथा नारियों की शिक्षा की देखभाल करने के लिए केन्द्र तथा प्रान्तों में विशषे प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए। इसमें नारी शिक्षा कार्यक्रमों को आयोजित एवं कार्यान्वित करने के लिए सरकारी एवं गैर सरकारी साधनों का सहयोग प्राप्त होना चाहिए।

विभिनन स्तरों पर लड़कियों की शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं-

---

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 473-476

1. प्राइमरी–स्तर पर लड़कियों की शिक्षा

1. लड़कियों की शिक्षा को तेज करना– संवैधानिक निदेशकों की पूति के लिए लडकियों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए और राष्ट्रीय नारी शिक्षा कमेटी के सुझावो के अनुसार नारी शिक्षा की गति तेज करनी चाहिए।

2. सैकण्डरी स्तर पर लड़कियों की शिक्षा :

क) लड़कियों की शिक्षा में विस्तार : लड़कियों की शिक्षा की विस्तार गति की बढ़ाना चाहिये ताकि अलगे 20 वर्षों में लोअर सैकण्डरी स्तर पर लडको और लड़कियों की संख्या का अनुपात 1:2 तथा हायर सैकण्डरी-स्तर पर 1:3 तक पहुंच जाये।

ख) लडकियों की शिक्षा के लिए सुविधाएं : लड़कियों के लिए पृथक स्कूल खोले जाने चाहिए। होस्टलों, छात्रवृत्तियों, अंशकालिक कोर्सों तथा व्यवसायिक-कोर्सों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

३. लडकों तथा लडकियों के लिए विभिन्न पाठ्यक्रमः आयोग ने हंस महता कमेटी के इस सुझाव का समर्थन किया है कि लैंगिक आधार पर पाठ्यक्रम में भेद नहीं होना चाहिए। गृह-विज्ञान को ऐच्छिक विषय तो बनाया जाना चाहिए परन्तु इसे लड़कियों के लिए अनिवार्य विषय नहीं ब्रनाना चाहिए संगीत एवं ललित-कलाओं के शिक्षण की व्यापक व्यवस्था होनी चाहिए। विज्ञान एवं गणित के शिक्षण को भी प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

4. विश्वविद्यालय स्तर पर नारी शिक्षा :

क) छात्राओं के अनुपात में वृद्धि : इस समय उच्च शिक्षा में पुरुषों तथा नारियों में 1:4 का अनुपात है। विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षित नारियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यह अनुपात बढ़ाकर 1:3 हो जाना चाहिए। इसके लिए छात्रवृत्तियों तथा उचित होस्टल-सुविधाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए।

ख) अण्डर-ग्रेजूएट स्तर पर पृथक् कालेज : स्थानीय मांग के कारण अण्डर ग्रेजूएट स्तर पर महिलाओं के लिए पृथक् कोलज स्थापित किये जा सकते हैं। परन्तु पोस्टग्रेजुएट स्तर पर पृथक-कालेज स्थापित करना आवश्यक नहीं।

३. कोर्सों को अपनाने में स्वतन्त्रता : नारियों को कला, विज्ञान, टैक्नॉलोजी आदि कोर्सों को चुनने में स्वतन्त्रता होनी चाहिए। गृह विज्ञान, नर्सिंग, शिक्षा, सामाजिक कार्य आदि विषयों को विकसित करने की आवश्यकता है। क्योंकि

अधिकांश लडकियाँ इन्हीं विषयों की ओर आकर्षित होती हैं। व्यापार, प्रशासन एवं प्रबन्ध के उच्च प्रशिक्षण की भी सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए।

4. अनुसन्धान विभाग : एक या दो विश्वविद्यालयों में विशिष्ट रूप से नारी शिक्षा सम्बन्धी अनुसन्धान विभाग स्थापित करने चाहिए।

5. अध्यापिकाएं :

क) **नियुक्ति को प्रोत्साहित करना :** शिक्षा के सभी स्तरों पर अध्यापिकाओं की नियुक्ति को प्रोत्साहित करना चाहिए।

ख) **आवास स्थान :** विशेष रूप से देहातों में आवासस्थानों की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए।

ग) **संयुक्त कोर्स :** केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा आयोजित प्रौढ़ नारियों के लिए संयुक्त कोर्सों को विस्तुत करना चाहिए।

घ) **पत्राचार कोर्स :** पत्राचार कोर्सों द्वारा शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं में वृद्धि करनी चाहिए।

ङ) **विशेष भत्ते :** जहां आवश्यक हो वहां देहाती इलाकों में काम करने वाली अध्यापिकाओं को विशेष भत्ते देने चाहिए।[1]

राष्ट्रीय नारी शिक्षा परिषद् की 12 वीं सभा के सुझाव– देश में नारी शिक्षा की प्रगति पर विचार करने के लिए राष्ट्रीय नारी शिक्षा परिषद् की 12वीं सभा अप्रैल, 1970 में हुई। नारी–शिक्षा की प्रगति को तेज करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये गये–

क) **अध्यापिकाओं की नियुक्ति :** पहली से पांचवीं कक्षाओं के लिए अध्यापिकाओं की नियुक्ति पर विशेष बल देना चाहिए।

ख) **साक्षरता के कार्यक्रम :** नारियों की साक्षरता के कार्यक्रमों को गम्भीर बनाना चाहिए और तद्सम्बन्धी पाठ्य–सामग्री मे राष्ट्रीय एकता एवं विकास की शिक्षा सम्मिलित होनी चाहिए।

ग) **होस्टल :** सैकण्डरी स्तर पर लड़कियों के लिए होस्टल बनाये जाने चाहिए।

घ) **पृथक्–सैल :** लड़कियों की शिक्षा की देखभाल के लिए शिक्षा निदेशालय में एक पृथक् सैल की स्थापना होनी चाहिए।[2]

---

1. क) आ० भा० शि० स० – जे० एस० वालिया पृ०482 – 485
   ख) भा० शि० स० – पी० डी० पाठक पृ० 463 – 478
2. आ० भा० शि० स० – जे० एस० वालिया पृ० 485

नीति का क्षेत्र तथा पद्धति

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में इस बात की परिकल्पना की गई है कि शिक्षा को महिलाओं के स्तर में आधारभूत परिवर्तन करने के लिए एक साधन के रूप में प्रयोग किया जायेगा। राष्ट्रीय शिक्षा नीति:-

(i) महिलाओं को अधिकार दिलाने में प्रभावी हस्तक्षेप वाली भूमिका निभायेगी। (ii) नये सिरे से तैयार की गई पाठ्यचर्या तथा पाठ्य-पुस्तकों के माध्यम से नये मूल्यों के विकास के प्रति योगदान करेगी तथा (iii) महिलाओं के शिक्षण को विभिन्न पाठ्यक्रमों के रूप में प्रोन्नत करेगी। लक्ष्यों तथा कार्यान्वन्य रूप में प्रोन्नत करेगी। लक्ष्यों तथा कार्यान्वयन पद्धति की मुख्य बातों में निम्नलिखित शामिल होंगी।

क) महिलाओं को अधिकार दिलाने में प्रभावी हस्तक्षेप वाली भूमिका निभाने के लिए पूरी शिक्षा प्रणाली को अनुकूल बनाना।

ख) विभिन्न पाठ्क्रमो के रूप में महिला शिक्षण को बढावा देना तथा महिलाओं के विकास के लिए सक्रिय कार्यक्रम चलाने के हेतु शैक्षिक संस्थानों को प्रोत्साहन।

ग) व्यावसायिक तकनीकी तथा वृत्तिक शिक्षा के कार्यक्रमों में महिलाओं के प्रवेश को व्यापक बनाना।

घ) परिकल्पित लक्ष्यों को पूरा करने के लिए सक्रिय प्रबन्धकीय संरचना सृजित करना।

आचार्य राममूर्ति समिति (1990) ने नई शिक्षा नीति और कार्य योजनता की समीक्षा स्त्री शिक्षा के सन्दर्भ में की है ओर महिलाा शिक्षा में सुधार में सुधार और महिला समानता हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये हैं-

(1) शिक्षा की सुलभता और गुणवता :

अ) जल, ईंधन और चारा - बालिकाओं के कुल समय का 29% समय देहातों में ईंधन एकत्रित करने में ओर 20% समय पानी लाने में लग जाता है। यह बात विशेष रूप से गरीब देहाती परिवारों पर लागू होती है। अतः पानी, ईंधन और चारे को आसानी से सुलभ कराना चाहिए। विशेष रूप से उन क्षेत्रों की बालिकाओं लिए जिनके नामांकन और शिक्षा जारी रखवाने की दर राज्य की औसत दर से कम है।[1]

1. आ० भा० शि० स० - जे० एस० वालिया पृ० 485

ब) शैशवकालीन देखरेख और शिक्षा – जब तक कि 3 वर्ष के बच्चों की देखभाल की पूरे दिन की व्यवस्था नहीं होती तब तक 6–14 आयु वर्ग की बालिकाओं की स्कूल में आने की कोई सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि काफी समय उन्हें अपने छोटे भाई बहनों की देखभाल में लग जाता है। अतः **ECCE** केन्द्रों को प्राथमिक स्कूल के पास स्थापित करना चाहिए।

स) स्कूल की सुलभ व्यवस्था– बालिकाएं स्कूल में प्रवेश लें और पढ़ाई जारी रखें इस के लिए आवश्यक है कि स्कूल की सुविधाएं पास ही सुलभ हों।

द) विद्यालय को गैर औपचारिक बनाना : औपचारिक स्कूल में स्कूली घण्टों और छुट्टी के दिनों में नियम कड़े होने के कारण बालिकाओं के प्रवेश और स्कूल में पढ़ाई जारी रखने मे बाधक होते हैं, क्योंकि बालिकाएं, घर और काफी समय घरेलू कामों में व्यस्त रहती है, औपचारिक पाठ्यचर्या और स्कूल में पढ़ाई के औपचारिक वातावरण के कारण बच्चे स्कूल जाना पसन्द नहीं करते। अतः बालिकाओं की आवश्यकता के अनुसार स्कूल के समय को लचीला रखना चाहिए तथा विद्यालयी समय भी कम देना चाहिए। स्कूल की छुट्टियों को स्थानीय कृषि, मौसम और त्यौहारों के साथ मिलकर चलाना आवश्यक है।

निष्कर्ष : कुछ वर्षों से नारी शिक्षा को सरकारी एवं प्राइवेट क्षेत्रों में बहुत प्रोत्साहन मिल रहा है। विलियमज के शब्दों में 'यह देख कर बहुत प्रसन्नता होती है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् लड़कियों की शिक्षा लड़कों की शिक्षा से अधिक–तेजी के साथ आगे बढ़ी है और माता–पिता ने उनकी शिक्षा में विशेष रूचि दिखाई है। आज की भारतीय नारी अपने साधनों के अनुसार ज्यादा से ज्यादा शिक्षा प्राप्त करने की इच्छकु है उसके लिए शिक्षा सम्बन्धी अवसरों में और अधिक वृद्धि की जानी चाहिए। नारी–शिक्षा से देश की योग्यता में वृद्धि होगी। एक शिक्षित नारी पुरुषों के चरित्र एवं सामाजिक, आर्थिक एवं राष्ट्रीय विकास की सच्ची संरक्षिका है।[1]

---

1. आ० भा० शि० स० – जे० एस० वालिया पृ० 488– 489

उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में स्मृतियों, उपनिषदों, एवं भारतीय शिक्षा की वर्तमान स्थिति में वर्णित शिक्षा सम्बन्धी तत्त्वों को लेकर सामग्री का संकलन एवं विवेचन किया गया है। शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है और सामाजिक परिवेश से परे शिक्षा की कल्पना नहीं की जा सकती । एमील डरखीम का मत है "The Man Whom education should realise in us in not the man such as nature has made him, but as the society wishes him to be..........."

तात्पर्य यह है कि शिक्षा की प्रक्रिया वस्तुतः यह दर्शाती है कि समाज की नव संतति किस प्रकार अपने आप को व्यस्क संतति से और समाज के अतीत से जोडती है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री कार्ल मेनहेम स्वीकार करते हैं कि शिक्षा सामाजिक परिस्थितियों से अलग नहीं होती। व्यक्तियों के संगठित जीवन के स्वरूप की यह आवयश्कता अनिवार्यतः होती है कि वह अपने आगे आने वाली पीढी को भी अपनी ही तरह संगठित जीवन जी सकने की समर्थ्य और योग्यता दे। इस अर्थ में शिक्षा का यह उद्‌देश्य हो जाता है कि वह व्यक्तियों में समायोजन की क्षमता की विकासोन्मुख वृद्धि करे और साथ ही समाज की परिवर्तित होती आवश्यकताओं के साथ समायोजित हो सकने की योग्यता दे।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू कथन है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह संगठित ढंग से आपसी सम्बन्धों का एक स्वरूप विकसित करे। सबसे पहला उसका संगठित संबंधों का स्वरूप हमें परिवार में देखने को मिलता है। क्रमशः समुदाय संगठित स्वरूप का आधार होता है सहयोग, आत्मीयकरण और समायोजन।

शिक्षा का मुख्य उद्‌देश्य होना चाहिए- अन्तरात्मा की इस बात में सहायता करना कि वह अपने अन्तर की अच्छी से अच्छी वस्तु को बाहर लाये और उसे किसी श्रेष्ठ एवं उदार उपयोग के लिए पूर्ण बनाये।

मूलतः एक वस्तु, एकमात्र वस्तु जो अध्यवसाय के साथ करनी चाहिए वह यह है- बालकों को अपने-आपको जानना, अपनी निजी नियति, अपना-अपना मार्ग चुनना, अपने-आपको देखना समझना और संकल्प करना।

विद्यार्थी अपने परिवार के लिए नहीं पढते, कोई अच्छा पद पाने के लिए नहीं पढते, पैसा कमाने के लिए नहीं पढ़ते। सीखने के लिए, जानने के लिए, संसार को समझने के लिए और इससे मिलने वाले आनन्द के लिए पढ़ते है।

शिक्षा को सांझी सूची में नहीं ले जाया जाना चाहिए। चाहे सैद्धान्तिक

तौर पर इसका उस सूची में ले लाना लाभदायक प्रतीत होता है परन्तु ये खतरे से खाली नहीं। भारत जैसे प्रजातांत्रिक देश में शिक्षा का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। जे० पी० नायक का सुझाव है कि केन्द्र का कर्त्तव्य हैं कि वह स्वतन्त्रता का उल्लंघन किये बिना देश के लिए उचित शिक्षा नीतियां बनाए। केन्द्रीय ढांचे की अधिक लचक को सामने रखते हुए केन्द्र की एक निश्चित जिम्मेदारी है कि वह राज्य को वित्तीय सहायता देकर शिक्षा की सुविधाओं का प्रसार तथा सुधार करे।

भारतीय संस्कृति में जिस प्रकार वेद संस्कृति के आधार ग्रन्थ हैं, उसी प्रकार स्मृतियां भी संस्कृति के आधार एवं प्रामणिक ग्रन्थं हैं। श्रुति वेद हैं और स्मृतियां धर्मशास्त्र हैं। इन दोनों से ही धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है। सभी विषयों में इनकी प्रामाणिकता अकाट्य एवं असंदिग्ध है। प्राचीन ऋषियों ने जिन प्राचीन परम्पराओं आदि को आत्मसाक्षात्कार के द्वारा स्मरण किया, उन्हें स्मृति नाम दिया गया। स्मृति एक प्रकार से प्राचीन परम्पराओं एवं आचार शास्त्र का मूर्त रूप है।

वेदों के पश्चात् स्मृतियों को ही धर्म का आधार माना गया है। वेदों और स्मृतियों में कहे गए धर्म का पालन करने वाले को इस संसार में यश मिलता है और परलोक में अनुपम सुख। स्मृतियों में आचार शिक्षा, व्यवहार, नीति, कर्मविज्ञान और सांस्कृतिक जीवन के सभी तत्वों का विस्तृत विवेचन हुआ है। स्मृति ग्रन्थों के बिना कर्त्तव्य अकर्त्तव्य, ग्राह्य अग्राह्य, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, आचार-अनाचार, आदि का ठीक ज्ञान नहीं हो सकता है। स्मृतियों की संख्या कालक्रम से बढ़ती गयी है। सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य ने बीस स्मृतिकारों और स्मृतियों का उल्लेख किया है।

प्राचीन समय में शिक्षा प्रकाश का स्रोत मानी गयी थी, जो विभिन्न क्षेत्रों में सच्चे मार्ग का प्रदर्शन करती है विद्या हमें परलोक में मोक्ष दिलाती है तथा इस संसार में समृद्धि और प्रगति। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष होता है अन्यान्य अभान्य प्रकार के विधि-विधानों से मनुष्य का जीवन संयमित और सुव्यवस्थित होता है इससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। स्नातक को समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। शिक्षा से मस्तिष्क और बुद्धि प्रखर होती है।

शिक्षण-प्रक्रिया मे मनु ने अध्ययन के विषयों में वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा वेद के छः अंगों(शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, ज्योतिष और छन्दशास्त्र) का उल्लेख किया है। याज्ञ० ने 14 विद्याओं का उल्लेख किया है। 14 विद्याएं हैं- 4 वेद, 6 वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। अध्ययन के क्षेत्र में वेदाध्ययन का एक विशिष्ट स्थान रहा है। जिसे सामान्य रूप से सामान्य जन ग्रहण नहीं कर सकता था। वेदाध्ययन का तात्पर्य केवल मन्त्रों को कण्ठस्थ कर लेना नहीं, प्रत्युत अर्थ भी समझना है। वेदाध्ययन किए हुए व्यक्ति को बुद्धिमान

समझा जाता है। वेदाध्ययन से युक्त मनुष्य सदाचारी, शिष्ट एवं स्वस्थ होता है, इसी से उसे वैभवयुक्त पृथ्वी मिल जाती है और संसार आनन्दमय हो जाता है। वेद की शिक्षा में मोक्ष का उपदेश मिलता है, जिसके पश्चात् न सत् है न असत् और न सदासत्। वेदाध्ययन में पाचं बातें पाई जाती हैं-वेद को कण्ठस्थ करना, इसके अर्थ पर विचार करना, बार-बार दुहराकर सदा नवीन बनाए रखना, जप करना एवं दूसरे को पढ़ाना।

प्राचीन की शिक्षा पद्धति में उपनयन का एक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान था जिसके माध्यम से विद्यार्थी के मानसिक एवं भौतिक विकास के लिए मार्ग सुनिश्चित किए गए थे। आचार्य अपने सावित्री अथवा समावर्त्तन उपदेश में आचार तत्वों को लेकर विद्यार्थी से परिचर्चा करते थे। विद्यार्थी समाज के सुदृढ स्तम्भ हैं अतः मानसिक शुद्धि एवं संकल्प से उन्नत दिशा की ओर अग्रसर करते हैं।

उपनयन संस्कार में आयु, यज्ञोपवीत, वस्त्र-दण्ड-मेखला, भिक्षा आदि। उपनयन शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी को ग्रहण करने के अर्थ में किया जाता है। ब्रह्मचारी स्वयं अपने को आचार्य के पास उपस्थित करता है, तब आचार्य उसे अपना ब्रह्मचारी बनाता है, आचार्य उपनयन संस्कार के समय अपने ब्रह्मचारी के लिए जल और औषधियों को अर्पित करता है। आचार्य ब्रह्मचारी को सब भूतों के कल्याण के लिए समर्पित करता है, ऐसा करने से वह किसी विपत्ति में नहीं पड़ता है।

उपनिषदों एवं स्मृतियों के अनुसार उपनयन संस्कार की अंतिम सीमा ब्राह्मण के लिए 8 वर्ष, क्षत्रिय के लिए 11 वर्ष और वैश्य के लिए 12 वर्ष थी।

'यज्ञोपवीत' यज्ञ के समय धारण करने वाले वस्त्र से है। 'यज्ञाय उपवीतं यज्ञोपवीतम्।' वेदाध्ययन और ज्ञानाधिक्य प्राप्ति आदि तेज के लिए ब्राह्मण बालक का गर्भ से पांचवे वर्ष, हाथी-घोड़ा और पराक्रम आदि प्राप्ति के लिए क्षत्रिय बालक का गर्भ से छठे वर्ष में और अधिक धन तथा खेती आदि की प्राप्ति के लिए वैश्य बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में 'यज्ञोपवीत संस्कार' करना चाहिए। यज्ञोपवीत अद्वैतयुक्त आत्मज्ञान होता है उसकी शिक्षा ध्यान निष्ठा रूप होती है और व्यक्ति कर्मो से पवित्र हो जाता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य ब्रह्मचारी के लिए वस्त्र क्रम से पटुआ के सूत का, सन के सूत का एवं मृगचर्म का होता था।

गायत्री मन्त्र जान लेने के बाद विद्यार्थी ज्ञान के पथ पर अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है। प्राचीनकाल में दण्ड यात्रा का प्रतीक समझा जाता था, इसलिए उसे एक दंड दे दिया जाता था, दंड धारण के अवरर पर ब्रह्मचारी भगवान् से

प्रार्थना करता था कि इस दुर्गम पथ पर मेरी यात्रा मंगलमय हो।

मेखला में तीन डोरें होती हैं, इस प्रतीक का तात्पर्य होता है कि विद्यार्थी को यह विश्वास दिलाना कि वह सर्वदा तीन वेदों से आवृत्त है। प्राचीन भारत में भिक्षा मांग कर पेट चलाना विद्यार्थी का धर्म माना गया था। कुछ ग्रन्थों में तो यहां तक कहा गया है कि विद्यार्थी के लिए सुबह शाम दोनों समय भिक्षा मांगना अनिवार्य है क्योंकि विद्यार्थी के लिए दोपहर के समय भिक्षा में प्राप्त भोजन से पवित्र दूसरा कोई भोजन नहीं है।

वर्तमान शिक्षा से हमारा अभिप्राय जैसा कि ड्यूबी ने लिखा है- औपचारिक अथवा संस्थागत शिक्षा" से है। यों तो हमको अपने जीवन में जन्म से मृत्यु पर्यन्त प्रतिक्षण शिक्षा प्रापत होती है। ज्ञात एंव अज्ञात रूप में हम कुछ न कुछ सीखते रहते हैं। पर यह स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति के व्यवहार की उस समाज पर जिसका वह सदस्य है, महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रियाएं होती हैं।

इस सम्बन्ध में नन का कथन है "शिक्षा की प्रत्येक योजना आधारभूत रूप में एक व्यवहारिक दर्शन होने के कारण आवश्यक रूप से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को स्पर्श करती है अतः शिक्षा के कोई भी उद्देश्य जो निश्चित पथ-प्रदर्शन के लिए पर्याप्त रूप से यथार्थ होते हैं, जीवन के आदर्शों से सह-सम्बन्धित होते हैं।

शिक्षा ज्ञानरूपी प्रकाश का स्रोत है। शिक्षा प्रकाश का वह स्रोत है जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हमारा सच्चा पथ प्रदर्शक है, शिक्षा द्वारा हमारे संशयों का उन्मूलन एवं कठिनाईयों का निवारण होता है तथा विश्व को समझने की क्षमता प्राप्त होती है। "ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्त तत्वार्थ विलोक दक्षम्।" दो नेत्रों के देखने से जो अपूर्ण रह जाता है वह विद्या रूपी तृतीय नेत्र से देखा जाता है। एक वनस्पतिविज्ञानी, कविं तथा अनपढ तीनों के देखने में अन्तर है। बिना विद्या के मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं। "विद्याविहीन : पशुः समान्ः।" अर्थात् विद्या से ही मानवता के गुणों का विकास सम्भव है, नहीं तो पशु का पशु ही रह जायेगा जिसका उद्देश्य मात्र उदर-पूर्ति होता है।

पेनुनजियो के कथनानुसार- "उन प्रथागत विधियों तथा क्षमताओं के ज्ञान को सम्प्रेषित करना जिनको समाज अपने दीर्घ जीवन और प्रगति के लिए अनिवार्य समझता है।"

शिक्षा व्यक्ति को जीवन के लिए इस प्रकार तैयार करती है, जिससे कि उसके हितों का समाज के हितों के साथ न्यूनतम संघर्ष हो, और जिससे कि वह समाज के आदर्शों के अनुसार अपने जीवन को व्यतीत कर सके और साथ

ही उन आदर्शों का उन्नयन करके समाज के स्वस्थ तथा वांछित विकास में योग प्रदान कर सके। समनर के अनुसार- "शिक्षा के द्वारा मनुष्य यह सीखता है कि कौन सा आचरण समाज के द्वारा स्वीकृत अथवा अस्वीकृत है।"

शिक्षा से हमारा अभिप्राय औपचारिक अथवा संस्थागत शिक्षा से है। व्यक्ति को उसके प्रारम्भिक जीवन के कतिपय वर्षो में शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए जिससे कि वह समाज से अथवा अनुकूलन कर सकें एवं समाज की सेवा भी सकें।

विज्ञान की प्रगति ने मानव-जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी, जिसके परिणाम स्वरूप लोगों ने आधुनिक जीवन की तैयारी के लिए साहित्यिक शिक्षा को अनुपयुक्त समझा। शिक्षा में वैज्ञानिक प्रवृत्ति का अर्थ है- शिक्षा के पाठ्यक्रम में विज्ञानों और शिक्षा विधि में वस्तु परक शिक्षण, इन्द्रिय-प्रशिक्षण, निरीक्षण आदि पर बल देना जिससे बालक भविष्य में पूर्ण जीवन व्यतीत करने में सफल हो सकें।

धार्मिक और नैतिक शिक्षा को समान रूप से ही देखा जाताहै नैतिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य संवेगात्मक शक्तियों को समुचित रूप से विकसित एवं नियंत्रित करना है। इससे छात्रों में सदाचारिता, कर्त्तव्य परायणता, सामाजिकता तथा उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। इससे बन्धुत्व एवं प्रेम की भावना का सृजन होता है जिससे हमारे दैनिक व्यवहार प्रभावित होते हैं।

वर्तमानकालीन शिक्षा में छात्र-अनुशासन, शिक्षक शिष्य संबंध, शिक्षण एवं अर्थव्यवस्था तथा प्रौढ़ शिक्षा का वर्णन है। जीवन में अनुशासन का बहुत महत्त्व है। इसके अभाव में मानव प्रकृतिदत्त शक्तियों का उचित प्रयोग नहीं कर सकता है। अनुशासन द्वारा ही व्यक्ति अच्छी शक्ति प्राप्त करता है और इस शक्ति से वह अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों का विकास करने में समर्थ होता है।

गुरु शिष्य का सम्बन्ध बहुत कुछ स्नेहपूर्ण तथा सौमनस्य से युक्त है। गुरु की सेवा करना, उनकी आज्ञा का पालन करना शिष्य का कर्त्तव्य है और गुरु का अधिकार है ऐसे ही शिष्य का अज्ञानान्धार मिटाना, उसे परमात्म तत्व का अनुभव कराना गुरु का कर्त्तव्य है। और शिष्य का अधिकार है।

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के निर्माण में प्राथमिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राथमिक शिक्षा की नींव पर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की प्रगति के भवन तथा बहुमंजिली इमारतों एवं अट्टालिकाओं के रूप में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एंव वैज्ञानिक प्रगति निर्भर करती है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार- "राजनीति उस समय तक विफल रहेगी जब तक सभी भारतीय को शिक्षित नहीं कर लिया जाता है।"

माध्यमिक शिक्षा का समय विद्यार्थी की किशोरवस्था का समय होता है। इस समय वह महत्त्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक और उद्वेगात्मक परिवर्तनों से ग्रसित होता है। माध्यमिक विद्यालय का विद्यार्थी न बालक है, न बड़ा और न तेजी से एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुंच रहा है। छोटे बच्चों की तरह वह दूसरों पर निर्भर भी नहीं तथा कालेज के विद्यार्थियों की तरह आत्मनिर्भर भी नहीं है। वह वर्तमान मूल्यों को सन्देह की दृष्टि से देखता है तथा उसका मन स्थायी रूप से बेचैन और बागी है एक विचित्र आदर्शवाद से ग्रसित तथा संसार का पुनर्निर्माण अपनी इच्छा के अनुसार करना चाहता है।

आधुनिक भारत में दिखाई देने वाली उच्च शिक्षा की व्यवस्था- अंग्रेजों की देन है और उसका हमारे देश की प्राचीन परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रौढ़ शिक्षा वह है जो वयस्कों को दी जाती है। यह निरक्षर लोगों को साक्षर बनाती है। पढ़ना-लिखना तथा गिनने का ज्ञान कराना इसका मुख्य कार्य है। प्रौढ शिक्षा का उद्देश्य केवल वयस्कों को साक्षर बनाना मात्र नहीं है वह सभी प्रकार की शिक्षा आती है जो प्रत्येक नागरिक को जनतान्त्रिक व्यवस्था का विवेकपूर्ण सदस्य बनाती है। मॉरगन, होम्स व बंडी के अनुसार- "प्रौढ शिक्षा किसी नई बात को सीखने के लिए प्रौढ़ व्यक्ति का जान-बूझकर किया जाने वाला प्रयास है।"

विश्व की लगभग सर्व सभ्यताओं के इतिहास का अध्ययन करते समय हम जितने प्राचीनकाल की ओर जाते हैं, नारी समाज में उतना ही संतोषजनक स्थान पाते हैं, किन्तु हिन्दू सभ्यता इस दृष्टि से अनोखी है क्योंकि इसमें हम सामान्य नियम में अपवाद के दर्शन करते हैं । जितने ही हम प्राचीनकाल में जाते हैं, हिन्दू समाज मे अनेक दृष्टियों से नारी क़ा स्थान उतना ही महत्त्वपूर्ण दृष्टिगत होता है। शिक्षा का क्षेत्र तो विशेषतया दर्शनीय है। इस अद्भुत घटना के रहस्य को हम भली प्रकार समझ सकते हैं। यदि हम इसे स्मरण रखें कि सुदीर्घ काल तक भारत में शिक्षा से तात्पर्य वैदिक शिक्षा से ही था तथा जो यज्ञों में सम्मिलित होते थे उन्हें बिना किसी लिंग भेद के वैदिक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी।

स्मृति एवं उपनिषद्कालीन प्राचीन भारतीय सभ्यता पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है। कि नारी शिक्षा के अन्तर्गत सुसभ्य एवं सुसंस्कृत समाज के निर्माण के लिए नारी शिक्षा की महत्ता वर्णित है। वैदिककाल में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही उच्चकोटि की वैदिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। वैदिककाल में भारतीय नारी पुरुषें के समान शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। ब्राह्मण कन्याओं को वैदिक ऋचाओं की शिक्षा दी जाती थी। जबकि क्षत्रिय कन्याओं को तीर कमान का शिक्षण दिया जाता था। वैदिक काल में मैत्री, गार्गी, लोपा, मुद्रा आदि विख्यात

नारियों का नाम आता है जिन्होंने वैदिक ऋचाओं की रचना की थी। पुरातन एवं नवीन युग में जीवन के हर क्षेत्र में नारी शिक्षा का बहुत बडा योगदान रहा है। इतिहास इसका साक्षी है।

आलोच्य काल में नारियों के लिए किसी प्रकार की पाठशाला का पृथक प्रबन्ध किया गया हो ऐसा वर्णन प्राप्त नहीं होता। बौद्धों ने अपने विहारों में भिक्षुणियों की शिक्षा व्यवस्था की थी किन्तु कालान्तर में उसके भी उदाहरण प्राप्त नहीं होते। वस्तुतः कन्याओं के लिए पृथक् पाठशालाएं न थी जिन कन्याओं को गुरुकुल में अध्ययन करने का अवसर प्राप्त होता था वे पुरुषों के साथ ही अध्ययन करती थीं।

वर्तमान युग में नारी की स्थिति दिन प्रतिदिन प्रशांसनीय रूप से उन्नत होती जा रही है। आज की नारी शिक्षा के सर्वोच्च क्षेत्र में अध्ययन कर रही है, वह विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य कर रही है, सैन्य शिक्षा भी वह प्राप्त कर रही है। अध्यापिका, राजकीयकर्मचारी, व्यापार से लेकर संसदीय क्षेत्र में नारी ने स्थान प्राप्त कर लिया हैं सभी क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करके उसने दिखा दिया है कि प्राचीन काल की भारतीय नारी में जो गुण विद्यमान थे, नारी ने उन्हें अभी तक खोया नहीं है यद्यपि दे कुछ समय के लिए क्षीण पड़ गए थे, साथ ही नारी के इस अभ्युत्थान का श्रेय पूर्ण रूप से पुरुष को ही प्राप्त होता है क्योंकि उसी के सतत प्रयत्नां से आज की नारी स्वच्छन्द वातावरण में जा रही है।

मानव जीवन को नारी की देन एक अत्युत्तम प्रक्रिया है, शिशु का पालन नारी पर निर्भर करता है, आज का शिशु कल का सामाजिक स्तम्भ है। यदि नारी सुशिक्षित होगी, शुद्ध आचार से युक्त होगी तभी वह शिशु को एक सशक्त मानव का रूप दे पाएगी अतः नारी शिक्षा पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

सहायक ग्रंथ

क्रमांक	ग्रंथ का नाम	लेखक/सम्पादक का नाम	प्रकाशक, स्थान एवं संस्करण	
1.	अमरकोश	मोतीलाल बनारसीदास	वाराणसी	1966-68
2.	अथसंवर्तस्मृति	अष्टादश स्मृति (भारत बन्धु यन्त्रालय)	अलीगढ़ प्र०	सं० 1891
3.	अग्निपुराण	डा० धनश्याम त्रिपाठी डॉ प्रभात मिश्र शास्त्री	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना	1900
4.	अर्थशास्त्र	गणपतिशास्त्री	त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज	
5.	अत्रि स्मृति	अष्टादश स्मृति (भारत बन्धु यन्त्रालय)	अलीगढ़ प्र०	सं० 1891
6.	अथर्ववेद	सायण भाष्य	निर्णय सागर प्रेस बम्बई	1895.
7.	अथर्वशिरोपनषिद्	पं० श्रीरामशर्मा आचार्य	संस्कृत संस्थान बरेली	1971.
8.	अष्टादश स्मृति	पं० मिहिरचन्द	जवाहर नगर नई दिल्ली	1891.
9.	आपस्तम्ब धर्मसूत्र	डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी,	1969
10.	आरूण्योपनिषत्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृत संस्थान बरेली	1971
11.	आश्वलायन गृह्यसूत्र	गार्ग्ययनारायणीय आनन्दचन्द्र	वेदान्तवागीरा कलकत्ता	1869.
12.	ईशावास्योपनिषत्	डॉ पुरूषोत्तम शर्मा	अभिमन्यु पब्लिकेशन्स टी गार्डन, कटडा बैष्णों देवी	
13.	ऋग्वेद	स्वामी दयानन्द	दयानन्द संस्थान दिल्ली-	2032
14.	ऐतरेयोपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृत संस्थान बरेली,	1971
15.	ऐतरेय आरण्यक	डॉ० सत्यंव्रत शस्त्री आचार्य एवं अध्यक्ष	संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय	1965.
16.	आशैनस स्मृति	अष्टादश स्मृति (भारत बन्धु यन्त्रालय)	अलीगढ़ प्र०	सं० 1891
17.	कठोपनिषद्	डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा	जमुना पाठक वाराणसी,	1974
18.	कात्यायन स्मृति	स्मृतियां समुच्चय हरि नारायण आप्टे	आनन्दाश्रम प्रैस	1905
19.	कुंडिकोपनिषत्	पं० श्री राम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली	1976
20.	केनोपनिषत्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली	1971
21.	कौण्डिण्य स्मृति	विद्याभूषण पं० जगन्नाथ शास्त्री	वी० वी० आर० आई० प्रैस, होशियारपुर,	2021
22.	गर्भोपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली	1971
23.	गायत्री उपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली	1971
24.	गोपथ ब्राह्मण	आचार्य डॉ० प्रज्ञा देवी डॉ० इन्द्र दयाल सेठ	लूकटगन्ज, इलाहाबाद	1967.

25.	गोभिल गृह्यसूत्र		
26.	गौतम धर्मसूत्राणि	डॉ॰ उमेश चन्द्र पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी-2023.
27.	छान्दोग्योपनिषद्	पं॰ श्रीराम आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ॰ प्र॰) 1972
28.	जातक संहिता	भदन्त आनन्द कौसल्लायन	हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग - 2013.
29.	जावालोपनिषद्	पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली(उ॰ प्र॰)1976
30.	तैत्तिरीय आरण्यक	सं॰ हरिनारायण आप्टे	पूना, 1868.
31.	तैत्तिरीय उपनिषद्	पं॰ श्रीपाददामोदर सातवलेकर	साध्याय मंडल पारडी, आन्नदाश्रम- 2013.
32.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृत संस्थान कुतुव वेदनगर बेरली
33.	तैत्तिरीय संहिता	श्रीपाददामेदर सातवलेकर	बसन्त श्रीपादसातवेलकरपारडी, सूरत 1957.
34.	दक्षद्वयोपनिषत्	पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ॰ प्र॰) 1971
35.	नारद परिव्राजको पनिषद्	पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ॰ प्र॰) 1976
36	नारदस्मृति	नारायण चन्द्र पी॰ सी॰ लहरी	संस्कृत कालेज कलकत्ता
37.	निरूक्त	दुर्गाचार्य वृत्ति सहित	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी
38.	नीतिशतक	सं॰ एच॰ डी॰ वैद्य	मथुरा 1941.
39..	नृसिंहोत्तर तापनी पनिषद्	पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ॰ प्र॰) 1971
40.	पराशर स्मृति	श्री काशी ज्योतिर्वित्समितिमन्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
41.	परब्रह्मोपनिषद्	पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ॰ प्र॰) 1976
42.	पाणिनी अष्टाध्यायी	हरिदास टीका	चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी 1965
43.	पाणिनी गृह्यसूत्र		वाराणसी
44.	प्रश्नोपनिषद्	शांकरभाष्य सहित	मोतीलाल जालान गीता प्रैस, गोरखपुर
45.	पंचतंत्र		पण्डित पुस्तकालय कांशी 1958.
46.	बृहदारण्यकपनिषद्	पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ॰ प्र॰) 1971
47.	बृहदहारीत स्मृति	अष्टादश स्मृति खेमराज कृष्णदास	श्री वेङ्कटेश्वर स्ट्रीम प्रैस,बम्बई 1846.
48.	बौधायन स्मृति	बीस स्मृतियां पं॰ श्रीराम चन्द्र	संस्कृति संस्थान बरेली आचार्य 1966
49.	बौधायन गृह्यसूत्र	आर॰ शामा शास्त्री	ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट,मैसूर 1982
50.	बौधायन धर्मसूत्र	डॉ॰ उमेश चन्द्र पाण्डेय	चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी-2023
51.	ब्रह्मपुराण	आचार्य बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-2002
52.	ब्रह्मविद्योपनिषत्	पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली (उ॰ प्र॰)1976
53.	बृहत्संहिंता	बराह मिहिरकृत	बिब्लियोथिका इडिका सुधाकर वाराणसी
54.	भगवद्गीता	मधुसूदन सरस्वती	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी 1962.
55.	भिक्षुकोपनिषद्	पं॰ श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली(उ॰प्र॰)1976
56.	भृगु स्मृति	अष्टादश स्मृति खेमराज कृष्णदास	श्री वेङ्कटेश्वर स्ट्रीम प्रैस,बम्बई 1846.
57.	रामायणबाल्मीकि	सं॰ द्वारका प्रसाद शर्मा	रामनारायण लाल बेनी माधव,इलाहाबाद
58.	व्यास स्मृति	अष्टादश स्मृति खेमराज कृष्णदास	श्री वेङ्कटेश्वर स्ट्रीम प्रैस, बम्बई 1846.
59.	वशिष्ट स्मृति	स्मृतियां समुच्चय हरि नारायण	आनन्दाश्रम प्रैस, पुणे आप्टे 1905.
60.	विष्णु स्मृति	पं॰ वी॰ कृष्णाचार्य	अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास 1964

61.	मत्स्य पुराण	राम नारायण दत्त शास्त्री	गीता प्रैस गोरखपुर
62.	मण्डल ब्राह्मणो परिषद्	पं० श्रीरामशर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1976
63.	महाभारत (आदिपर्व)	रामनारायण दत्त शास्त्री	गीता प्रैस, गोरखपुर
64.	मनुस्मृति	रामेश्वर भट्टकृतया	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान जबाहर नगर, दिल्ली 1998.
65.	मार्कण्डेय पुराण	खेमराज कृष्णदास	श्री वेंड्केश्वर, स्टीम प्रैस बम्बई
66.	माण्डूक्योपनिषद्	पं० श्री पाददामोदर सातवलेकर	स्वाध्यायमंडल आनन्दाश्रम, सूरत 1952.
67.	मुण्डकोपनिषद्	पं० श्री पाददामोदर सातवलेकर	स्वाध्यायमंडल आनन्दाश्रम, किल्ला पारडी 2008..
68.	मुद्गलोपनिषत्	पं० श्रीरामशर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1971
69.	याज्ञवल्क्योपनिषत्	पं० श्रीरामशर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1971
70.	याज्ञवल्क्य स्मृति	महर्षि याज्ञवल्क्य डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1967.
71.	योगतत्वोपनिषत्	पं० श्रीरामशर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1976
72.	लघुआश्वलायन स्मृति	स्मृतियां समुच्चय हरि नारायण	आनन्दाश्रम प्रैस पुणे आप्टे
73.	श्वेताश्वेतरोपनिषत्	डॉ० तुलसीराम शर्मा	अमर प्रिंटिंग प्रैस,विजयनगर
74.	शतपथ ब्राह्मण	स्वामी सत्यप्रकाश	गोविन्दरामहासानन्द दिल्ली
75.	शंख स्मृति	अष्टादश स्मृति खेमराज कृष्णदास	श्री वेड्केटेश्वर स्ट्रीम प्रैस, बम्बई - 1846.
76.	शांखयायन गृह्यसूत्र		दिल्ली, 1960.
77.	शाट्यायनीयोपनिषत्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली
78.	शान्तिपर्व		
79.	शुक्ररहस्योपनिषत्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1971.
80.	स्मृतिचन्द्रिका	वेदण्ण भट्ट	जगन्नाथ रघुनाथ धर्मपुरे बम्बई 1918
81.	सुबालोपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली 1976.
82.	हारीत स्मृति	स्मृतियां समुच्चय हरि नारायण	आनन्दाश्रम प्रैस, पुणे 1905.
83.	हितोपदेश	सं० काशीनाथ पाण्डुरंगपरबृ	बम्बई
84.	हिन्दू संस्कार	डॉ० राजबली पाण्डेय	वाराणसी
85.	क्षुरिकोपनिषद्	पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान बरेली
86.	श्रीमद्भगवद्गीता	महर्षि वेदव्यास	गीता प्रैस, गोरखपुर, 1902
87.	अष्टांगसूत्रस्थान	पं० खेम राज दास	श्री वेकटेश्वर सटीम यन्त्रालय मुम्बई 1964

88.	अभिज्ञानशाकुन्तलम्	कालिदास	साहित्य भण्डार सुभाष 1979
89.	आधुनिक भारतीय शिक्षा और समस्याएं	डॉ० बी० बी० अग्रवाल	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, संस्करण तृतीय
90.	आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास	आंचार्य प्रियव्रत शर्मा	चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1981
91.	इण्डियन ऐन्टिक्विटी		
92.	उत्तररामचरितम्	भवभूति सं० रतिराम शास्त्री	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली।
93.	उपनिषदों का संदेश	डॉ राधाकृष्णनु	राजपाल एण्ड सन्ज कश्मीरी गेट दिल्ली 1965.
94..	उपनिषदों का तत्त्वज्ञान	डॉ जयदेव वेदालंकार	प्राच्य विद्याशोध संस्थान प्रष्ठिान हरिद्वार, 1980
95.	ऐजूकेशन एन ऐंसियण्ट इंडिया	ए० एस० अल्तेकर	बनारस 1934.
96..	कल्याण शिक्षां	वर्ष 62	गीता प्रेस गोरखपुर
97..	कामसूत्र	श्रीवात्सयायन मुनि प्रणीत हिन्दी टीकाकार डॉ० रामाचन्द शर्मा	कृष्ण दास अकादमी वाराणसी 2054
98.	कुमार सम्भवम्	कालिदास व्याख्यकार पं० गंगाधर शास्त्री भारद्वाज सं०	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, वाराणसी 1966
99..	केनोपनिषद् में जीवन-दर्शन	डॉ बीरबल	शोध प्रबन्ध- 1996.
100.	गुरु-शिष्य सम्बन्ध	डॉ फूलकान्त मिश्र	जवाहर नगर दिल्ली प्रं० सं० 1996
101.	ग्रेंट वुमेन ऑफ इण्डियन		दिल्ली
102.	चरक संहिता	श्री जयदेव विद्यालंकार	मोती लाल बनारणसी दास वाराणसी 1954
103.	दशुकमारचरितम्		बम्बई 1917
104.	द पोजिशन आफ वुमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन	ए० एस० अल्तेकर	द्वि० सं० 1959.
105.	प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन	स्मृतियां समुच्चय हरि नारायण आप्टे	आनन्दाश्रम प्रैस पुणे 1905
106.	प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं	डॉ० कैलाश चन्द्र जैन	हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल द्वि० सं० 1976.
107.	प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति	डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर	नन्दे किशारे एण्ड ब्रदर्स बॉस फाटक वाराणसी

क्र०	ग्रंथ	लेखक	प्रकाशक
108	प्राचीन भारत इतिहास और संस्कृति	बी० जी० गोखले	एशिया पब्लिशिंग हाऊस नयी दिल्ली 1957.
1.09.	बृहत्संस्कार		
110.	भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति	डॉ० कृष्णकुमार	सफदरजंग इन्कलेब नई दिल्ली प्र० सं०
111.	भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं	पी० डी० पाठक	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
112.	भारतीय शिक्षा के विभिन्न	डॉ० रामशुक्ल पाण्डेय	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा नवीनतम् संस्करण
113.	भारतीय शिक्षा का विकास एवं सामयिक समस्याएं	डॉ० मालती सारस्वत एवं डॉ० एल० बी० वाजपेयी	आलोक प्रकाशन इलाहाबाद, 1996
114.	भारतीय शिक्षा की सम-सामयिक समस्याएं	जी० एस० डी० त्यागी एवं पी० डी० पाठक	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा चतुर्थ संस्करण
115.	भारतीय संस्कृति में नारी	डॉ० लता सिंहल	परिमल पब्लिकेशन्स शक्ति नगर दिल्ली प्र० सं० 1991
116.	वर्तमान शिक्षा	हनुमान प्रसाद पोद्दार	गीता प्रैस गोरखपुर 1993.
117.	विक्रमोर्वशीयम्	सं० काले	वाराणसी
118.	विद्यालय प्रशासन संगठन एवं स्वास्थ्य शिक्षा	एस० पी० सुखिया	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा सं० 26
119	महावीरचरितम्		चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी
120.	मालतीमाधवम्	रामकृष्ण गोपाल	संस्कृत सीरीज भण्डारकर बम्बई,
121.	मालविकाग्निमित्रम्	नारायण राम आचार्य काव्यतीर्थ	निर्णयागर मुद्रणालय, मुम्बई
122.	मुद्राराक्षसम्	डॉ० निरूपण विद्यालंकार	सुभाष बाजार, मेरठ
123.	रघुवंश	पं० रामतेजपाण्डेयेन	पण्डिय पुस्तकालय राजा दरवाजा, बनारस
124.	शिक्षा के दार्शनिक तथा	डॉ० एस० एस० माथुर	विनोद पुस्तक मन्दिर आगर नवीनतम संस्करण
125.	शिक्षा के सामान्य-सिद्धान्त	जी० एस० डी० त्यागी एवं पी० डी० पाठक	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा नवीनतम् संस्कार
126.	शिक्षा में प्रयोग तथा समस्याएं	आर० एन० मिश्र	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा 1998
127.	शिक्षा की रूपरेखा	डॉ एच० एस० बैस	बनारस
128.	शिक्षा के मूल आधार	डॉ० शोभा गर्ग	बेनी प्रसाद इलाहाबाद

129.	शिक्षा सिद्धान्त	श्रीउमाशंकरश्रीवास्तव डॉ० जायसवाल तथा कु० सक्सेना	बेनी प्रसाद इलाहाबाद प्रथम संस्करण
130.	स्मृतियों में नारी	डॉ० भारती आर्य	विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर 1989.
131.	स्मृति कालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति	डॉ० राजदेव दूबे	प्रतिभा प्रकाशन शक्तिनगर दिल्ली 1988.
132.	स्वतन्त्र समाज की शिक्षण पद्धति	डॉ० वि० के० जवली	हिन्दी साहित्य भण्डार अमीनाबाद, लखनऊ।
133.	सत्यार्थ प्रकाश	स्वा० दयानन्द प्रतिनिधि	सार्वदेशिक आर्य सभा-नई दिल्ली।
134.	सफल शिक्षण कला	पी० डी० पाठक एवं जी० एस० डी० त्यागी	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा नवीनतम् संस्करण
135.	सुभाषित रत्न संग्रह		चौखम्बा विश्वभारती, वाराणसी
136.	सुभाषित रत्न भण्डार	खेमराज कृष्णदास	बम्बई सं० 1985.
137.	सोशल आर्गनाइजेशन		
138.	संस्कृत अंग्रेजी कोष	डॉ० एम० मोनियर विलियम	मोतीलाल बनारसी दास जवाहर नगर, दिल्ली
139.	संस्कृत हिन्दी कोष	आप्टे	मोतीलाल बनारसी दास, बनारस
140.	संस्कृत रत्नाकार ,शिक्षांक	चौ० सं० सी० वाराणसी	
141.	संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास	डॉ० ए० बी० कीथ	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली 1960
142.	हिन्दू संस्कार	डॉ० राजबली पाण्डेय	वाराणसी
143.	Education in India, today and Tomorrow	S.N. Mukerji	Acharya Book Depot. Baroda, 1969.



संस्कृत शोध सस्थान, जम्मू

जम्मू-काश्मीर संस्कृत परिषद्, जम्मू

द्वारा संचालित

मुख्य कार्यालयः ४२/११ बरनाई रोड बनतलाव, जम्मू-१८११२३

सम्पर्क सूत्र : ०६४१६१४७०७३, ०६४१६२२१७३५

E-mail : ssshodh@gmail.com, jksanskritsociety@gmail.com